जागे मंगल प्रेरणा

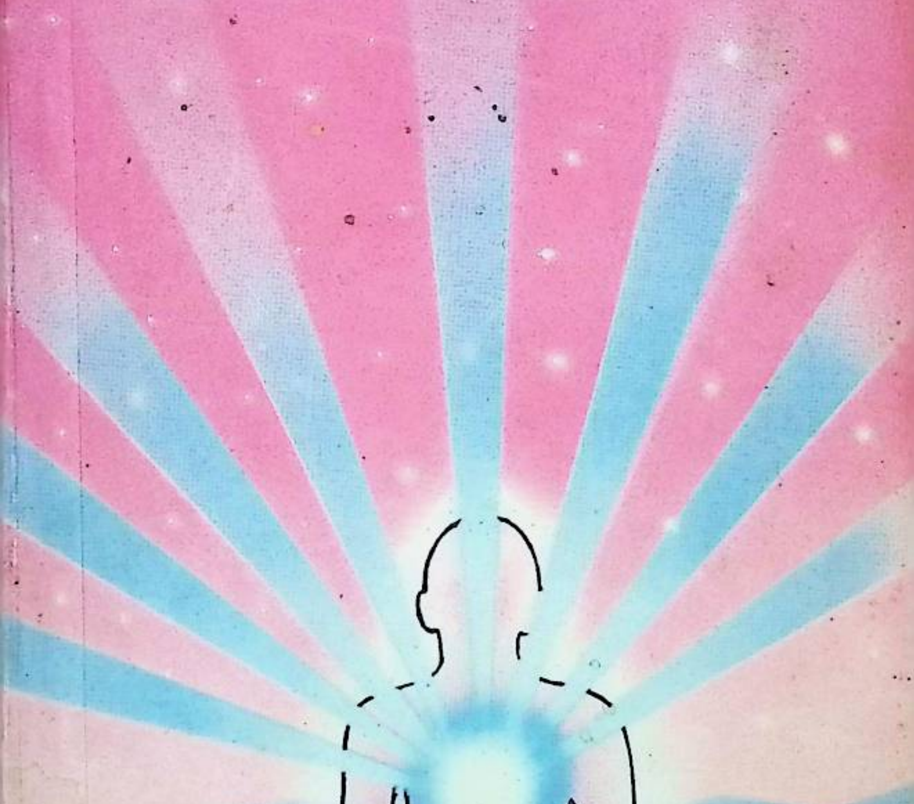

सत्यनारायण गोयनका

जागे मंगल प्रेरणा

(मानव-जीवन के उत्कर्ष के लिए उद्बोधक विचार)

सत्यनारायण गोयनका

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

ISBN 978-81-7309-704-1 (PB)

© सस्ता साहित्य मण्डल

•

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मंडल

एन-77, पहली मंजिल, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001

Publisher

Sasta Sahitya Mandal

N-77, First Floor, Connaught Circus, New Delhi-110 001

फोन / Phone : 23310505, 41523565

Visit us at : www.sastasahityamandal.org

E-mail : sastasahityamandal@gmail.com

manager@sastasahityamandal.org,

शाखा : 124-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद-211003

फोन : 0532-2400034

•

संस्करण : 2012

मूल्य : 100/-

•

मुद्रक : यूनिटेक ग्राफिक पॉइन्ट, नवीन शाहदरा

दिल्ली-110032

प्रकाशकीय

संसार में प्रत्येक प्राणी शांति चाहता है, किंतु वह जानता नहीं कि शांति का मार्ग क्या है। परिणाम यह होता है कि वह निरंतर भटकता है और भटकते-भटकते उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

सस्ता साहित्य मंडल में ऐसी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, जो इस दिशा में पाठकों को बड़ी स्वस्थ और प्रेरणादायक सामग्री प्रदान करती हैं। इन्हीं में से एक पुस्तक है 'आत्म-दर्शन'। इस पुस्तक में विपश्यना-ध्यान-योग की कल्याणकारी विद्या के यशस्वी आचार्य श्री सत्य नारायण गोयन्का के चुने हुए लेख और विपश्यना-शिविर के दस दिनों के प्रवचन हैं। ये लेख और प्रवचन बताते हैं कि शांति का वास्तविक अर्थ क्या है और उसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है।

यह पुस्त्क इतनी लोकप्रिय हुई कि कुछ ही समय में इसके एकाधिक संस्करण हो गये हैं और इसकी मांग बराबर बनी हुई है।

हमें हर्ष है कि उसी श्रृंखला की एक और मूल्यवान पुस्तक पाठकों के हाथों में पहुंची। इसमें अनेक साधकों के जीवन की वे अनुभूतियां दी गयी हैं, जो उन्हें विपश्यना की साधना से उपलब्ध हुई थीं। ये उपलब्धियां किसी भी जाति, धर्म अथवा विश्वास के साथ संबद्ध नहीं हैं। वे सब के लिए और सब समय के लिए दिशा-दर्शक तथा बोधप्रद हैं। अधिकांश प्रसंग इतने रोचक हैं कि उन्हें पढ़ने में कहानी का-सा आनंद आता है। पाठकों के मन पर तो उनकी गहरी छाप छूटती ही है।

प्रसंगों के अतिरिक्त कुछ और भी रचनाएं हैं, लेकिन वे भी विपश्यना अथवा उसके साधकों के जीवन से सम्पकृत हैं। वस्तुतः पुस्तक की संपूर्ण सामग्री मानव-मन के तनाव को दूर करके अंतर में झांकने की प्रेरणा देती है। कहा जा सकता है कि पुस्तक आत्म-चेतना को जाग्रत

करती है और जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने की गहरी अभिरुचि उत्पन्न करती है।

पुस्तक की भाषा बड़ी सरल है, बड़ी सहज है। विषय-प्रतिपादन भी उतना ही सुगम है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक का यह नवीन संस्करण सभी क्षेत्रों में बड़े चाव से पढ़ा जायगा और जो भी इसे पढ़ेंगे, लाभान्वित हुए बिना नहीं रहेंगे।

—मंत्री

भूमिका

बोधिसत्व सिद्धार्थ गोतम पैंतीस वर्ष की अवस्था में सम्यक् सम्बुद्ध बने। उन्हें परमसत्य निर्वाण का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने इस सच्चाई का दर्शन किया कि मैं भवचक्र से नितांत विमुक्त हुआ। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है।

तदनन्तर सात सप्ताह बोधिवृक्ष के आसपास विमुक्तिसुख में बिताए और अपने अनुभव पर उतरी नैसर्गिक सच्चाइयों का प्रत्यवेक्षण करते रहे। किस प्रकार अपनी ही नासमझी के कारण प्राणी निरयलोक से भवाग्र ब्रह्मलोक के बीच जन्म-जन्मांतरों तक भव-भ्रमण करते रहता है। विपश्यना-विद्या द्वारा अपने ही भीतर इस भवचक्र का साक्षात्कार करते हुए इससे मुक्ति पा लेता है। इसी जीवन में नित्य, शाश्वत, ध्रुव परमपद का साक्षात्कार कर लेता है। विपश्यना की इस विद्या ने मुझे विमुक्त किया। इसे जो सीख लेगा वही अभ्यास करते हुए देर-सबेर भवदुख से विमुक्त हो ही जायेगा। यह विद्या इतनी सरल, स्वच्छ और स्पष्ट है तो भी अपनी-अपनी सांप्रदायिक मान्यताओं और कर्मकांडों के जंजालों में उलझे हुए लोग इसे समझना ही नहीं चाहेंगे, इसे आजमाकर देखना तो दूर की बात हुई। कुछ समय तक ऐसा चिंतन चला। फिर उनके भीतर अनंत करुणा का झरना फूट पड़ा। अरे, कुछ लोग तो संसार में ऐसे हैं ही, जिनकी आंखों पर मिथ्या दार्शनिक मान्यताओं के जाले बहुत झीने हैं। वे इन जालों को दूर करके इस विद्या द्वारा नैसर्गिक सच्चाई का यथाभूत दर्शन कर अवश्य अपना कल्याण कर लेंगे। जितनों का हितसुख सधे, उतना ही भला। प्यासी धरती पर करुणा का मेघ-जल बरसना ही चाहिए। प्यासी धरती पर धर्मगंगा बहनी ही चाहिए। जो बहुत उपजाऊ होगी, वह इससे तत्काल लाभान्वित हो जायेगी। जो ऊसर-बंजर होगी, वह इस तत्काल लाभ से वंचित रह जायेगी। पर धर्मगंगा को तो बहना ही चाहिए।

और बह चली धर्मगंगा। जीवन के बचे हुए पैंतालीस वर्ष इस धर्मगंगा

को प्रवाहित करने में ही बिता दिए। सत्य की खोज में नितांत निवृत्तिमान हुआ व्यक्ति अब पूर्णता प्राप्त कर असीम प्रवृत्ति में लग गया। अहर्निश प्रवृत्ति-ही-प्रवृत्ति। रात को लगभग एक प्रहर शरीर को विश्राम देने के लिए लेटते, बाकी सारा समय असीम करुणचित्त से लोकसेवा-ही-लोकसेवा में लगे रहे। इस सेवा के बदले कुछ पाने की भावना नही थी। जिसे अनुत्तर विमुक्त अवस्था प्राप्त हो गयी हो, उसे अब पाने के लिए और क्या रह गया भला! अब तो केवल बांटना-ही-बांटना था और जीवनभर मुक्तहस्त से, करुणचित्त से बांटते-ही-बांटते रहे।

जिस व्यक्ति की जैसी पृष्ठभूमि देखी, जिसका जैसा मानसिक धरातल देखा, जिसकी जितनी ग्रहण-क्षमता देखी, उसे उसकी समझने की शक्ति के अनुरूप ही उचित शब्दावली में, उपमाओं और उदाहरणों में, सरल-सरल लोकभाषा में, धर्म समझाया। सांप्रदायिक धर्म नहीं, सार्वजनीन धर्म, ऋत धर्म। नैसर्गिक नियमों की सीधी-सीधी सार्वजनीन बातें — यह कारण होगा तो यह परिणाम आयेगा ही; यह कारण नहीं होगा तो यह परिणाम भी नहीं आयेगा। मन में विकार जागेगा तो उसके साथ दुःख जागेगा ही। विकार जितना-जितना बढ़ेगा, दुख उतना-उतना ही बढ़ता जायेगा। विकार जागना बंद हो जायेगा तो दुख स्वतः बंद हो जायेगा। निसर्ग का यह सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक नियम। इसी नियम को स्वानुभूति द्वारा जानकर मानस की जड़ों तक विकार-विमुक्त होने की विपश्यना-विधि सिखाई। पैंतालीस वर्षों तक यही सिखाते रहे। दुख सार्वजनीन है और दुख से बाहर निकलने का यह उपाय (विपश्यना) सार्वजनीन है।

प्रत्येक वर्षावास के तीन-चार महीने किसी एक स्थान पर विहार करते। अधिकतर श्रावस्ती या राजगृह जैसे घनी आबादीवाले नगरों के समीप बने हुए विहारों में रहते, ताकि नगर के अधिक-से-अधिक लोग इस मांगलिक विद्या को सीखकर लाभान्वित हो सकें। वर्षावास के बाद बाकी

सारा समय उत्तर भारत के गांव-गांव, निगम-निगम, नगर-नगर में धर्मचारिका करते हुए लोकसेवा करते और लाखों-करोड़ों लोगों को विकार-विमुक्ति की विपश्यना-विधि का संदेश देते, उसका समुचित निर्देशन देते।

देश के हर संप्रदाय के, हर मान्यता के, हर जाति, वर्ग व वर्ण के, हर पेश क, हर प्रदेश के लोग भगवान के संपर्क में आए और उनके बताए मार्ग पर चलकर मंगल-लाभी हुए। इसी जीवन में लाभान्वित हुए।

चाहे मगधनरेश बिम्बिसार हो या कोशलनरेश प्रसेनजित, चाहे महारानी मल्लिका हो या महारानी खेमा, चाहे सेनापति बंधुल हो या सेनापति सिंह, चाहे राजपुरोहित कात्यायन हो या राजवैद्य जीवक, चाहे दानवीर सद्गृहस्थ अनाथपिंडिक हो या भिखमंगा कोढ़ी सुप्पबुद्ध, चाहे राजमहिषी श्यामावती हो या दासी खुज्जुत्तरा, चाहे संन्यासी जटिल काश्यपबंधु हों या परिव्राजक दारुचीरिय, चाहे सद्गृहिणी विशाखा हो या नगरवधू अम्बपाली; चाहे ब्राह्मण महाकाश्यप हो या भंगी सुनीत, चाहे ब्राह्मण सारिपुत्र हो या चांडालपुत्र सोपाक, चाहे सदाचारी सीलव हो या हत्यारा अंगुलिमाल; जो भी भगवान बुद्ध के संपर्क में आया, जिसने भी धर्मगंगा में डुबकी लगाई, जिसने भी विपश्यना-साधना का अभ्यास किया, वही बदल गया।

पैंतालीस वर्षों तक भगवान ने हजारों सदुपदेश दिए। उनके परिनिर्वाण के चंद महीनों के बाद ही उनके पांच सौ प्रमुख भिक्षु शिष्यों की संगायन समिति ने भावी पीढ़ियों के लाभार्थ इन उपदेशों का संकलन-संपादन किया, जो कि त्रिपिटक के नाम से जाना गया। कुछ समय बाद उन पर भाष्य (अर्थकथाएं) और टीकाएं लिखी गयीं। यह सारा साहित्य बहुत विशाल है। यद्यपि भारत ने इसे खो दिया, पर पड़ोसी ब्रह्मदेश ने कल्याणी विपश्यना-विद्या के साथ-साथ इस विशाल वाङ्मय को भी शुद्धरूप में सुरक्षित रखा है।

इस संगायन समिति ने भगवान के उपदेशों को संपादित करते हुए उनमें से अनेकों का संदर्भ भी संकलित किया, याने अमुक उपदेश कब, कहां, किसे, क्यों और किस परिस्थिति-परिवेश में दिया गया। उपदेशों की यह भूमिकाएं उन साक्षी भिक्षुओं द्वारा संकलित किए जाने के कारण ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। यह समस्त साहित्य अब पालि भाषा में, बर्मी लिपि में उपलब्ध है। जब नागरी लिपि और हिन्दी भाषा में प्रकाशित होगा तो देश की एक विलुप्त अनमोल संपदा प्रकाश में आयेगी। इस विशाल साहित्य में तत्कालीन भारत की धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, प्रशासनिक, शैक्षणिक, व्यापारिक, सामाजिक, पारिवारिक अवस्थाओं का आंखों देखा एक वृहद् रंगीन चित्रपट प्रस्तुत होगा। यद्यपि उस संकलन का यह रंचमात्र भी उद्देश्य नहीं था कि उस समय के ऐतिहासिक इतिवृत्त को संपादित किया जाय, उद्देश्य तो केवल यही था कि प्रत्येक भूमिका तत्संबंधित उपदेश के आशय को अधिक स्पष्ट करने और आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करने में सहायक हो। यही कारण है कि सार्वजनीन और सार्वकालिक सनातन धर्म का आधार लिए हुए यह साहित्य आज भी उतना ही तरोताजा और प्रेरणास्पद है।

ऐसी कुछ एक घटनाएं इन लेखों में प्रकाशित हुई हैं। वे विपश्यी साधकों को ही नहीं, सभी अध्यात्म-प्रेमियों को प्रेरणा प्रदान करेंगी। विपश्यना-साधना सार्वजनीन है। इस पर किसी एक संप्रदाय का प्रभुत्त्व नही है। यह सब के लिए समानरूप से उपादेय है, समानरूप से सुलभ है।

भाई श्री यशपाल जैन स्वयं विपश्यी साधक हैं और आध्यात्मिक साहित्य के प्रणेता और प्रकाशक भी। अतः उनका इन लेखों की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था। उनका यह प्रकाशन बहुजन के हितसुख का कारण बने, लोगों में साधना के प्रति प्रेरणा जागे और वे इसका अभ्यास करके दुःख से विमुक्ति पा लें! सबका मंगल हो! कल्याण हो!!

कल्याण मित्र,

स. ना. गो.

अनुक्रम

१ / धर्म-साधना के पावन प्रसंग

१. तपन बुझी १५
२. यह क्षण १९
३. नया संकल्प २१
४. सम्यक् संकल्प २३
५. अपूर्व प्रेरणा २८
६. गिरो और उठो २९
७. अमर निर्वाण की सच्चाई ३१
८. जलधारा रुक गयी ३८
९. चुटकी भर सरसों ४६
१०. वस्त्राभूषण की गठरी ५५
११. वासना-विमुक्ति का मार्ग ६१
१२. अमृतमयी वाणी ६४
१३. मुक्तिदायिनी धर्म-साधना ६५
१४. भंगी से ब्राह्मण ६९
१५. नया जीवन ७४
१६. धर्म-धारणा ७७
१७. सविवेक श्रद्धा ८४
१८. दो अतियों के बीच ८९
१९. अभिलाषाएं पूर्ण हुईं ९५
२०. रूप-गर्विता खेमा १०२
२१. अनमोल भेंट ११०

२ / उदानकथा

१. कल्याण-मार्ग	११७
२. सातत्य	१२५
३. अधिष्ठान	१३२
४. आर्य-मौन	१४०
५. सूक्ष्म-दर्शन	१४९
६. सुखी-सुरक्षित-१	१५७
७. सुखी-सुरक्षित-२	१६३

३ / धर्मचक्र-कथा

१. सम्यक् साधना	१६९
२. धर्मचक्र-प्रवर्तन	१७६
३. मूल उपदेश	१८४
४. लोकचक्र : धर्मचक्र	१९१

४ / सही दर्शन

दर्शन : १ से ७	१९९-२१३

५ / सही वंदना

वंदना : १ से १८	२१७-२५०

६ / सफल जीवन

१. आत्म-निरीक्षण	२५३
२. लोक-कल्याण का पथ	२६०
३. चरथ भिक्खवे चारिकं	२६५
४. देखने में केवल देखना	२७०
५. कथै न होई : कीये होई	२७९
६. सच्ची विजय	२८३
७. मतलब की बात करें	२८८
८. क्या पड़ा है 'नाम' में ?	२९४
९. धन्य विपश्यी !	२९९
१०. यथार्थ की अनुभूति	३०४
११. सफल जीवन	३११

७ / इतिहास के अमर पृष्ठ

१. मगध का भाग्य जागा	३१७
२. शाक्य-राजवंश और शाक्य-संवत्	३२३
३. धन्य हुई वैशाख पूर्णिमा !	३२६
४. बुद्ध-जयन्ती	३३४

भीतर बाहर स्वच्छ हों, करें स्वच्छ व्यवहार।
सत्य, प्रेम, करुणा जगे, यही धर्म का सार॥

धर्म-साधना के

पावनप्रसंग

•

१ / तपन बुझी

जब कोई साधक विपश्यना में गंभीरता से प्रवृत्त होता है तो बहुधा उसे बहुत तप्त संवेदनाओं में से गुजरना पड़ता है। यह ताप मौसम का ताप नही होता, क्योंकि बहुत बार देखा गया है कि शीत ऋतु में अथवा हिमालय में लगे शिविरों में लोग कम्बल और रजाइयां ओढ़-ओढ़ कर साधना करने बैठते हैं, परंतु विपश्यना आरंभ करने के बाद अनेकों को इतनी तप्त गर्मी महसूस होती है कि उन्हें कम्बल और रजाई ही नही, तन पर के कुछ कपड़े भी उतारने पड़ जाते हैं। यह शरीर का भी ताप नही है, क्योंकि साधक को इसका तापमान शरीर के तापमान से कही अधिक महसूस होता है। शरीर का तापमान हो तो लगभग वही तापमान सतत बना रहना चाहिए। पर ऐसा नही होता। कुछ देर के लिए किसी-किसी साधक को ऐसे लगता है जैसे उसका सारा शरीर जलती भट्ठी में झोंक दिया गया है। साधक उस समय साधना बंद कर दे, बहिर्मुखी हो जाय, किसी अन्य प्रवृत्ति में लग जाय तो सारी तपन दूर हो जाती है। साधना शुरू करते ही फिर वैसी ही तपन महसूस होने लगती है। समझदार गंभीर साधक हो तो ऐसे समय इस ताप के प्रति अनित्यबोध और तटस्थभाव बनाए रखता है। इसके प्रति जरा भी प्रतिक्रिया नही करता, तो देखता है कि देर-सबेर सारी तपन समाप्त हो जाती है। परिणामतः बहुत शीतलता महसूस होती है — ऐसी आन्तरिक शीतलता, जैसी पहले कभी नही अनुभव की। न तो यह तपन शरीर की स्वाभाविक तपन है और न मौसम की। ऐसे ही यह शारीरिक शीतलता न शरीर की स्वाभाविक शीतलता है और न मौसम की। यह पूर्व संचित मनोविकारों का ताप है, जो कि तटस्थ स्वभाववाली विपश्यना-साधना के कारण उभरता है और तटस्थता बनाए रखें तो सहजभाव से उसका निरोध हो जाता है, उपशमन हो जाता है। विपश्यना की समता से ही इन पूर्व कर्म संस्कारों की उदीर्णा होती है, निर्जरा हो जाती है, इनका क्षय हो जाता है। इन कर्म-संस्कारों के ताप की जितनी निर्जरा हो जाय, उतनी-उतनी

सुख-शांति साधक महसूस करता है।

उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति तेसं वूपसमो सुखो।

साधना के दौरान अनेक साधकों को इस भीतरी तपन के मारे सारी रात नीद नही आती। साधक नासमझ होता है तो इसकी वजह से व्याकुलता पैदा करके अपने आपको अनिद्रा का रोगी मान लेता है, परंतु यदि समझदारी से तटस्थभाव बनाए रखता है तो यही अंतरतप उसके कल्याण का कारण बन जाता है। पूर्व संचित कर्मबीजों को इस अंतरतप से भून लेता है। उनके भावी अत्यधिक दुखद परिणामों से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है। और जब इस अंतरतप के समापन पर शीतलता महसूस होती है तो साधक सुख की नीद सोता है। ऐसा अनुभव अनेक साधकों को होता ही रहता है।

जो साधक सभी कर्मकांडों और दार्शनिक मान्यताओं के जंजालों को छोड़कर, धीरज के साथ अनन्यभाव से विपश्यना के अभ्यास में लग जाता है, वह और भी गहराइयों से अपने अंतर्मन में दबे हुए गहरे संस्कारों को उभारकर उनका उपशमन करते हुए इंद्रियातीत अवस्था की अनुभूति कर लेता है। अनित्यधर्मा इंद्रियजगत को पार कर नित्य-धर्मा निर्वाण-सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। वाण कहते हैं जलने को। निर्वाण माने वह अवस्था, जहां तृष्णा की जलन समाप्त हो जाय। ऐसी अवस्था में जो शीतलता की अनुभूति होती है, वह सामान्य शीतलता से कई गुना अधिक होती है। ऐसे **तण्हानं खयमज्झगा** की अवस्था को पहुँचे हुए साधक के लिए ही भगवान बुद्ध ने शीतलीभूत या शीतीभूत जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। उसके लिए भव-ताप का नामोनिशान नही रहा।

ऐसी ही एक मुक्त, अर्हंत अवस्था प्राप्त भाग्यशालिनी साधिका की कथा यहां दी जाती है।

लिच्छवी गणराज्य के वैशाली नगर में रहनेवाली एक क्षत्रिय कुल की

सद्गृहिणी थी। धर्म की कल्याणकारिणी वाणी सुनकर मन में वैराग्य जागा, परंतु पति की मनोनुकूलता न देखकर गृहस्थ में रहते पत्नी-धर्म ही निभाती रही। एक दिन रसोई घर में भोजन पकाते हुए जिस हँडिया में शाक पकाना था, उसमें तरल झोल डालना भूल गयी। सूखा शाक, गर्म पेंदे से लगकर जल-भुन गया। गृहिणी-जीवन की यह सामान्य साधारण घटना, उसके लिए कल्याणकारी प्रेरणास्रोत बन गई। उसके मन में बड़ा धर्म-संवेग जागा। अनित्य हैं, अनित्य हैं, सारे संस्कार अनित्य हैं। इसमें आस्वादन का रस न डाला जाय तो ये भी इस शुष्क शाक की भांति जल भुनकर नष्ट हो जाएंगे। अब काम-भोग का रसास्वादन असह्य हो उठा। पत्नी में तीव्र वैराग्य की भावना जागी देख, पति ने इस बार उसका साथ दिया। उसे प्रसन्नतापूर्वक भगवान के आश्रम में छोड़ आया। महाप्रजावती गौतमी ने उसे प्रव्रज्या दी। विपश्यना सिखाई। दृढ़ पराक्रम से साधना करती हुई वह साधिका कृतकृत्य हुई, अर्हंत हुई, वीतराग हुई। साधना के दौरान कामराग के संस्कारों की जो तपन जागी थी, उसका उपशमन हुआ। आन्तरिक शीतलता प्राप्त हुई। पहले रात-रात भर जो बेचैनी रहती थी, वह अब दूर हुई।

भगवान ने उसके पूर्व की तथा वर्तमान की स्थिति को देखकर यह जो आह्लादकारी उदान वचन कहे, वही यह साध्वी बार-बार उल्लास-पूर्वक दुहराया करती थी :

सुखं सुपाहि थेरिके, कत्वा चोळेन पारुता।
उपसन्तो हि ते रागो, सुक्खडाकं व कुम्भियं॥

स्थविरके! तू सुख की नीद सो। अपने हाथ से बुने हुए वस्त्र को ओढ़कर तू परम शांति लाभ कर, क्योंकि कड़ाही में पड़े शुष्क शाक की तरह तेरे सारे राग अब दग्ध हो गए हैं, शांत हो गए हैं।

भगवान की यह कल्याणकारिणी हर्ष-वाणी सभी साधक-साधिकाओं के लिए प्रबोधन का कारण बने और सभी अपने-अपने संचित संग्रहीत

संस्कारों को विपश्यना-साधना की आग द्वारा तप्त करके परम शांति की अनुभूति प्राप्त करें। दुखों से सदा के लिए छुटकारा पा लें। यही हमारे मंगल का समुचित उपाय है। ●

२ / यह क्षण

जिस प्रकार हंडिया में जले हुए शाक को देखकर किसी साधिका के मन में अपने सभी कर्मबीजों को विपश्यना साधना द्वारा भून लेने का प्रेरक उत्साह जागा, उसी प्रकार अतीतकाल के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनसे प्रेरित होकर साधक-साधिकाएं विपश्यना-साधना में अत्यंत उत्साहपूर्वक जुट गए और परम मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।

कोसलनरेश प्रसेनजित के ब्राह्मण राजपुरोहित की पुत्री दँतिया। भगवान के संपर्क में आयी याने धर्म के संपर्क में आयी। श्रावस्ती में अनाथपिंडिक द्वारा निर्मित जेतवन विहार में अनेक भिक्षु-भिक्षुणियां, गृहस्थ पुरुष, स्त्रियां ध्यान-साधना किया करते थे। यह श्रद्धाबहुल ब्राह्मणपुत्री भी यही कुछ दिनों साधना सीखती रही। कुछ प्रगति हुई तो गृहस्थ न रहकर भिक्षुणी बनने का वैराग्यभाव मन में जागा। अतः महाप्रजावती गौतमी से प्रव्रज्या ग्रहणकर भिक्षुणी बनी और विपश्यना-भावना में रत रहने लगी।

एक बार भिक्षुणी संघ के साथ क्रमशः यात्रा करते हुए राजगिरि गई और वही भिक्षुणी विहार में रहने लगी। एक दिन मध्यान्ह भोजन के बाद गिज्झकूट पर्वत पर किसी पेड़ के नीचे विचारमग्न बैठी थी। तब उसने देखा कि एक महाबलशाली विशालकाय हाथी नीचे नदी में जलविहार करके तट पर विश्राम कर रहा है। इतने में एक अंकुशधारी महावत वहां आया। उसने हाथी को आदेश दिया ''पांव पसार'', हाथीने अपना पांव पसार दिया, जिस पर चढ़कर महावत हाथी की पीठ पर जा बैठा। हाथी उसके आदेशों को मानते हुए शहर की ओर चल दिया।

ऐसा महान बलशाली विपुल देहधारी गजराज यदि चाहता तो उस छोटे-से आदमी को अपने पांव तले कुचलकर उसका कचूमर निकाल देता, परंतु उसने ऐसा नही किया। वह मनुष्य का गुलाम हो गया था। उसके हुक्म

का ताबेदार बन गया था। उसका सेवक बन गया था। हितैषी बन गया था।

भिक्षुणी सोचने लगी, जब एक अंकुशधारी महावत ऐसे शक्तिशाली प्राणी को अपने वश में कर सकता है तो मैं अपने मन को वश में क्यों नही कर सकती ? अवश्य कर सकती हूं। इस प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त कर भिक्षुणी दँतिया ने दृढ़ संकल्प किया और समीप के वन में प्रवेश कर मुक्तिदायिनी विपश्यना के अभ्यास में जी-जान से जुट गयी। अथक परिश्रम द्वारा वह अचिरकाल में ही मानस के सभी कषायों की निर्जरा करके अर्हंत अवस्था में प्रतिष्ठित हुई, भवचक्र से मुक्त हुई। मानव-जीवन सफल कर लिया।

३ / नया संकल्प

महानगरी श्रावस्ती के एक महावत के घर में जन्मा बालक हस्त्यारोहपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वयस्क होने पर उसने कुलगत हस्तिवशीकरण विद्या में पूर्ण निपुणता प्राप्त कर ली। चंड से चंड स्वभाववाले मदमस्त हाथियों को अत्यंत कुशलतापूर्वक वश में करना सीख गया। एक बार किसी हाथी को वश में करने के काम में लगा हुआ था। एकाएक विचार उठा, '' क्या मैं सारे जीवन इन चंड हाथियों को ही वश में करता रहूंगा ? कभी अपने चंड स्वभाववाले मन को भी वश में कर सकूंगा या नही ?''

इस कुशल चिंतन से अभिभूत होकर वह जेतवन विहार में गया। वहां भगवान की धर्ममयी अमृतवाणी सुनकर यही निर्णय किया कि मेरे लिए अपने मन को वश में करना अधिक उपयोगी है। उसे पालतू बनाने में पूरा श्रम लगाना चाहिए। जंगली हाथी को पालतू बनाकर जितना लाभान्वित होता हूं उससे कही अधिक लाभ इस जंगली मन को पालतू बनाने से होगा। यह जबतक जंगली है तबतक बहुत बड़ा दुश्मन है। पर वश में हो जाय, पालतू हो जाय तो बहुत बड़ा मित्र बन जायेगा, हितैषी सेवक बन जायेगा। इस प्रकार सद्धर्म के प्रति अत्यंत श्रद्धावान होकर घरसे बेघर हो, भिक्षु बन गया।

भगवान से साधना की विधि सीखकर चिरकाल तक विपश्यना के अभ्यास में रत रहा, पर मन वश में नही हो रहा था। भूत-भविष्य की विभिन्न कामनाओं में, सुखद कल्पनाओं में लोट-पलोट लगाता रहता था। बड़ा ही दुर्दमनीय हो उठा था मन।

ऐसे समय उसे अपनी हस्तिविद्या का कौशल्य याद आया। किस प्रकार दुर्दमनीय हाथियों को कुशलतापूर्वक अपने वश में कर लिया करता था। उस कार्य में कितना धीरज रखना पड़ता था। मतवाले हाथी को कब

कितनी छूट देनी होती थी, कब कितना अंकुश लगाना पड़ता था। किस चतुराई के साथ उसे वशवर्ती किया जाता था। इस चिंतन से उसके भीतर एक बिजली सी कौंधी। इसी प्रकार इस निरंकुश मन को भी निग्रहित करना होगा। बहुत मनमानी कर ली इसने। बहुत दौड़ चुका इधर-उधर। बहुत होश खोए रहा यह। अब तो इसे पालतू बनाना ही होगा।

इस दृढ़ संकल्प के साथ स्वेच्छाचारी मन को वश में करने के काम में उसी प्रकार लग गया, जिस प्रकार कि उन्मत्त हाथी को अंकुश के सहारे वश में किया करता था। धीरज और लगन के साथ काम करते-करते वह अपने शुभ प्रयत्नों में सफल हुआ। श्रोतापन्न, सकृदागामी और अनागामी अवस्थाओं को पार करते हुए उसने अर्हंत अवस्था के अमृतपद का साक्षात्कार कर लिया। कृतकृत्य हुआ। जीवनमुक्त हुआ। धन्य हुआ! ●

४ / सम्यक् संकल्प

उन दिनों भगवान कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन विहार में वर्षावास कर रहे थे।

देश का राजा प्रसेनजित, विपश्यी साधक, गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों को निभाते हुए समय समय पर अंतर्मुखी होकर आंतरिक सच्चाइयों का निरीक्षण किया करता था। इस आत्मनिरीक्षण की एक अवस्था में उसने इस सच्चाई को देखा था कि उसके लिए संसार में सबसे प्यारा उसका अपना 'अहं' ही है। इसी आत्मनिरीक्षण से यह बात भी समझ में आयी थी कि सभी को ऐसा होता है। लोक में सब अपने आपको ही प्यार करते है। यह प्यार अंधा हो जाता है तो सभी अपनी तृष्णाओं, कामनाओं, अभिप्साओं और भविष्य के प्रति संजोए हुए स्वप्नों को ही प्यार करने लगते हैं। लोगों के सारे पारस्पारिक संबंध इसी प्यार पर आधारित होने लगते हैं। जो हमारे स्वप्नों से प्यार करते हैं, हमारे स्वप्नों को पूरा करने में सहयोगी बनते हैं, वही प्यारे लगने लगते हैं। अन्य नहीं। जीवन जगत की यह मोटी-मोटी सच्चाई उसके समझ में आयी। ध्यान के एक धरातल पर समझ में आयी।

अंतर्मुखी होकर यथाभूत वास्तविकता को देखने का अभ्यासी साधक धीरे-धीरे सच्चाई की गहनतर अवस्थाओं तक पहुँचता है तो आत्मदर्शन की साधना में देर तक तल्लीन होने लगता है। यही साधना की प्रतिसंल्लीनता है। इस प्रतिसल्लीन ध्यान के दौरान बीच-बीच में चिंतन-मनन भी चलता है। संकल्प-विकल्प भी होता है। परंतु इस संकल्प-विकल्प का आधार सम्यक् दर्शन है याने स्वानुभूतिजन्य सत्यदर्शन है। अतः संकल्प-विकल्प भी स्वयमेव सम्यक् होता है, धर्ममय होता है। अतः मांगलिक होता है, कल्याणकारी होता है।

कोशल नरेश राजा प्रसेनजित एक दिन इसी प्रतिसंल्लीन विपश्यना के

दौरान सम्यक् संकल्प का अनुभव करता है। सम्यक् चिंतन-मनन द्वारा सोचता है और समझता है :

'सबको अपना आप ही प्यारा है यह तो ठीक, परंतु क्या हम सचमुच समझदारी के साथ अपने आपसे प्यार करते हैं? कौन सही माने में अपने आपसे प्यार करता है? कौन सही माने में अपने आपसे प्यार नही करता?'

सत्यान्मुखी ध्यान के धरातल पर जब संकल्प-विकल्प चलता है तो कल्याणकारी ही होता है। शनैः-शनैः स्थूल सच्चाइयों को निरखता हुआ साधक उन परतों के तले उनसे भी सूक्ष्म सच्चाइयों का निरीक्षण करने लगता है। फलतः अनेक गुत्थियां सुलझने लगती हैं। धर्म की और अधिक बारीकियां समझ में आने लगती हैं।

तो सम्यक् मनन के स्तर पर यह प्रश्न उठा कि यह जो मैं कहता हूं कि अपने आपसे प्यार करता हूं तो क्या सचमुच सही माने में ऐसा करता हूं? अपने इस 'मैं' को सुरक्षित रखने के लिए इसके स्वप्नों को पूरा करने के लिए, इस स्वप्नपूर्ति के अंधेपन में इसके रास्ते पर विरोधी बनकर आने वाले हर प्राणी की हानि करता हूं। बाधक को दूर करने के उपक्रम मे उसे कष्ट पहुँचाता हूं तो उस समय क्या सचमुच अपना भला करता हूं? अपना स्वार्थ साधता हूं? स्वप्न-पूर्ति के आवेश में जब अन्य निरीह लोगों का दमन, शोषण करता हूं, उनके जीने के अधिकारों को छीनता हूं, उनके हित-सुख का हनन करता हूं तो क्या सचमुच अपना मंगल साधता हूं?

साधक का सम्यक् संकल्प, सम्यक् दर्शन की आधार भूमिका पर आगे बढ़ता है, अतः वह स्पष्ट देखता है; बार-बार के विपश्यना-अनुभव से जानता है कि जब जब वह इस 'मैं' से आसक्त होकर 'मेरे स्वप्नों' से आसक्त होकर मन, वाणी और शरीर से कोई कर्म करता है तो वह मोहजन्य ही होता है। राग-द्वेषजन्य ही होता है। अतः दुराचरण ही होता है। और जिस क्षण दुराचरण करता है, उस क्षण चित्तधारा पर कड़वे बीज बोने लगता

है जो इसी क्षण दुखदायी होते हैं और भविष्य के लिए भी दुखद फलदायी ही होते हैं। तो ऐसा करते हुए कहां अपना भला कर रहा है ? अपना बुरा ही तो कर रहा है न! स्व-अर्थ (स्वार्थ) साधने के नाम पर स्व-अनर्थ ही तो साध रहा है।

ऐसा व्यक्ति जो काया, वाणी और चित्त से दुराचरण करता है वह हजार कहे कि मैं अपने आपसे प्यार करता हूं अथवा मुझे मेरा 'मैं' प्रिय है। पर वस्तुतः वह अपने आपसे प्यार नही करता। उसे अपना 'मैं' कदापि प्रिय नही है। बैरी बैरी से जैसा बर्ताव करता है वैसा ही बर्ताव वह अपने आपसे कर रहा है। बैरी बैरी की जितनी हानि नहीं कर सकता, उतनी हानि वह स्वयं अपने आपकी कर रहा है।

तो क्या सचमुच उसे अपना 'मैं' प्यारा है ? कदापि नही। किंचित् भी नही। एक भ्रम है। वस्तुतः वह अपने आपका बड़े से बड़ा दुश्मन है।

अंतर्मुखी होकर सत्यान्वेषण करता है तो ऋत, धर्मनियामता कुदरत का कानून, विश्व का विधान ठीक ठीक समझ में आने लगता है; तो ही साधक सही माने में अपने आपसे प्यार करने लगता है। अपनी चित्तधारा को निर्मल रखता है और ऐसा करते हुए वस्तुतः अपनी सुरक्षा करता है। अपना वर्तमान सुधारता है और भविष्य भी। अपना लोक सुधारता है और परलोक भी। सचमुच अपना भला करता है, अपना स्वार्थ साधता है, अनर्थ से बचता है। ऐसा व्यक्ति सही माने में अपने आपसे प्यार करता है। वह हजार कहे कि उसे अपने आपसे प्यार नही है, वह स्वार्थी नही है। परंतु उसे अपने आपसे सही प्यार है। वह सही माने मेंस्वार्थी है।

एक मित्र दूसरे मित्र के साथ जैसा बर्ताव करता है वैसा ही वह अपने आपसे कर रहा है। एक मित्र दूसरे मित्र का जितना भला नही कर सकता, उतना भला वह अपने आपका कर रहा है। ऐसा व्यक्ति सचमुच अपना स्वार्थ साधता है। सही आत्म मंगल में पर मंगल और सर्व मंगल समाया हुआ

है। परम मंगल समाया हुआ है।

विपश्यना साधना के दौरान याने सम्यक् दर्शन और सम्यक् संकल्प के दौरान यह जो सच्चाई महाराज प्रसेनजित के समझ में आयी वह उसने भगवान से मिलकर उनके सम्मुख संक्षेप में कह सुनाई। भगवान ने उसके कहे हुए का समर्थन करते हुए कहा :

''ऐसा ही है महाराज प्रसेनजित ! ठीक ऐसा ही है। जो काया, वाणी, चित्त से दुराचरण करता है, उसे सही माने में अपने आपसे प्यार नही है। जो काया, वाणी, चित्त से सदाचरण करता है, उसे ही सही माने में अपने आपसे प्यार है।''

और इस अवसर पर भगवान ने यह कल्याणकारी धम्मपद कहे :

अत्तानं चे पियं जञ्ञा, न नं पापेन संयुजे।
न हितं सुलभं होति, सुखं दुक्कटकारिना॥

जिसे अपना आप (मैं) प्रिय है, उसे चाहिए कि वह अपने आपको पाप में न लगाए। दुष्कर्मी को सुख सुलभ नही होता।

अन्तकेनाधिपन्नस्स, जहतो मानुसं भवं।
किं हि तस्स सकं होति, किञ्च आदाय गच्छति।
किञ्चस्स अनुगं होति, छाया व अनुपायिनी॥

मनुष्य-भव छूटते समय मृत्यु के आधीन होते हुए का भला क्याअपना होता है ? वह भला क्या साथ लेकर जाता है ? संग न छोड़ने वाली छाया की भांति भला क्या उसके पीछे-पीछे जाता है ?

उभो पुञ्ञञ्च पापं च, यं मच्चो कुरुते इध।
तं हि तस्स सकं होति, तं व आदाय गच्छति।
तं वस्स अनुगं होति, छाया व अनुपायिनी॥

मनुष्य जो पाप और पुण्य दोनों यहां करता है, वही उसके अपने होते हैं, उन्हें ही वह अपने साथ ले जाता है। संग न छोड़नेवाली छायाकी भांति वही उसके पीछे पीछे जाते हैं।

तस्मा करेय्य कल्याणं, निचयं सम्परायिकं।
पुञ्ञानि परलोकस्मिं, पतिट्ठा होन्ति पाणिनं' ति॥

अतः अपना परलोक सुधारने के लिए कल्याण कर्म ही करें, शुभ कर्म ही करें। परलोक में पुण्य ही प्राणियों का आधार होता है।

सचमुच सत्कर्म से यह लोक भी सुधरता है, परलोक भी। दुष्कर्म से यह लोक भी बिगड़ता है, परलोक भी। अपने आपसे प्यार करने वालों को, अपना भला चाहने वाले को दुष्कर्म से बचना चाहिए। सत्कर्म में लगना चाहिए। लोक और परलोक दोनों सुधारने चाहिए। इसी में सच्चा स्वार्थ समाया हुआ है, प्रबुद्ध स्वार्थ समाया हुआ है।

अतः साधको! आओ, स्वार्थी बनें। पर सच्चे स्वार्थी बनें, अंधस्वार्थी बनकर कही अपना अनर्थ न कर लें। प्रबुद्ध स्वार्थी बनकर अपना सही स्वार्थ साधें। अपना सही कल्याण साधें! ●

५ / अपूर्व प्रेरणा

राजगृह के एक संपन्न सेठ के घर रमणीयविहारी नामक श्रेष्ठिपुत्र ने जन्म लिया। वह विलास-वैभव की विपुलता में पला। युवा अवस्था को प्राप्त होने पर यौवनमद में मूर्छित होकर काम-भोगों का स्वेच्छाचारी जीवन जीने लगा। एक बार उसने देखा कि उसी की भांति काम-व्यभिचार में अनुरक्त होनेवाले एक राजपुरुष को काम-संबंधी मिथ्याचरण के कारण राज्य की ओर से घोर दंड दिया गया। इसे देखकर वह भयभीत हो उठा। आकुल-व्याकुल हो उठा। मानसिक शांति के लिए भगवान के विहार में गया और भगवान की धर्मवाणी सुनकर उत्साहित हो, वही प्रव्रजित हो गया। भगवान से विपश्यना साधना की अनुकूल विधि सीखकर एक निर्जन स्थान में जाकर अभ्यास करने लगा। परन्तु बहुत प्रयास करने पर भी सफलता नही मिली। पूर्व स्वभाव के कारण बार-बार मन कामवासनाओं के चिंतन में ही विचरण करने लगता और जब होश आता तो पश्चाताप के पंक में डूबने लगता; पर साक्षीभाव से विपश्यना नहीं ही कर पाता। यों खिन्न-मन सड़क के किनारे, एक पेड़ के नीचे निराश बैठा हुआ था। उस समय उसने देखा कि किसी गाड़ी में जुता हुआ एक बैल ऊबड़-खाबड़ रास्ते के कारण ठोकर खाकर गिर पड़ा। गाड़ीवाले ने प्यार से उसे उठाया, गाड़ी के जुए से मुक्त करके कुछ देर विश्राम करने दिया, फिर कुछ चारा-पानी देकर उसकी पीठ थपथपाई और पुनः गाड़ी में जोत दिया। वह अनुभवी बैल दुगुने उत्साह से फिर गाड़ी खीचने लगा और रास्ता ऊबड़-खाबड़ होते हुए भी उसे पारकर आगे बढ़ गया।

इस घटना को देखकर साधक रमणीयविहारी के मन में अपूर्व प्ररणा जागी। वह बड़े उत्साह के साथ साधना म[illegible] गया और इसी जीवन में मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गया। ●

६ / गिरो और उठो

नंदक और **भरत** अपने पूर्व पुण्यों के फलस्वरूप भगवान के जीवनकाल में चंपा नगरी के एक धनी गृहस्थ के घर जन्मे। बड़े होने पर उन्होंने एक दिन सुना कि उसी नगरी का **सोण** नामक अत्यंत सुकोमल, सुकुमार और ऐशो-आराम में पला हुआ महाधनी-पुत्र अपना घरबार छोड़कर भगवान के पास प्रव्रजित हो साधना करते हुए अर्हंत अवस्था को प्राप्त हो गया है। यह सुनकर दोनों भाइयों के मन में अत्यंत धर्मसंवेग जागा और दोनों प्रव्रजित होकर विपश्यना-साधना के अभ्यास में जुट गए। बड़ा भाई **भरत** अपने सत्प्रयत्नों द्वारा थोड़े ही समय में सारे आस्रवों से छुटकारा पाकर अर्हंत अवस्था को प्राप्त हो गया। परन्तु छोटे भाई **नंदक** की राह में बहुत बाधाएं आईं। यद्यपि उसने प्रयत्न तो बहुत किया परन्तु अनेक जन्मों के संग्रहीत विपुल कषायों के कारण एक-पर-एक बाधा आती रही, अन्तराय आता रहा। शरीर की संवेदनाओं के आधार पर अनित्यबोध की प्रज्ञा नही जाग सकी। अतः नंदक बहुत निराश हो उठा। साधना करने का सारा उत्साह खो बैठा। भरत ने अपने भाई की यह दशा देखी तो उसके मन में पुनः उत्साह जगाने के लिए कुछ देर धर्मचर्चा करता रहा। साधना की विधि समझाते हुए वह अपने भाई के साथ ध्यान-केन्द्र के बाहर टहलने निकल गया। कुछ दूर जाने पर रास्ते के किनारे बैठकर भाई को उत्साहित करने के लिए धर्म-प्रबोधनी बातें करता रहा।

इतने में देखा कि बैलगाड़ियों का एक कारवां चला आ रहा है और देखा कि उनमें से एक गाड़ी का चक्का गहरे दलदल में धँस गया है। बैल स्वयं भी घुटने-घुटने कीचड़ में धँसा हुआ गाड़ी चलाने का प्रयत्न करता रहा, पर असफल रहा और अन्ततः वहीं गिर पड़ा। गाड़ीवाले ने तुरंत बैल को जुए से खोलकर बाहर निकाला और दाना-पानी देकर स्वस्थ किया। कुछ देर बाद

पीठ थपथपाकर फिर गाड़ी में जोत दिया। बैल उत्तम जाति का था। प्रशिक्षित था। उसने अपना सारा बल लगाया और गाड़ी को दलदल के बाहर निकालकर आगे बढ़ चला।

यह देखकर भरत ने भाई नंदक को कहा, "देखा, इस बैल के पुरुषार्थ को?"

नंदक ने उत्तर दिया, "हां, देखा। जिस प्रकार यह पुरुषार्थी बैल अपने पूरे पराक्रम से गहरे दलदल से निकल सका, वैसे ही मैं भी अपना पूरा परिश्रम लगाकर इस भवसंसार के दलदल से बाहर निकलूंगा ही।"

और इस प्रसंग से असीम प्रेरणा पाकर नंदक विपश्यना में जुट गया। अबतक विफलता-ही-विफलता का सामना करनेवाला निराश नंदक, अब परम उत्साह के साथ काम करता हुआ सफलतालाभी हुआ। विपश्यना के तेज से सारे बंधनों को जलाकर पूर्णतया मुक्त हुआ, अर्हंत अवस्था को प्राप्त हुआ। साधना सफल हुई। साधक धन्य हुआ।

विजय के हर्ष-उल्लास में नंदक ने इस प्रसंग को याद करके ही यह वृषभनाद किया :

सम्यक् सम्बुद्ध का सम्यक् दर्शन-संपन्न श्रावक उस भद्र जातीय वृषभ के समान ही है, जो कि किन्हीं कारणों से गिर पड़ने पर भी और अधिक संवेगबल से उठ खड़ा होता है और आगे बढ़ जाता है। ●

७ / अमर निर्वाण की सच्चाई

नन्ही-नन्ही सामान्य साधारण घटनाएं सब के जीवन में घटती रहती हैं, परन्तु कभी-कभी बहुत साधारण-सी लगनेवाली घटना किसी पुण्यशाली व्यक्ति के लिए अपूर्व प्रेरणा-प्रदायिनी बन जाती है और उसके अंतर में एक ऐसा अदम्य उत्साह जगा देती है कि वह सारी सुख-सुविधाओं को लात मारकर मुक्ति के मार्ग पर प्रबल पराक्रम करता हुआ बढ़ चलता है।

किसी बूढ़े को, बीमार को, मुर्दे को और संन्यासी को देख लेना कोई असाधारण बात नही है। लोग देखते ही रहते हैं। हो सकता है पिता शुद्धोधन ने पुत्र सिद्धार्थ को निवृत्ति-मार्ग की ओर जाने से रोकने के लिए विलास-वैभव और आमोद-प्रमोद में लगाए रखा हो। यह भी संभव हो कि किसी मुर्दे को देखने का उसे पहले कभी कोई अवसर न मिला हो। पर वृद्ध तो देखा ही होगा। भले बढ़ी उम्र वाले नौकर-नौकरानियों को राजकुमार से दूर रखा जाता रहा हो, परन्तु उसकी अपनी छोटी मां प्रजावती गौतमी और स्वयं पिता शुद्धोधन लगभग ७० वर्ष के हो चुके थे, जब कि राजकुमार २५-३० साल का हुआ। उनके पके हुए बाल, चेहरों पर पड़ी हुई झुर्रियां, उसने अवश्य देखी होंगी। इसी प्रकार उनमें से किसी को कभी रोग से पीड़ाग्रस्त हुआ भी देखा ही होगा। धर्मभीरु राजघराना था। आएदिन साधु-संतों को भोजन-दान, उनका सम्मान-सत्कार चलता ही रहा होगा। उनकी वंदना करने और उनके मंगल-आशिर्वाद लेने के लिए राजकुमार को भी उनके सम्मुख लाया ही जाता होगा। अतः यह अनुमान करना गलत नही कि ऐसे दृश्य राजकुमार ने पहले भी अवश्य देखे होंगे। परन्तु उस दिन इन्ही निमित्तों को देखते हुए मनोस्थिति इस प्रकार की रही होगी, जिसकी वजह से गृहत्याग कर सत्य के खोज की ऐसी प्रबल प्रेरणा जाग उठी, जो किसी के रोके न रुक सकी।

उस दिन देखे गए जरा, ब्याधि और मृत्यु के प्रतीकों में सारे संसार का

दुःख उभर उठा होगा और उस गृहत्यागी संन्यासी के शांत चेहरे के प्रतीक में दुःख-विमुक्ति का अपूर्व आश्वासन मन में जाग उठा होगा। इसी कारण उस समय उस घटना ने चिंतनशील राजकुमार के मानस पर विचारों का बहुत बड़ा तूफान खड़ा कर दिया होगा।

जहां संसार में जन्म, जरा, ब्याधि और मृत्यु की सर्वत्र कराह है, वहां उनके परे अजर-अमर निर्वाण की सच्चाई भी होगी ही। मुझे उसकी खोज करनी चाहिए।

जैसे संसार में एक ओर इंद्रिय-दुःख है तो दूसरी ओर इंद्रिय-सुख का भी अस्तित्व है। ऐसे ही जहां भव-चक्र है, वहां भव-निःसरण भी अवश्य होगा ही।

जैसे संसार में उष्णता है तो उसके मुकाबले शीतलता भी है, वैसे ही जहां त्रिविध ताप है वहां सर्वतापनाशक निर्वाण की परम शांति भी अवश्य होगी ही।

जैसे जहां पाप है और उसके विपरीत पुण्य भी है, वैसे ही जहां जन्म है वहां अजन्म अवस्था भी होगी ही। जहां जरा है, वहां अजर अवस्था भी होगी ही। जहां मृत्यु है वहां अमृत भी अवश्य होगा ही। मुझे इसकी गवेषणा करनी चाहिए, पर्यवेषणा करनी चाहिए।

जन्म, जरा, ब्याधि, मृत्यु के इस दुःखद भवचक्र का कोई तो मूलभूत कारण होगा ही, और यदि है तो उसके निवारण का भी कोई उपाय अवश्य होगा। यदि ऐसा कोई उपाय है तो उसके द्वारा भवचक्र से सर्वथा विमुक्त हो; नितांत दुःख-निरोध की अवस्था का परम-सत्य उपलब्ध किया जा सकता है। किया जाना ही चाहिए। केवल मेरे ही दुःख-निरोध के लिए नही, संसार के इतने सारे प्राणी दुःखों से तड़प रहे हैं, इनकी दुःख-विमुक्ति के लिए भी परम सत्य की खोज करनी आवश्यक है।

गंदगी से भरे व्यक्ति को अपने मैल धोने केलिए सरोवर तो है, पर वह सरोवर की खोज ही न करे तो दोष किसका ? सरोवर का नही।

प्राणघातक दुश्मनों से घिरे हुए व्यक्ति केलिए भाग निकलने का रास्ता तो है, परन्तु वह उसे ढूंढे ही नही तो दोष किसका ? रास्ते का नहीं।

आग की लपटों से घिरे घर में से भाग निकलने की राह तो है, पर उसे जानने का प्रयत्न ही न करे तो दोष किसका ? राह का नही।

रोग दूर करने केलिए चिकित्सा तो है, पर रोगी उसे उपलब्ध ही न करे तो दोष किसका ? चिकित्सा का नही।

जन्म-जन्मान्तरों के भवचक्रों से पीड़ित व्यक्ति केलिए क्लेश-निवारण मार्ग तो है, परंतु वह उस मार्ग की गवेषणा ही न करे तो दोष किसका ? मार्ग का नही।

और यह गवेषणा घर बैठे हो नही सकती। घर-गृहस्थी में धर्म के नाम पर अधिकतर कर्मकांड ही चलते हैं। उनमें परम सत्य को खोजना निस्सार में सार को खोजने जैसा ही है। पिता ने तत्कालीन दर्शन-शास्त्रों के आचार्यों को घर बुला-बुलाकर सभी दार्शनिक मान्यताओं पर ऊहापोह करने के साधन जुटा दिए थे। परन्तु इस कोरे चिंतन-मनन मात्र से परम सत्य की उपलब्धि हो जाए, यह असंभव है। पूर्वकाल के मुक्त हुए महापुरुषों ने सत्य का साक्षात्कार स्वयं किया और अपने भीतर ही किया। मुझे भी यही करना होगा। परम सत्य की खोज अपने भीतर ही करनी होगी। इसके लिए अंतर में पैठ सकने की कोई वैज्ञानिक विधि ढूंढनी होगी, जिसके निरंतर निर्वाध अभ्यास केलिए अनुकूल वातावरण चाहिए जो कि इस बाह्य प्रेक्षी राजसी वातावरण में पा सकना असंभव है।

परम सत्य के खोज की इस तीव्र अभिलाषा को सामान्य से लगनेवाले इन चार प्रसंगों ने कितना बल दिया। अनिंद्य सुंदरी परम रूप-लावण्यमयी

सेवाभाविनी पत्नी यशोधरा का और सुंदर सुकोमल नवजात शिशु राहुल का सारा आकर्षण त्यागकर सत्य-शोधक राजकुमार सिद्धार्थ गृहत्यागी बना। राज्य के समस्त वैभव-विलास, आमोद-प्रमोद के प्रसाधनों को इसी निसंगभाव से त्याग कर चल दिया जैसे कोई शौचालय में जाकर मल-मूत्र त्याग कर चल देता है और उस ओर मुड़कर देखता भी नही।

परम सत्य की खोज में निकला हुआ मुमुक्षु राजकुमार अनेक जगह भटका, अनेक प्रकार के प्रयोग करके देखे। अपने भीतर समाधि की तलस्पर्शी गहराइयों को मापने के लिए उन दिनों के प्रसिद्ध ध्यान-आचार्यों आलारकलाम और उद्दकरामपुत्त से क्रमशः सातवां और आठवां ध्यान सीखा। पर इनसे भी इंद्रियातीत परम सत्य का साक्षात्कार न हो सका। यह उन दिनों के प्रचलित ध्यान की बहुत ऊंची अवस्थाएं थी। पहले से चौथा ध्यान अपने भीतर और पांचवें से आठवां ध्यान बाहर अनंत तक फैलने का ध्यान होता है। इन ध्यानों के कई आलंबन होते हैं। मिट्टी, जल, अग्नि, वायु के अतिरिक्त विभिन्न रंगों और रोशनियों को भी आलंबन बनाया जाता है। लंबे अभ्यास द्वारा ऐसे आलंबन को संकुचित करते-करते बंद आंखों के सामने एक लेशमात्र बिंदु तक सिकोड़कर स्थिर कर लिया जाता है और फिर प्रबल मनोबल से उस पर पूरा अधिकार जमाने के अनेक प्रयोग किए जाते हैं। तदनंतर साधक उसे यथेच्छ विस्तृत करता है, फैलाता है। अनंत तक फैलाते जाता है। लेशमात्र रंग के बिंदु को, आगे चलकर शुभ्र प्रकाश के बिंदु को अनंत तक फैलाकर साधक, अपने चित्त को उसमें समाहित कर लेता है। शुभ्र लेश्या से अनंत आयतनों की पांचवी से आठवी ध्यान-समापत्तियों द्वारा साधक का मानस बहुत अंशों में निर्मल हो जाता है। परंतु अंतर्मन की गहराइयों में अनेक जन्मों से संचित कर्म-संस्कारों के कषाय-क्लेश की कुछ जड़ें बची रह जाती हैं। उनको भी दूर किए बिना पूर्ण मुक्ति कहां ? आठों ध्यानलाभी साधक भवाग्र स्थित अरूप ब्रह्मलोक का अधिकारी अवश्य हो जाता है, पर भवातीत निर्वाण कहां ? लोकातीत परम विमुक्ति की अवस्था

कहां ? ऐसा साधक अतींद्रिय अनुभूतियां प्राप्त करके अनेक प्रकार की अलौकिक लगनेवाली ऋद्धि-सिद्धिओं का अधिकारी अवश्य बन जाता है, पर इंद्रियातीत नित्य, शास्वत, ध्रुव परम शांति की अवस्था कहां ? जबतक लेशमात्र भी कर्म-क्लेश बाकी हैं तबतक भवचक्र, लोकचक्र, दुःखचक्र चलता ही रहता है। जो विमुक्ति के परम सत्य का अन्वेषी है वह भला यही कैसे रुकता ? उन ध्यान आचार्यों के पास लेशमात्र बचे हुए अनुशय, सुषुप्त क्लेशों को दूर करने का कोई साधन नही था। अतः राजकुमार तपस्वी अन्य साधनों की खोज में चल पड़ा।

उन दिनों एक बहुत प्रबल मान्यता यह थी कि भिन्न-भिन्न प्रकार से शरीर को यंत्रणा देने से, कष्ट देने से, कर्म के मैल उतर जाते हैं। क्यों न इसे भी आजमाकर देखा जाय ? असीम वैभव विलास में पला हुआ सुकुमार सुकोमल राजयोगी इस दुष्कर चर्या में भी दृढ़तापूर्वक लग गया और इसकी भी चरम सीमा तक का प्रयोग करके देख गया। उन दिनों के प्रचलित सभी देहदंडों की तपश्चर्या करके देखी। अनेक प्रकार से काया पर आतापन-संतापन का प्रयोग किया।

अनेक दिनों कांटों की शैय्या पर सोकर देखा। ठिठुरती ठंड में भीगे वस्त्रों पर सोने का उपक्रम किया। शीतकाल में रात-रात भर खुले मैदानों में रहता और दिन में सीलनभरे घोर वनखंडों में। ग्रीष्म की तपती दोपहरी में बिना छायावाले खुले मैदानों में रहता तो रात सघन वनखंडों में शरीर को नाना प्रकार से कष्ट देता। नाना प्रकार के अभक्ष्य भोजन करके देखे और जब उपवास करने पर तुला तो ऐसे उपवास किए कि शरीर को सुखाकर कांटा बना लिया। कही मांस-मज्जा का नामोनिशान नहीं बचा। केवल हड्डियों का पिंजर और उस पर सिकुड़ी हुई चाम। ३५ वर्ष की अवस्था में ८० वर्ष के बूढ़े से भी बदतर हालत हो गयी। स्वर्णिम आभावाले सुंदर शरीर का रंग काला पड़ गया। जगह-जगह मैल के चिट्टे जम गए। कूल्हे ऐसे हो गए जैसे ऊंट के पांव। रीढ़ की हड्डी के उन्नत-अवनत कांटे ऐसे हो गए, जैसे

मूंज की ऐंठनभरी रस्सी। पसलियां ऐसी हो गयी, जैसे जीर्ण-शीर्ण मकान की ढीली होकर अलग-थलग हुई कड़ियां-लकड़ियां। आंख के गड्ढों में पुतलियां ऐसी, जैसे गहरे कुँए में किसी तारे का प्रतिबिम्ब दीखता हो। सिर पर की चमड़ी ऐसी हो गई जैसे कच्ची तोड़ी हुई लौकी धूप में सूखकर सिकुड़ गयी हो। पेट की चमड़ी पीठ की हड्डी से जा जुड़ी। उसे पकड़ना चाहता तो रीढ़ की हड्डी के कांटे हाथ में आ जाते। शरीर इतना कृश और दुर्बल हो गया कि जिस अंग को हाथ का सहारा देकर उठना चाहता, वही के सड़ी हुई जड़वाले लोम उखड़-उखड़कर गिर पड़ते। मल-मूत्र त्यागने के लिए उठकर चलना चाहता तो एक कदम भी न चल पाता, वही भरभराकर गिर पड़ता। काय-क्लेश की पराकाष्ठा।

लगभग छह वर्ष तक देह-दंडन की ऐसी कठोर दुष्कर चर्या करके भी देखा कि आठों ध्यान के बाद अंतर्मन की गहराइयों में जो लेशमात्र अनुशय-क्लेश बचे थे वह वैसे के वैसे हैं। जरा भी दूर नही हुए।

तो बात समझ में आयी कि जिस प्रकार काम-भोग, विलास-वैभव का जीवन जीते हुए कोई व्यक्ति एक अति का जीवन जीता है और मुक्ति से दूर रहता है, वैसे ही काय-उत्पीड़न की तपश्चर्या में लगा हुआ व्यक्ति दूसरी अति का जीवन जीता है और वह भी इसी प्रकार मुक्ति से दूर रहता है। सुधारना मन को है। उसे विकारों से विमुक्त करना है। इस विमुक्ति की साधना के लिए मध्यम मार्ग की खोज करनी होगी।

युक्त आहार ग्रहण करके शरीर को आर्य साधना के योग्य बनाकर स्वयं ही अपने भीतर मध्यम मार्ग की साधना की खोज में लग गया। अनेक आंतरिक बाधाओं का सामना करता रहा। अंततः अपने अनेक जन्मों में संचित संवर्धित पुण्य पारमिताओं का अपरिमित बल जाग उठा और विपश्यना का मुक्तिदायी मार्ग उजागर हुआ।

काम-भोगों का बंधन स्पष्ट हुआ। देह-दंडन की निस्सारता स्पष्ट

हुई। कर्मकांडों की निष्प्रयोजनता स्पष्ट हुई। विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल टूटे। स्वानुभूति के आधार पर जागी हुई भावनामयी प्रज्ञा के बलपर अंधमान्यताजन्य दर्शन सम्यक्-दर्शन बना। बैद्धिक चिंतन-मननवाला भ्रामक ज्ञान सम्यक्-दर्शन के आधार पर प्रत्यक्ष अनुभूतियोंवाला सम्यक् ज्ञान बना। काल्पनिक विमुक्ति सम्यक् विमुक्ति बनी। परम कल्याणी सम्यक् सम्बोधि की उपलब्धि हुई। सारे अनुशय-क्लेश छिन्न-भिन्न हुए। चित्त समस्त विकारों से नितांत विमुक्त हुआ। चेतोविमुक्ति प्रज्ञाविमुक्ति में सहायक हुई। नित्य, शास्वत, ध्रुव, प्रणीत, प्रशांत शिव से एकाकार हुआ। परम सत्य का साक्षात्कार हुआ।

सिद्धार्थ राजकुमार सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर सम्यक् सम्बुद्ध बना। सर्वथा जाग्रत, प्रबुद्ध, सर्वज्ञ।

सामान्य साधारण से लगनेवाले ये चार प्रतीक किस प्रकार असीम प्रेरणा के प्रसंग बने। साधक के मन में सत्यान्वेषण का जो झंझावात जागा वह अनंत शांति की परम अवस्था तक पहुँचकर ही रुका। साधक धन्य हुआ। ऐसे साधक को पाकर स्वयं साधना धन्य हुई। ऐसा साधक जो कि केवल अपनी ही स्वस्ति-मुक्ति का कारण नही बना, बल्कि लाखों-करोड़ों की स्वस्ति-मुक्ति का प्रेरणा-स्रोत बन गया। मंझधार में डूबते हुओं के लिए प्रकाशमान दीप-स्तंभ बन गया।

हमारे भीतर भी ऐसी मंगलमयी प्रेरणा जागे, जो असीम शुभ-फलदायी हो! ●

८ / जलधारा रुक गयी

कोशलदेश की राजनगरी श्रावस्ती। नगर का महाधनी श्रेष्ठीपरिवार। छोटे-बड़े अनेक कमरोंवाली वैभव संपन्न सात मंजिली विशाल अट्टालिका। इसमें केवल चार सदस्यों का यह छोटासा श्रेष्ठि परिवार रहे — सेठ, सेठानी, एक छोटा पुत्र और एक पुत्री। पुत्री किशोर अवस्था को पार कर मदमाते यौवन में पांव रख रही। घर में वैभव के सारे साधन। बाहर भी 'सर्व अस्ति' श्रावस्ती— आमोद-प्रमोद और खेल-तमाशों के आकर्षक मनोरंजनों से भरी हुई महामायानगरी। पिता को धन कमाने का नशा। रात-दिन इसी में मशगूल रहे। माता को अन्यान्य सामाजिक आयोजनों में उलझे रहने का शौक। बच्चों की जरा भी देखभाल नही, सार-संभाल नही। छोटे पुत्र के लिए एक अलग नौकर रखा हुआ। युवा पुत्री की सेवा पर एक दूसरा युवा नौकर, जिसके बुरे संसर्ग ने उस अल्हड़ नवयौवना की उभरती उमर में वासना का ज्वार जगा दिया। पांव लड़खड़ाए और एक बार फिसली तो फिसलती ही चली गयी। उस विशाल हवेली में एकांत अनाचार की भरपूर सुविधाएं। दोनों पाप के कीचड़ में दिनों-दिन धँसते गए।

लड़की बीस वर्ष की हुई तो मां-बाप को उसके हाथ पीले करने की याद आयी। एक सुखी संपन्न प्रतिष्ठित परिवार के योग्य पुत्र से सगाई कर दी गई। विवाह का दिन भी निश्चित हो गया। आज घर में बारात आनेवाली है। यहां दोनों अनाचारियों को चिंता होने लगी। पराए घर जाने के बाद तो एक-दूसरे को देख भी न सकेंगे, शरीर-संबंध की बात तो दूर।

वासना के पंक पुतले को मिथ्या प्रेम का सुंदर चोंगा पहनाकर और उस पर भ्रामक त्याग के भड़कीले आभूषण सजाकर दोनों ने अपने दुष्कर्मों का न्यायीकरण किया और भाग निकलने का फैसला किया। दोनों ने संकल्प किया — भले गरीबी में रहें, पर साथ रहेंगे। घर में बारात आने के पहले ही दोनों की पलायन-योजना सफल हुई। थोड़ा-बहुत जो भी धन-आभूषण

बटोर सके, बटोरकर निकल भागे और नगर से दूर एक छोटे से गांव में जा बसे।

साथ लाया हुआ धन बहुत दिन काम न आ सका। पाप कर्मों का फल उदय होने लगा। अत्यंत विपन्न अवस्था में दिन बीतने लगे। दो वर्ष बाद युवती को गर्भ रह गया। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ने लगा, वैसे वैसे चिंता भी। ऐसी विपन्न अवस्था में कैसे प्रसव होगा? कैसे बच्चे की देख भाल होगी? मां बाप की याद सताने लगी। मेरे दुष्कर्म की वजह से उनकी प्रतिष्ठा धूल में मिली। वे इस कारण बहुत नाराज होंगे। पर मैं जाकर क्षमा मांगूंगी तो वे क्षमा कर ही देंगे। आखिर मां-बाप हैं न! शीघ्र पीहर जाने के लिए मन उतावला हो उठा। पति घबराया। उसे डर था कि श्रावस्ती जाने पर उसे बहुत बड़ा राज-दंड भोगना पड़ेगा। अतः वह चलने के लिए तैयार न था। आज कल, आज कल के बहाने बनाता हुआ टालने लगा। पति के मिथ्या आश्वासनों से निराश होकर गर्भ की बढ़ी हुई अवस्था में उस दुखियारी युवती ने अकेले ही जाने का फैसला किया। पति जब बाहर काम पर गया हुआ था तो पड़ोसिन को सूचना देकर श्रावस्ती की ओर निकल पड़ी। रास्ते में बियाबान वन था। पर थकी-मांदी निर्भय हो अकेली चली जा रही थी। घर लौटने पर पति को जैसे ही सूचना मिली, वह भी पीछे-पीछे दौड़ा आया। परंतु पत्नी वापस चलने के लिए तैयार नही हुई। लाचार पति भी उसके साथ हो लिया। राह चलते गर्भोत्थान हुआ और वही जंगल में एक पुत्र का जन्म हुआ। अब पति के बहुत आग्रह करने पर वह उसके साथ अपने घर लौट आयी।

इसी प्रकार दीन अवस्था में दो वर्ष और बीते। उसे फिर गर्भ रहा। फिर मां-बाप याद आने लगे। फिर पति उसी प्रकार बहाने बनाने लगा। टाल-मटोल करने लगा। अंत में उसने अकेली जाने का फैसला किया और बच्चे को गोद में लेकर गर्भ की बढ़ी हुई अवस्था में श्रावस्ती की ओर चल पड़ी। पति पीछे-पीछे दौड़ा हुआ आया और उसी प्रकार फिर निर्जन वन में गर्भोत्थान हुआ। प्रसव का समय आया। दुर्भाग्य से उसी समय आकाश में

बिना मौसम की तेज आंधी उठी और उसके बाद घनघोर वर्षा होने लगी। कही सिर छुपाने की जगह नही। प्रसव-पीड़ा बढ़ती जा रही थी। उसे आश्रय की जरूरत थी। पति ने सोचा, वैभव में पली इस श्रेष्ठी पुत्री की यह दुरावस्था मेरे ही कारण हुई। मुझे इसे आंधी-पानी से बचाने के लिए कुछ तो करना ही चाहिए। क्यों न कही से कुछ लकडियां काट लाऊं और सूखे पत्ते बटोरकर इसके लिए सिर छुपाने लायक एक पर्णकुटी बना दूं। उस काल अँधेरी रात में वह इस उद्देश्य से निकल पड़ा और रातभर लौटा नही। गर्भवती युवती पानी और कीचड़भरे राह पर पड़ी कराहती रही। उसका अरण्य-रोदन सुननेवाला कोई नही। कौन सहायता करे? ऐसी विकट स्थिति में फिर प्रसव हुआ। एक नन्हें से बच्चे को जन्म दिया। सुबह पौ फटने तक भी पति नही लौटा तो वह घबराई। दोनों बच्चों को छाती से चिपकाए, पति को ढूंढ़ने निकली। कुछ ही दूर गयी कि देखा उसके पति का शरीर अकड़ा और नीला हुआ पड़ा है। उसके प्राण-पखेरू उड़ चुके थे। उसे किसी विषधर सांप ने डस लिया था। क्या करती? रोती, बिलखती, दोनों बच्चों को छाती से चिपकाए अकेली श्रावस्ती की ओर चल पड़ी।

प्रलयंकारी वर्षा रुकने का नाम नही ले रही थी। रास्ते के छोटे-छोटे नाले भी नदियों जैसे बन गए थे। छोटीसी अचिरवती नदिया इस बाढ़ के मारे बहुत विशालकाय हो गई थी। दो-दो बच्चों को लेकर एक साथ इस नदी को कैसे पार करे? अतः एक युक्ति लगाई। बड़े बच्चे को समझा-बुझाकर नदी के इसी तट पर छोड़ा और नवजात शिशु को लेकर नदी पार कर गई। परले पार पहुँचकर नन्हें बच्चे को कपड़े में लपेटकर एक झाड़ी के नीचे लिटाया और अब बड़े को ले आने के लिए फिर नदी पार करने लगी। पर आंखें नवजात शिशु पर ही लगी थी। उसे कुछ हो न जाय। बीच मँझधार में पहुँची तो देखती है कि एक बहुत बड़ा गिद्ध शिशु को मांस का लोथड़ा समझकर उस पर झपट रहा है। बच्चे को बचाने के लिए और गिद्ध को उड़ाने के लिए वह जोर जोर से 'शू शू' की आवाज करने लगी और अपने

दोनों हाथ हिलाने लगी। गिद्ध पर इसका कोई असर नही हुआ। वह नवजात शिशु को अपने पंजों में दबोच कर उड़ गया। परंतु इसका बुरा असर इस पार बैठे बच्चे पर हुआ। उसने मां की आवाज सुनी और उसे जोरों से हाथ हिलाते देखा तो समझा कि मां मुझे बुला रही है। वह शीघ्रतापूर्वक नदी में कूद पड़ा और देखते-देखते तेज बहाव में बह गया। दुखियारी असहाय मां।

पति को सांपने डस लिया, एक पुत्र को गिद्ध दबोच ले गया, दूसरे को नदी बहा ले गयी। अभागिन नारी रोती, बिलखती श्रावस्ती की ओर चल पड़ी। पर अभी उसे और दुर्दिन देखने थे। दुष्कर्मों का और फल पकना बाकी था। श्रावस्ती पहुँचने के पहले स्मशान घाट के पास से गुजरी तो देखा वहां चितापर मुर्दे जलाए जा रहे हैं। श्रावस्ती से आते हुए एक राहगीर से प्रश्न किया तो पता चला कि रात के तेज आंधी-तूफान-मेंह के कारण नगर के सेठ का सात मंजिला महल गिर पड़ा, जिसमें दबकर सेठ, सेठानी और उनका इकलौता पुत्र मर गया। अरे! वही तो उसका बाप था, वही उसकी मां थी और वही उसका एकमात्र भाई था। चिता पर उन्ही की लाशें जलाई जा रही थी। इस दुस्संवाद से उस पर दुखों का पहाड़ टूट पड़ा। अब संसार में उसका कोई नही रह गया। वह अपना होश न सँभाल सकी। वही पछाड़ खाकर गिर पड़ी।

कुछ देर बाद उठी तो खोया हुआ होश खोया ही रहा, वापस नही आया। पूर्णतया विक्षिप्त हो गई। एक-एक करके शरीर पर के सारे कपड़े गिरा दिए। कुछ भी होश नही। पूर्ण नग्न श्रावस्ती की सड़कों और गलियों पर सिर धुनती, छाती पीटती, बिलखती फिरने लगी।

''हाय! मेरे पति को सांप डस गया! नन्हें को गिद्ध झपट ले गया! बड़े को नदी बहा ले गयी! मां, बापू, भाई दबकर मर गए और एक साथ चिता पर जलाए गए!'' लोग उसका करुण विलाप सुनते। दुखी होते, पर क्या

करते! उसकी पागलों की सी हरकतें देखकर अपने घर के किवाड़ बंद कर लेते। कोई उसे पास नही आने देता। ''पगली-पगली'' कहकर बच्चे उसके पीछे दौड़ते, उस पर ढेले फेंकते, धूल फेंकते।

ऐसी विपन्नावस्था में अपने पूर्व पुण्य के कारण वह एक दिन जेतवन विहार के पास से गुजरी। वहां भगवान एक बड़ी सभा को धर्म समझा रहे थे। लोगों ने उसे आते देखा तो दूर भगाना चाहा। कही यह पगली औरत धर्मसभा की शांति में विघ्न न पैदा कर दे। परंतु भगवान की नजर उस दुखियारी पर पड़ी तो लोगों को रोका। दुखियारी भगवान के समीप आयी। भगवान ने करुणाभरे शब्दों में कहा, ''मेरी दुखियारी बेटी! होश सँभाल!'' वाणी में अमृत भरा था। सुनते ही उस दुखियारी को जरा सा होश आया। उसका ध्यान अपने सर्वथा नग्न शरीर पर गया तो लाज के मारे सिकुड़ गयी। वहीं उकुडू बैठ गयी। समीप खड़े किसी भाई ने उस पर अपनी चादर डाली। उसने तुरंत चादर ओढ़ ली। विक्षिप्त अवस्था में सभी वस्त्रों को त्याग देने के कारण इस चादर ओढ़ी हुई दुखियारी का नाम 'पटाचारा' पड़ गया। लोग उसका पूर्व नाम ही भूल गए।

पटाचारा भगवान के और समीप आयी और अपने दोनों पांव, दोनों हाथ और सिर धरती को छुआकर पंचांग प्रणाम करती हुई बोली, ''भन्ते भगवान! मुझे शरण दीजिए, मैं बहुत दुखियारी हूं।''

''बेटी! तू सही शरण-स्थान पर आ गयी है। तुझे यहां अवश्य शरण मिलेगी।'' भगवान ने आश्वासन भरे शब्दों में कहा।

''भन्ते भगवान! मेरे पति को काले नाग ने डस लिया। एक पुत्र को गिद्ध दबोच ले गया। दूसरे को नदी बहा ले गयी। माता पिता, भाई दबकर मर गए। उन्हें एकसाथ चितापर जलाया गया। अब संसार में मेरा कोई नही। मुझे कौन शरण देगा?''

अपने दुखों को यादकर पटाचारा फिर फूट-फूटकर रोने लगी।

"बेटी, होश में आ। माता-पिता, भाई-बंधु, पति-पुत्र शरण नहीं दे सकते। सही शरण तो अपना धारण किया हुआ धर्म ही देगा। तू कौन से प्रिय स्वजनों की मृत्यु पर दुख के आंसू बहा रही है? इस अनादि भव संसार में तूने अनगिनत बार जन्म लिया है। सभी जन्मों में तेरे प्रिय स्वजन मरे हैं। उनके मरने पर तूने जितने आंसू बहाए हैं, यदि एक जगह एकत्र कर दिए जायँ तो इन चारों महासमुद्रों का जल भी उसके मुकाबले कम होगा। और कितने जन्मों तक इसी प्रकार प्रिय-वियोग में रोती रहोगी? प्रमाद छोड़! होश में आ! समझदार को चाहिए कि इस असीम दुखमय भवसागर की सच्चाई को समझकर शीघ्र-से-शीघ्र मुक्ति का मार्ग खोजे। सदा के लिए दुःखविमुक्त हो जाय।"

भगवान की वाणी ने अमृत बरसा। योग्य पात्र ने उसे ग्रहण किया। भगवान की वाणी सुनते-सुनते उस दुखियारी का चित्त एकाग्र हुआ। थोड़ी देर के लिए स्वमुखी हुआ, अंतर्मुखी हुआ। शरीर के अणु-अणु में उदय-व्यय की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। अनेक जन्मों की असीम पुण्य पारमी के कारण इस अनित्य बोध की धर्मगंगा में सारे पाप ताप धुलने लगे। वहीं बैठे बैठे पटाचारा ने निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार किया। श्रोतापन्न हुई।

कृतज्ञता-विभोर हो भगवान को नमस्कार किया और उनसे प्रव्रंज्या की याचना की। भगवान ने उसे भिक्षुणियों के पास भेजकर प्रव्रजित करवाया और पटाचारा मुक्ति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ हुई।

जो भव संस्कार बचे थे, उनका सामना करना था। उन्हें भी अंतर्तप करते हुए विपश्यना की अग्नि में जलाना था। काम करने में कठिनाइयां आ रही थी। कभी-कभी अकाल मृत्यु को प्राप्त हुए स्वजनों, प्रियजनों की फिर याद आ जाती थी। एक दिन सायंकाल दृढ़ चित्त से साधना की तैयारी में लगी। बाल्टी से लोटा भर जल लेकर अपने पांव धोए। सूखी जमीन पर बहता हुआ जल कुछ ही दूर जाकर सूख गया। आगे न बढ़ पाया। एक लोटा

पानी पांव पर और डाला। इस बार जलधारा पहले की अपेक्षा कुछ और दूर जाकर सूख गयी। तीसरी बार पांव पर पानी डाला तो जलधारा कुछ और दूर जाकर सूख गयी।

इस छोटीसी घटना ने भीतर के ज्ञानतंतुओं को झकझोर दिया। मोहजन्य अज्ञान का पर्दा दूर हुआ। जैसी जलधारा वैसी ही जीवनधारा। इस संसार में किसी-किसी की जीवनधारा कम उम्र में ही सूख जाती है। किसी-किसी की मझली उम्र में और किसी किसी की बढ़ी उम्र में। पर मरते तो सभी हैं। कोई नही बचता। इस मरणानुस्मृति के आधार पर साधना करने बैठी। उसी समय भगवान के अमृतभरे बोल कानों में गूंज उठे :

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं उदयब्बयं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो उदयब्बयं॥

उदय व्यय की सच्चाई को विपश्यना द्वारा देखे बिना कोई भले सौ वर्ष भी जिए, पर उसके मुकाबले उदय-व्यय को देखते हुए एक दिन का जीना भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।

धर्मवाणी सुनकर साधिका पटाचारा का रोम-रोम रोमांचित हो उठा। मैंने जीवन के पच्चीस वर्ष अपने भीतर उदय-व्यय का दर्शन किए बिना ही गँवा दिए। अब भगवान की असीम अनुकंपा से इस सत्य का साक्षात्कार हुआ है। इसी सत्य के प्रति साक्षी भाव रखने से मुझे निर्वाण के प्रथम दर्शन हुए थे। इसी उदय-व्यय का निरंतर दर्शन करते-करते आगे की अवस्थाएं प्राप्त होंगी। किसान खेत में परिश्रम करता है। जोतता है, बोता है तो फल प्राप्त करता है। मैं शुद्ध शील में प्रतिष्ठित बुद्ध-पुत्री। उनके बताए मार्ग पर अप्रमत्त हो पुरुषार्थ करूं तो परम मुक्त अवस्था प्राप्त कर ही लूंगी। यों दृढ़ निश्चय करके अपनी कुटिया में विपश्यना करने बैठी।

समीप जलते हुए दीपक की लौ मंद पड़ने लगी तो सुई से ठीक करने

की कोशिश की, परंतु इससे लौ बुझ गयी। फिर अंतर्बोध जागा। जिस प्रकार इस दीपक की लौ बुझी, उसी प्रकार मेरे राग, द्वेष और मोह के संस्कारों की लौ बुझेगी और मनुष्य-जीवन सार्थक होगा।

पटाचारा अधिक दृढ़ चित्त से विपश्यना में लग गयी। शरीर और चित्त के प्रपंच को उसके अनित्य स्वभाव में तटस्थ भाव से देखते-देखते अंतर्मन पर पड़ी हुई भव-संस्कारों की परतें उतरने लगी और रात बीतने के पहले ही वह श्रोतापन्न से सगदागामी, सगदागामी से अनागामी और अनागामी से अर्हंत अवस्था तक जा पहुँची। भवचक्र टूटा। नितांत विमुक्ति मिली। मनुष्य-जीवन सफल हुआ; सार्थक हुआ।

पटाचारा भगवान की प्रमुख शिष्याओं में से एक हुई। जिन थोड़े से भिक्षु-भिक्षुणी, गृहस्थ पुरुष-नारियों को भगवान ने अग्र की उपाधि दी, उनमें से पटाचारा भी एक थी। भिक्षुणियों के विनय नियमों को अच्छी तरह जानने और उनका पालन करनेवाली साध्वियों में पटाचारा अग्रगन्य मानी गयी। उसने अपना संपूर्ण शेष जीवन अपनी जैसी दुखियारी नारियों को धर्म के मार्ग पर आरूढ़ कर दुख-मुक्त कराने में ही बिताया। अपने कल्याण के साथ-साथ अनेकों के कल्याण का कारण बनी। पटाचारा विपश्यना को और विपश्यना पटाचारा जैसी साध्वी को पाकर धन्य हुई। ●

९ / चुटकी भर सरसों

श्रावस्ती नगरी। अत्यंत निर्धन और समाज में नीचे माने जानेवाले कुल में जन्मी एक दुखियारी युवती। नाम गोतमी तिस्स (तिष्या)। परंतु शरीर से अत्यंत दुबली-पतली कृशकाय होने के कारण घरवाले उसे गोतमी तिस्सा की जगह गोतमी किसा (कृशा) कहने लगे। धीरे-धीरे आसपास के लोगों में भी 'किसा गोतमी' के नाम से ही प्रसिद्ध हो गयी।

किसी कर्म-संयोग के कारण उसका विवाह श्रावस्ती के एक उच्च जातिवाले धनी परिवार के सुयोग्य पुत्र से हो गया। धनधान्य से भरापूरा संपन्न परिवार और सुंदर स्वस्थ प्रेमल पति। लगा, दुखियारी के दुःखों का अंत हुआ। किसा गोतमी का भाग्य फिरा। परंतु वस्तुतः ऐसा हो नही पाया। पति का अपार स्नेह पाकर भी उसने देखा कि परिवार के अन्य लोग उससे बेहद नाखुश हैं। दिन-रात सबकी सेवा में रत रहने पर भी परिवारवालों के मन में उसके प्रति अपार घृणा भरी है। एक तो गरीब की कन्या, तिस पर नीचे कुल की। जैसे कोढ़ में खाज हो गयी। जाति, धन के भेदभाव से दूषित सड़ी-गली सामाजिक व्यवस्था का भूत परिवार के लोगों के सिर पर बुरी तरह सवार। इसलिए संबंध तो हो गया, परंतु परिवारवाले उसे स्वीकार नही सके। उनके ताने सुनते-सुनते बेचारी का हृदय छलनी हो गया। इससे अच्छा तो किसी गरीब घर में ब्याही जाती, किसी नीचे माने जानेवाले कुल में ब्याही जाती। यह सारी धन-संपदा किस काम की ? घृणा और तिरस्कार का जीवन जीना दूभर हो गया। एकमात्र पति का प्यार ही उसके जीवन का संबल सहारा था।

विवाह के बाद कुछ वर्षों तक उसको कोई संतान नही हुई। इस स्थिति ने परिवार में उसके लिए और तिरस्कार जगाया। कुल का एकमात्र पुत्र निःसंतान रह जाएगा तो वंश कैसे चलेगा ? कैसी पुण्यहीना बहू घर में आयी ? पुण्यशालिनी होती तो ऐसे खानदान में ही क्यों जन्मती ? और फिर

इतने ऊंचे कुल में ब्याही जाकर भी निपूती क्यों रहती? यह सचमुच भाग्यहीना है। इस अभागिन की वजह से हमारे कुल का वंश नही चलेगा। इस प्रकार के अंगार जैसे बोल उसके तन-मन में विषाद की ज्वाला जलाते रहते। पर बेचारी असहाय। क्या करती? चुपचाप आंसू ढलकाती और सबकुछ सहती रहती।

परंतु कुछ दिन बीतने के बाद उसके दिन फिरे। उसे गर्भ रहा और दस मास पूरे होने पर उसने एक सुंदर पुत्र-रत्न को जन्म दिया। सहसा जीवन में रौनक आ गयी। परिवार में पुत्रवती वधू का आदर होने लगा। सब की मनोकामना पूरी हुई। उसने वंश चलाने के लिए परिवार को सुंदर पुत्र जो दिया। जैसे-जैसे पुत्र बढ़ने लगा, उसकी किलकारियों ने घर के वायुमंडल में खुशियों का माहौल भर दिया। सभी उसे गोद में उठाए फिरने के लिए लालायित रहते। अब घरवाले भूल गए कि बच्चे की मां नीचे कुल की और गरीब खानदान की है। वह गृहलक्ष्मी-सा सम्मान-सत्कार पाने लगी।

पालने में झूलनेवाला बच्चा अब घुटनों के बल चलने लगा। उसकी अठखेलियां सब का मन मोहने लगीं। अब वह खड़ा होने लगा। डगमगाकर दो-चार पग चलने भी लगा। उसकी बालसुलभ हरकतें सारे परिवार का मोद बढ़ाती। घर के आंगन में आनंद की फुलझड़ियां फूट पड़ती। किसा गोतमी अपने भाग्य को सराहती। बच्चे को गोद में लेकर प्यार से चूम लेती। इसी लाड़ले की वजह से उसके दिन फिरे। उसके दु:ख दूर हुए।

परंतु खुशियों के दिन बहुत शीघ्र पूरे हुए। एक दिन किसा गोतमी की खुशियों पर बिन बादल आकाश से बिजली पड़ी। घर के बाहर बगीचे में खेलते हुए नन्हें से बच्चे को विषधर काला नाग डस गया। देखते देखते हँसने मुस्कराने वाला चेहरा नीला पड़ गया। शरीर निश्चल हो गया। सांस रुक गयी। हृदय की धड़कन बंद हो गयी। घरवालों ने बहुत भाग-दौड़ की। दवा-दारू की। जंतर-मंतर करवाए। पर कुछ काम न आया। बच्चे के

प्राण-पखेरू उड़ गए। घर में हाहाकार मच गया। किसा गोतमी के दु:ख का ठिकाना नही। हर मां अपने इकलौते पुत्र पर आसक्त रहती है। पर किसा गोतमी के लिए तो सुख का एकमात्र आधार यह बालक ही था। इसी के कारण उसके दिन फिरे थे। अब क्या होगा? वह दु:ख के मारे पागल हो उठी।

जब लोगों ने कहा कि बच्चे के शव को श्मशान ले जाकर दफनाएंगे तो यह बोल उसके हृदय में भाले की तरह चुभ गए। ये लोग मेरे बच्चे को घर से बाहर निकाल देंगे। मैं ऐसा कदापि नही होने दूंगी। उसने बच्चे की लाश को कसकर छाती से चिपका लिया। करुण क्रन्दन करने लगी, ''नही, मेरा लाल अभी मरा नही है। जहर के नशे में केवल बेहोश हो गया है। गहरी नीद में सो गया है। कोई इसे होश में ला दे। कोई इसे जगा दे। यदि सचमुच प्राण निकल भी गए हैं तो कोई ऐसी ओषधि लाये जिससे प्राण वापस आ जायँ। यदि तुमसे नही होता तो मैं कही से मांगकर लाऊंगी, अपने लाल को जगाऊंगी।'' वह बच्चे को छाती से चिपकाए विक्षिप्त अवस्था में घर से निकल पड़ी। घर घर लोगों से याचना करती। राह में जो मिले उसी से पल्ला पसारकर भीख मांगती, ''मुझे कोई दवा दे दो, जिससे मेरा लाल जाग जाय। इसकी बेहोशी दूर हो जाय। यह मरा नही है।''

लोग उसे समझाते, ''माई, यह मर गया है। अब कोई ओषधि काम नही आ सकती। टूटी की बूटी नहीं होती।'' यह सुनकर वह और पागल हो उठती। बच्चे की लाश को जोरों से छाती से चिपकाती और किसी दूसरे के सामने दवा की भीख मांगती।

उसकी ऐसी दशा पर एक भाई को बहुत दया आयी तो उसने कहा, ''माई, कोई सामान्य वैद्य इसके लिए ओषधि नही दे सकता। इस समय लोक में महाभिषक, महावैद्य बुद्ध उत्पन्न हुए हैं। शहर के बाहर उनका जेतवन विहार है। भगवान इन दिनों वही टिके हैं। उनके पास जा। वे तुझे उचित ओषधि अवश्य देगें।''

उत्साह से भरी किसा गोतमी दौड़ती हुई जेतवन विहार पहुँची। भगवान उस समय साधकों को साधना की बारीकियां समझा रहे थे। आकुल-व्याकुल किसा गोतमी बिना रुके भगवान के समीप पहुँच गयी और बच्चे की लाश भगवान के चरणों के पास रखकर फूट-फूटकर रोने लगी।

''भन्ते भगवान! लोग मुझसे मेरा लाल छीन लेना चाहते हैं। यह मरा नही है, भगवन! यह सो गया है, बेहोश हो गया है। आप इसे जगा दें, आप इसे होश में ला दें।''

''बेटी! यह निष्प्राण है।''

किसा को धक्का लगा। वह फफक-फफककर रोने लगी और बोली, ''यदि निष्प्राण है तो भी भगवन! आप तो महाभिषक हैं। किसी ने कहा, आपके पास संजीवनी ओषधि है। मेरे बच्चे में नया प्राण फूंक दें। इसे ओषधि अवश्य दें।''

भगवान ने देखा, ऐसी भावावेशभरी विक्षिप्त अवस्था में यह धर्म की कोई बात समझने लायक नही है। भगवान ने यह भी देखा कि पटाचारा की तरह यह भी अपने पूर्व जीवन में भगवान काश्यप बुद्ध की सात बहिनों में से एक रही है और उनके पास खूब तपी है। प्रभूत पुण्य पारमिताएं अर्जित की हैं। इस समय अपने किसी दुष्कर्म का फल भोग रही है। परंतु अब इसकी दुःख-विमुक्ति का समय आ गया है।

भगवान ने शांत गंभीर वाणी में करुणा की मंदाकिनी बहाते हुए कहा, ''हां, बेटी! कहनेवाले ने ठीक ही कहा है। मैं भिषक ही हूं, वैद्य ही हूं। तुम्हें उचित ओषधि दूंगा।''

''दीजिए भगवन! मैं आपका उपकार कभी नही भूलूंगी।'' किसा के चेहरे पर आशा की किरण चमकी।

''नगर में जाकर चुटकी भर सरसों के दाने मांग ला।''

"अभी ले आती हूं, भगवन!"

यों कहकर किसा शीघ्रतापूर्वक उठी और जाने को उद्यत हुई।

"परंतु देखना, ऐसे परिवार से लाना, जिसमें आजतक कोई न मरा हो।"

"हां-हां भगवन! ऐसे ही परिवार से लाऊंगी।"

बच्चे को छाती से चिपकाए वह नगर की ओर बेतहाशा भागी। अब मेरा बच्चा अवश्य जी उठेगा। जो पहला घर दिखा, वही जाकर अपनी दुःखद कहानी सुनाई और चुटकी भर सरसों मांगी। घरवालों ने सहानुभूति-पूर्वक कहा, "माई, तेरा लाल जी उठे। चुटकी भर क्या? चाहे तो मन भर सरसों ले जा।"

"परंतु तुम्हारे यहां कोई मरा तो नही न!"

यह सुनकर घरवालों का मुँह उतर गया। "मरा कैसे नही, माई! हमारे परिवार में तो अनेक मरे हैं।"

यों एक-एक घर चुटकी भर सरसों की भीख मांगती हुई, किसा गोतमी नगर के मोहल्ले-मोहल्ले, गली-गली में भटकती फिरी। उसे एक भी ऐसा परिवार नही मिला, जिसमें कोई मरा न हो। दिन भर की थकी-मांदी शाम होते-होते होश में आ गयी। बात समझ में आ गयी। घर-घर में लोग मरते हैं। बच्चे भी, जवान भी, बूढ़े भी, नर भी, नारी भी। नगर में जीवित लोगों की संख्या के मुकाबले मरनेवालों की संख्या अधिक है। यह इतने सारे लोग अपने अपने प्रियजनों के मरने पर मेरी तरह पागल नही हो उठे। मरना जीना किसी के बस की बात नही। भगवान ने यह सत्य समझाने के लिए ही मुझे चुटकी भर सरसों के दाने लाने को कहा।

बात तो बहुत साधारण थी। केवल चुटकी भर दानों की मांग, परंतु

यही उस दुखियारी के हृदय में धर्म की चेतना जगाने के लिए प्रेरणा का पर्याप्त कारण बन गयी। उसका होश जागा। होश जागते ही बच्चे की लाश दफनाने के लिए छोड़ी और जेतवन आश्रम में भगवान के पास आश्रय पाने के लिए चली आयी।

भगवान ने उसे आते देखा तो पूछा, ''क्यों, बेटी! सरसों के दाने मिले?''

''नही भगवन! दाने तो नही मिले, पर खोया हुआ होश मिल गया। हर जनम लेनेवाले का मरना निश्चित है। पहले-पीछे सभी मरते हैं। कोई रुक नही सकता।''

भगवान ने देखा, अब इसकी मनस्थिति धर्म समझने लायक है। उसे धर्मदिशना दी। सारे वातावरण को विमल प्रशांत धर्म तरंगों से आप्लावित करते हुए भगवान बोले, ''मृत्यु सभी प्राणियों का अनिवार्य धर्मस्वभाव है। केवल गांववालों का नही, केवल नगरवालों का नही, केवल एक कुल के लोगों का ही नही, यह तो देवताओं समेत सभी लोगों का धर्म-स्वभाव है। सभी अनित्यधर्मा हैं, सभी मरणधर्मा हैं। इस सच्चाई को जो नही समझते, वे पुत्रों, पशुओं और धन-संपत्तियों के प्रति आसक्त रहते हैं। मोह-मूढ़ता में बेहोश रहते हैं और जन्म-जन्मांतरों तक बार-बार मृत्यु के चंगुल में पड़ते रहते हैं। जैसे नदी में एकाएक आयी हुई बाढ़ गहरी नीद में सोए हुए गांव को बहाकर ले जाती है, वैसे ही इन प्रमत्त-आसक्त लोगों को बार-बार मृत्यु बहाकर ले जाती है।

''कोई इस मोह-निद्रा से जागे, अपने भीतर अनित्यबोध जगाए, उदय-व्यय का दर्शन करे तो ही जन्म-जन्मांतरों के मृत्यु-दुःख से सदा के लिए मुक्त हो सकता है।

''सौ वर्षों तक बिना उदय-व्यय का दर्शन किए जीने की अपेक्षा

उदय-व्यय का दर्शन करते हुए केवल एक दिन का जीवन ही अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।''

महाकारुणिक की धर्मवाणी का अमृतरस कानों में पड़ते-पड़ते किसा गोतमी का अनेक जन्मों का संग्रहीत पुण्यफल जागा। शरीर के अणु-अणु में धर्म-चेतना जागी। वह एकाग्रचित्त हुई, स्वमुखी हुई, अंतर्मुखी हुई। ''उदय-व्यय, उदय-व्यय'' इस अनित्य धर्म का अपने भीतर सम्यक् दर्शन हुआ। उदय-व्यय, उदय-व्यय का दर्शन करते-करते उत्पाद-निरोध का दर्शन हुआ। विरज-विमल धर्म-चक्षु खुले और चंद क्षणों के लिए वही उसी अवस्था में निर्वाण का साक्षात्कार हुआ। किसा धन्य हुई। श्रोतापन्न अवस्था में प्रतिष्ठित हुई। नितांत दुःख-विमुक्ति के मार्ग पर प्रतिष्ठित हुई।

श्रद्धा और कृतज्ञता-विभोर हो उसने भगवान से प्रव्रज्या की याचना की। भगवान ने अनुमति दी। किसा गोतमी ने आदरपूर्वक भगवान की तीन बार प्रदक्षिणा की, उन्हें नमस्कार किया और भिक्षुणी विहार में जाकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

अब उसके दिन भगवान के सान्निध्य में साधना करने में बीतने लगे। भगवान की धर्मवाणी मन के बचे हुए मैल उतारने में सहायक सिद्ध हुई। वह बहुत दत्तचित्त हो विपश्यना-साधना में जुट गयी। एक दिन साधना करते हुए भगवान की अमृतवाणी उसके कानों में गूंजी :

यो च वस्ससतं जीवे अपस्सं अमतं पदं।
एकाहं जीवितं सेय्यो पस्सतो अमतं पदं॥

अमृत पद निर्वाण का साक्षात्कार किए बिना कोई भले सौ वर्ष का जीवन जी ले, परंतु उसके मुकाबले अमृतपद निर्वाण का साक्षात्कार करने वाले का एक दिन का जीवन भी अधिक श्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है।

इन प्रेरणाभरे शब्दों ने किसा गोतमी के मन में धर्म-संवेग जगाया। मैंने क्षणभर निर्वाण का साक्षात्कार कर श्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की, परंतु नितांत विमुक्ति के लिए अर्हंत की निरोध समापत्ति वाली निर्वाणिक अवस्था का साक्षात्कार करना होगा। तभी आवागमन के भवचक्र से छुटकारा मिलेगा। इस प्रेरणा से प्रेरित होकर दृढ़ पराक्रम से विपश्यना करते हुए उसने क्रमशः सकदागामी, अनागामी और अर्हंत फल प्राप्त किया। साधना सफल हुई। भवबंधन खुले। साधिका जीवनमुक्त हुई।

किसा गोतमी भगवान की प्रमुख शिष्याओं में से एक हुई। भिक्षुणियों का जीवन अत्यंत सादगी का जीवन। पर उन भिक्षुणियों में भी सबसे अधिक सादगी का जीवन जीनेवाली किसा गोतमी को भगवान ने मोटे, रूखे चीवर धारण करनेवालियों में अग्र होने का पद प्रदान किया।

परम साध्वी किसा गोतमी ने अपना शेष जीवन लोकसेवा में ही बिताया। कितनी ही दुखियारी नारियां उसकी प्रेरणा और मार्गदर्शन से दुःख-विमुक्ति के मार्ग पर चलीं। किसा गोतमी के करुणाभरे चित्त ने नारियों के दुःख को खूब समझा। कितने प्रकार के दुःख ? उपयुक्त वर और ससुराल न मिले तो दुःख। सपत्नी हो तो दुःख। संतान न हो तो दुःख। हो तो गर्भ पालने का दुःख। प्रसव का दुःख। संतान के लालन-पालन का दुःख। संतान दुराचारी हो जाय तो दुःख। संतान होकर मर जाय तो दुःख। स्वयं दुराचारिणी हो जाय तो दुःख। अपने पूर्व जन्म की बहन पटाचारा का उदाहरण याद आया। दुराचरण के कारण पति, दोनों संतानों और मां बाप तथा भाई के मरने का असीम दुःख सहना पड़ा उसे। इस लोक-चक्र में दुःख-ही-दुःख। जिस कल्याणकारी मार्ग को पाकर किसा स्वयं दुःखों से मुक्त हुई, वही औरों को बांटने लगी।

कभी अपने भूतकाल का सिंहावलोकन करती तो भगवान के प्रति कृतज्ञता के भावों से विभोर हो उठती। ''मैं कितनी भाग्यशालिनी हूं कि मुझे

भगवान तथागत जैसे कल्याणमित्र मिले। कल्याणमित्र की संगत मिलती है तो जीवन मंगल से भर उठता है। दुर्जन-से-दुर्जन व्यक्ति इस सत्संगति से सज्जन हो जाता है। दुखियारा दुःख विमुक्त हो जाता है। वह दुःख का भोगना छोड़कर दुःख का दर्शन कर लेता है। दुःख के मूल कारण का दर्शन कर लेता है। दुःख-विमुक्ति के मार्ग पर स्वयं चलकर उसका दर्शन कर लेता है और इस प्रकार नितांत दुःख-निरोध अवस्था परमपद निर्वाण का दर्शन कर लेता है।

मुझ जैसी दुखियारी ने इसी एक जीवन में नही, अनगिनत पूर्व जन्मों में भी कितने दुःख झेले हैं। न जाने मेरे कितने प्रियजन मरे हैं। इन मृत प्रियजनों की हड्डियां एक जगह एकत्र कर दे तो हिमालय जैसा पहाड़ खड़ा हो जाय। इनके मरने पर मैंने जितने आंसू बहाए हैं, उन्हें एक जगह एकत्र कर दे तो सभी समुद्रों के जल से अधिक हो जाय।

महाकारुणिक की सत्संगति के कारण ही मेरे सारे दुःख दूर हुए। मैंने शील, समाधि और प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलकर धर्म के दर्पण में परम सत्य का साक्षात्कार किया। जन्म-जन्म के बोझ उतर गए। हृदय में चुभा हुआ मर्मभेदी पीड़ादायी तृष्णा का तीर निकल गया। मैं कृतकृत्य हुई, विमुक्त हुई, धन्य हुई।''

ऐसा कल्याणकारी मार्ग सब को मिले!

ऐसी मुक्तिदायिनी प्रेरणा सब में जागे!

१० / वस्त्राभूषण की गठरी

भगवान गौतम बुद्ध ने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर ऋषिपत्तन मृगदाय में पहला वर्षावास किया। वही साठ साधकों को अर्हंत अवस्था तक की साधना करवाकर बहुजन-हित सुख के लिए उन्हें विभिन्न दिशाओं में भेजा। स्वयं भी पूर्व की ओर चल पड़े। गया के काश्यप बन्धुओं को मिथ्या कर्मकांडों से मुक्ति दिलाकर मुक्तिदायिनी साधना सिखाई और अपना पूर्व वचन निभाने के लिए मगध नरेश को धर्म सिखाने राजगृह गए। महाराज बिम्बिसार शुद्ध धर्म के सात्विक मार्ग से प्रभावित होकर भगवान के अनुयायी हो गए। महाराज शुद्धोधन को अपने पुत्र की अमूल्य उपलब्धि और सफ़लता की सूचना मिली तो वह भाव-विभोर हो उठे। उन्होंने पुत्र को कपिलवस्तु आमंत्रित किया। भगवान बहुत बड़ी संख्या में भिक्षुओं को साथ लेकर लोक-कल्याणहित कपिलवस्तु गए। कपिलवस्तु के शाक्यवंशी भगवान के उपदेशों से अत्यंत प्रभावित हुए। बहुत बड़ी संख्या में सद्धर्म के पथ पर आरूढ़ हुए। गृही जीवनकाल का छोटा भाई राजकुमार नंद प्रव्रजित हुआ। पुत्र राहुल प्रव्रजित हुआ।

कुछ दिनों पश्चात् भगवान ने शाक्यदेश छोड़कर समीप के मल्लदेश की ओर प्रस्थान किया। मल्लों के अनूपिया नामक कस्बे में कुछ दिनों रुके। भगवान के चले जाने के बाद भी कपिलवस्तु में उनके धर्मोपदेश की बहुत चर्चा होती रहती थी। लोगो में साधना के प्रति धर्म संवेग जागता रहता था। अनेक शाक्य राजकुमार घरबार छोड़कर भिक्षु बनकर साधना के लिएं भगवान के साथ चले गये थे। जो बचे, उनमें भी सद्धर्म के प्रति रुचि जाग रही थी। उनमें के छह राजवंशियों ने मल्ल देश जाकर भगवान की शरण ग्रहण करने का निर्णय किया। शाक्य राजा भद्दिय, राजकुमार अनिरुद्ध, आनंद, भृगु, किंबिल और देवदत्त, राजसेवक उपालि को साथ लेकर अनूपिया की ओर चल पड़े। उपालि राजघराने का,नाई था। चिरकाल से

राजघराने की सेवा किया करता था। गृही राजकुमार सिद्धार्थ गौतम के भी बाल काटता और उन्हें सजाता सँवारता था। रास्ते में सेवा-टहल के लिए राजपुत्रों ने उपालि को साथ ले लिया था।

अपने राज्य की सीमा को पार कर जब मल्ल राज्य की सीमा में पांव रखा तो छहों राजपुत्रों ने अपने-अपने कीमती वस्त्राभूषण उतार दिए और गृहत्यागियों के अनुरूप सादे बाने पहन लिये। उन मूल्यवान वस्त्राभूषणों की एक गठरी बनाई और नाई उपालि को देते हुए कहा, ''भणे, यह तुम्हारे लिए है। जीवन-निर्वाह के काम आएगी। इसे लेकर अब तुम लौट जाओ। हम भगवान गौतम बुद्ध के पास प्रव्रजित होने जा रहे हैं।''

उपालि अवाक् रह गया। इतने आभूषण। उसके अपने ही नही, आगे की एक दो पीढ़ियों के भरग-पोषण के लिए पर्याप्त थे। प्रसन्न चित्त उपालि मालिकों को नमस्कार कर लौट चला। थोड़ी दूर चलने पर उसे होश आया — जब घर लौटूंगा तो लोगों को संदेह होगा कि कही राजपुत्रों की हत्या करवा कर तो मैंने यह मालमत्ता नही हथिया लिया। शाक्यवंशी बड़े चंड स्वभाव के होते हैं। इसी संदेहवश मुझे सूली पर चढ़ा सकते हैं। मेरा सिर उतार सकते हैं। ना बाबा ना, ऐसा धन मुझे नही चाहिए। मैं अपनी सामान्य मेहनत-मजदूरी द्वारा ही पेट पालूंगा। यह वस्त्राभूषण मेरे काम के नही। वह गठरी राह के एक पेड़ की शाखा पर लटका दी और उस पर एक सूचना लिखकर चिपका दी ''यह गठरी जिस राहगीर को मिले, उसीकी है। वह इसका निःसंकोच उपभोग करे।''

इतनी मूल्यवान गठरी जिस किसी को प्राप्त होगी, वह निहाल हो जाएगा। अपना भाग्य सराहेगा। यों प्रमुदित चित्त से शाखा पर टंगी उस गठरी को देखते हुए उपालि के मन में एक बात बिजली की तरह कौंधी — ''ये सुख-संपदा संपन्न राजपुत्र केवल यही वस्त्राभूषण नही, प्रत्युत राजघराने के सारे ऐश्वर्य-आराम को, विलास-वैभव को त्यागकर भिक्षु का

जीवन जीने जा रहे हैं। अवश्य ही उस अकिंचन जीवन में राजवैभव से कही अधिक सुख होगा। भगवान बुद्ध जितने दिन राजनगरी कपिलवस्तु में रहे, उनकी बड़ी कीर्ति-प्रशंसा सुनी। अवश्य ही उनका मार्ग परम सुख का मार्ग है। मुझे भी घरबार छोड़कर उसी मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।''

राजपुत्रों द्वारा त्यागी इस गठरी ने उपालि नाई के मन में तीव्र धर्म-संवेग जगाया। वह उल्टे पांव तेज गति से लौट आया और उन छहों राजपुत्रों से आ मिला, ''मैं भी आपके साथ भगवान बुद्ध की शरण ग्रहण करूंगा। उनके अनुशासन में भिक्षु का जीवन जीऊंगा और मनुष्य-जीवन सार्थक करूंगा।'' राजपुत्र खुश हुए। उपालि को साथ ले लिया।

सातों अनूपिया के मल्लों द्वारा अर्पित विहार में पहुँचे, जहां भगवान भिक्षुओं के साथ टिके हुए थे। सबने भगवान को नमस्कार कर प्रव्रज्या मांगी। जब भगवान उन्हें प्रव्रजित करने के लिए तैयार हुए तो उन छहों राजकुमारों ने कहा, ''भगवन, पहले उपालि नाई को प्रव्रजित कीजिए, उसके बाद हमें। ऐसा होने पर प्रव्रजित जीवन में यह हमारा ज्येष्ठ होगा, पूज्य होगा। भिक्षु नियमों के अनुसार हमें इसे झुककर नित्य नमस्कार करना होगा। अपने ही पूर्व सेवक नाई को झुककर अभिवादन करेंगे तो ही हमारा अहंकार टूटेगा। भगवन! राजपुत्रों को बड़ा अहंकार होता है और शाक्यवंशी राजपुत्रों का तो कहना ही क्या! सभी वर्णों में क्षत्रिय श्रेष्ठ और क्षत्रियों में भी हम शुद्धरक्त इक्ष्वाकुवंशीय शाक्य क्षत्रिय परम श्रेष्ठ। यह अभिमान कैसे टूटे! इसके टूटे बिना शुद्ध धर्म कहां! मुक्ति कहां!''

भगवान ने मुस्कराकर उनकी बात मान ली। इन शाक्यवंशी राजपुत्रों के गृहत्यागी जीवन में भिक्षु उपालि अग्र हुए। समय पाकर भदन्त उपालि भिक्षु नियमों के विनय क्षेत्र में सभी भिक्षुओं के अग्र हुए।

उपसंपदा प्राप्त होने पर एक बार उपालि ने भगवान से साधना की विधि सीखकर प्रार्थना की – ''भन्ते भगवन! मुझे अरण्यवास की आज्ञा

दीजिए।'' भगवान ने कहा, ''अरण्य में जाकर साधना करने से तेरा एकपक्षीय ज्ञान बढ़ेगा, लेकिन यही विहार में मेरे पास रहकर साधना करने से उभयपक्षीय ज्ञान बढ़ेगा। तुम ग्रन्थधुर और विपश्यनाधुर यानी परियत्ति और पटिपत्ति यानी धर्म का सैद्धान्तिक पक्ष और व्यावहारिक पक्ष दोनों में निपुण हो जाओगे, परिपूर्ण हो जाओगे। अतः अरण्य न जाकर विहार में ही रहो।''

भिक्षु उपालि ने भगवान का कहना माना। उनके सान्निध्य में विहार में ही रहकर विपश्यना करते हुए अर्हंत अवस्था प्राप्त की। साथ ही भगवान के पास रहते हुए भिक्षुओं के लिए बनाए गए विनय-शील यानी अनुशासन नियमों की पूरी जानकारी प्राप्त की और उनका पालन किया। उपालि भगवान के प्रमुख शिष्यों में से एक हुए। उपालि की धर्मलब्धि से संतुष्ट हो भगवान ने उसे विनयधर भिक्षुओं में सर्वश्रेष्ठ घोषित किया। अग्र की उपाधि से विभूषित किया। जन्म से न कोई ऊंची जात का होता है, न नीची जात का। ऊंचा या नीचा, बड़ा या छोटा कर्म से ही होता है। यह बात केवल सैद्धांतिक स्तर पर स्वीकार कर लेना आसान है, पर इसे व्यवहार में उतारना कठिन है। जो सद्धर्म के रास्ते चलता है, वह इसे व्यवहार में उतारता है। जन्म से शूद्र माना जानेवाला उपालि कर्म से ब्राह्मण बन गया। ज्येष्ठ श्रेष्ठ बन गया। पावन पूज्य बन गया।

किसी एक हर्ष उल्लास के समय महास्थविर उपालि ने यह उदान कहा :

सद्धाय अभिनिक्खम्म नवपब्बजितो नवो।
मित्ते भजेय्य कल्याणे सुद्धाजीवे अतन्दिते॥

श्रद्धापूर्वक गृह त्यागकर जो तरुण प्रव्रजित हुआ है, उसे चाहिए कि ऐसे कल्याणमित्र की संगति करे, जो निरालस और शुद्ध आजीविका का जीवन जीता हो।

सद्धाय अभिनिक्खम्म नवपब्बजितो नवो।
संघस्मि विहरं भिक्खु सिक्खेथ विनयं बुधो॥

श्रद्धापूर्वक गृह त्यागकर जो तरुण प्रव्रजित हुआ है, उस समझदार को चाहिए कि वह भिक्षु संघ में रहता हुआ विनय के नियमों को सीखे।

सद्धाय अभिनिक्खम्म नवपब्बजितो नवो।
कप्पाकप्पेसु कुसलो चरेय्य अपुरक्खतो॥

श्रद्धापूर्वक गृह त्यागकर जो तरुण प्रव्रजित हुआ है, उसे चाहिए कि उचित अनुचित को समझते हुए, आचरण में उतारते हुए धर्म का पालन करे।

महास्थविर उपालि स्वयं युवावस्था में श्रद्धापूर्वक गृह-त्याग कर भगवान बुद्ध जैसे कल्याणमित्र के सान्निध्य में रहे। संघाराम में रहकर भिक्षु नियमों को भलीभांति सीखा और फिर निष्ठापूर्वक धर्म धारणकर मुक्त हुए। इस हर्षोद्गार द्वारा अर्हंत उपालि यही सीख औरों को भी देते हैं।

राजकुमारों द्वारा त्यागी वस्त्राभूषण की गठरी नापित उपालि के लिए धर्म धारण की प्रेरणा बनी। विमुक्त महास्थविर उपालि की उल्लासभरी वाणी अनेकों के लिए प्रेरणा का कारण बने। इसी में मंगल कल्याण निहित है।

भिक्षु उपालि ने किसी एक प्रसंग में भगवान के मुँह से संक्षेप में धर्म की ऐसी कल्याणकारिणी व्याख्या सुनी, जो कि सभी मुमुक्षुओं के लिए सदैव मार्गदर्शिका बनी रहेगी।

भगवान ने कहा, '' उपालि, जो धर्म न संपूर्ण निर्वेद के लिए हैं, न विरक्ति के लिए हैं, न निरोध के लिए हैं, न उपशमन के लिए हैं, न अभिज्ञा के लिए हैं, न सम्बोधि के लिए हैं और न निर्वाण के लिए हैं; उनके बारे में अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि न यह वस्तुतः सही धर्म हैं, न विनय हैं और न ही शास्ता के अनुशासन हैं।''

सही माने में धर्म तो वही होगा, साधकों के लिए पालन करने योग्य विनय तो वही होगा, किसी भी बुद्ध जैसे शास्ता का अनुशासन तो वही होगा, जिसके बारे में स्वयं अनुभव से जान लिया जाय कि यह समस्त लोकीय अनुभूतियों के प्रति निर्वेद पैदा करने में सहायक है, यह सम्पूर्ण ऐन्द्रिय विषयों के प्रति विरक्ति पैदा करने में सहायक है, यह सभी दुःखों के निरोध करने में सहायक है, यह सभी विकारों के उपशमन में सहायक है, यह ऐसे अभिज्ञान के लिए सहायक है, जिसे जगाकर साधक अपने भीतर समस्त आस्रवों के निर्मूलन की अवस्था का स्वयं दर्शन कर लेता है, यह स्वयं अपनी सम्बोधि जगाने में सहायक है, यह नित्य, शाश्वत, ध्रुव निर्वाण का साक्षात्कार कराने में सहायक है तो ही धर्म है, अन्यथा धर्म नही। शुद्ध धर्म को मापने की एक ही कसौटी है। ●

११ / वासना-विमुक्ति का मार्ग

कोशल देश की राजधानी, महानगरी श्रावस्ती। उन दिनों भगवान श्रावस्ती में ही अनाथपिंडिक के जेतवन में विहार कर रहे थे। बड़ी संख्या में साधक-साधिकाएं भगवान से विपश्यना-साधना सीखते थे। समय-समय पर धर्म-चर्चा होती थी।

भगवान की अमृतवाणी सुनने के लिए नगर से अन्य लोग भी आते थे और लाभान्वित होते थे। एक दिन नगर का ब्राह्मण अभय धर्मदेशना में आया। उस दिन भगवान ने समझाया कि किस प्रकार विपश्यना-साधना द्वारा साधक सभी मनोविकारों से मुक्त हो सकता है। गृहस्थ अभय काम वासना के विकार से बहुत व्यथित रहता था। चाहता था किसी प्रकार उससे छुटकारा पाए, परंतु अनेक उपाय आजमाने पर भी उसे सफलता नही मिली। भगवान की वाणी में उसे आशा की झलक दिखाई दी। यह साधना अपनी परंपरागत दार्शनिक मान्यता को पुष्ट नही करती। परंतु युक्तिसंगत लगती है। अतः इस वैज्ञानिक विधि का अभ्यास करके मुझे वासना से मुक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिए। उसने सोचा, घर के राग-रंगमय वातावरण में रहते हुए विपश्यना-साधना द्वारा वासना से पूर्ण मुक्ति पा सकने में बहुत समय लग सकता है। अतः घरबार छोड़कर भिक्षु हो, भगवान के विहार में रहने लगा और विपश्यना-साधना का नियमित अभ्यास करने लगा। विपश्यना-साधना से उसे अनेक प्रकार के लाभ हुए। विकारों का शमन हुआ। उसे लगा कि उसकी काम-वासना भी दूर हो गयी है। परंतु अभी अनुशय क्लेश के रूप में वासना के पूर्व संस्कार अंतर्मन की गहराइयों में भवंग अवस्था में सोए पड़े थे, उनकी न उदीर्णा हो पायी थी और न ही निर्जरा।

भिक्षु अभय प्रतिदिन भिक्षाटन के लिए नगर में जाता। भिक्षु नियमों के

अनुसार हमेशा नजर नीची किए हुए भिक्षा लेता और विहार लौटकर आहार ग्रहण करता और ध्यान भावना में रत हो जाता।

एक दिन भिक्षाटन के समय किसी घर के सामने नीची नजर किए हुए भिक्षा पात्र में भिक्षा ग्रहण कर रहा था। भिक्षा देनेवाली गृहणी के मेंहदी रचे मनहर पांवों पर उसकी नजर पड़ी और अपने भिक्षु-स्वभाव के विपरीत एकाएक नजर ऊपर उठ गयी। सामने रूप-राशि लिए नवयौवना खड़ी थी। भिक्षु अपलक देखता ही रह गया। ऐसा रूप-सौंदर्य उसने पहले कभी न देखा था। रूपगर्विता युवती यह देखकर मुस्करायी। उसे अपनी रूप-संपदा पर अधिक गर्व जागा। वह मुस्कराती, इठलाती हुई अपने घर के भीतर चली गयी।

भिक्षु अभय विहार लौटा। पर न भोजन अच्छा लगा, न ध्यान-भावना में मन लगा। बार-बार उस रूपसी की लुभावनी चितवन, मनभावनी मुस्कान और चित्ताकर्षक कनक देहयष्टि बंद आंखों के सामने प्रकट होने लगी। भिक्षु काम-विह्वल हो उठा। ध्यानांगन में जरा भी मन न टिके, कामांगन में ही मन लोटपलोट लगाता रहे। वही चितवन, वही मुस्कान, वही देहयष्टि। साधक भिक्षु की बड़ी दयनीय दशा हो गयी। बीच बीच उसे कभी होश आता। अपनी दशा पर बड़ी ग्लानि होती। जानता था कि ग्लानि से विकार विमुक्त नही हो सकता। पर क्या करे ?

सौभाग्य से भगवान की धर्मवाणी उसके कानों में गूंज उठी,

"**रूपं दिस्वा सतिमुट्ठा** रूप देखकर सतिमुट्ठा हो गयी, स्मृति मिथ्या हो गयी,"

क्यों कि '**पियनिमित्तं मनसिकरोतो**' मन में प्रिय माने हुए निमित्त का चिंतन चलने लगा।

ऐसी अवस्था में '**सारत्तचित्तो**' **वेदेति** चित्त शरीर पर होनेवाली

संवेदनाओं को महसूस तो करता है, पर उन्हें प्रिय मानकर राग-रंजित हो उठा है।

और **'तं च अज्झोस तिट्ठति'** उसी में डुब कर रह जाता है।

परिणाम-स्वरूप **'तस्स वड्ढन्ति आसवा'** ऐसे व्यक्ति के आस्रव बढ़ते हैं। भव-संस्कारों का संवर्धन होने लगता है।

ऐसे भव-संस्कारों का जो कि **'भवमूलोपगामिनो'** भवमूल या भवंग की ओर, अचेतन चित्त की ओर पैठते और संग्रहीत होते रहते हैं।''

भगवान के इन शब्दों से जैसे साधक अभय को एक बिजली का-सा करेंट लगा। तीव्र कामवासना जागने की यह घटना उसकी मुक्ति के लिए अद्भुत प्रेरक प्रसंग बनी। वह अपनी स्मृति को, जागरूकता को, **'सतिमुट्ठा'** से **'सतिपट्ठान'** की ओर मोड़ने लगा। बड़ा दृढ़ पराक्रम किया। यथाभूत ज्ञानदर्शन की विपश्यना शुरू की। ''मेरे चित्त पर इस समय कामवासना के विकार जागे हैं और उसकी वजह से शरीर पर संवेदना हो रही है।'' दोनों को साक्षीभाव से देखने लगा। दोनों ही अनित्य स्वभाव वाले हैं। देखें, कब-तक रहते हैं। बस देखने लगा। उन्हें दूर करने का उपक्रम बंद किया और विपश्यना अपना काम करने लगी। शीघ्र ही तूफान से मुक्त हुआ और इतना ही नही, यों संवेदनाओं पर कुछ दिनों काम करते-करते सभी अंतःशायी कामविकारों का क्षय कर लिया। जीवन-मुक्त हुआ।

भिक्षु अभय अर्हंतों में से एक हुआ। ●

१२ / अमृतमयी वाणी

कपिलवस्तु का एक शाक्य राजकुमार उत्तिय। भगवान का उपदेश सुनकर प्रव्रजित हुआ। कामवासना के संस्कारों को जड़ से उखाड़ना चाहता था। समझ गया था कि विपश्यना ही इसका एक मात्र सहज वैज्ञानिक साधन है। अतः अभ्यास में लग गया।

एक दिन भिक्षाटन के लिए जब गांव गया तो किसी एक कोकिलकंठी नारी की स्वरमाधुरी सुनकर मोहमुग्ध हो गया। कामातुरी नारी के गीत में काम-भोग का आह्वान था। बोल भिक्षु के अंतर में पैठ गए और उसका मन मंथन करने लगे। साधक कामवासना के ज्वर से संतापित हो उठा, जर्जरित हो उठा। स्मृति-विभ्रम की अवस्था में अभिभूत हो उठा। गीत के वह बोल ही मानस पर बार-बार उभरने लगे। ऐसे समय भगवान की अमृतवाणी के शब्द याद आए.....

"सद्दं सुत्वा सतिमुट्ठा पियनिमित्तं मनसिकरोतो" आदि-आदि। याने शब्द सुनकर स्मृति भ्रष्ट हो जाती है, शब्द का आलंबन ही प्रिय लगने लगता है और मानस उसी रस में रंजित होकर डूबने लगता है। भव संसार के प्रवाह की ओर बहानेवाले ऐसे आस्रवों का, काम संस्कारों का संवर्धन होने लगता है।

उसे तुरंत होश आ गया। कामशब्दों में रागरक्त हो डूबने का यह प्रसंग उसके लिए बहुमूल्य प्रेरणा का कारण बना, मुक्ति का कारण बना। उसमें अपरिमित उत्साह जागा और वह **'सतिमुट्ठा'** को **'सतिपट्ठान'** में बदलते हुए वासना की न केवल तत्कालीन बाढ़ के बाहर निकाला, बल्कि सही तरीके से संवेदनाओं के आधार पर विपश्यना करता हुआ भव संस्कार के संवर्धन से छुटकारा पाकर चिरसंचित वासना की उदीर्णा और क्षय में लग गया। समय पाकर भिक्षु उत्तिय सर्वथा विकार विमुक्त हुआ और अर्हंतों में से एक हुआ। ●

१३/ मुक्तिदायिनी धर्म-साधना

भगवान बुद्ध के दो शताब्दी बाद जब देश में अशोक नाम का सम्राट हुआ। उसके अनेक भाइयों में से एक था वीताशोक। राजपुत्रों को जिन विद्याओं और शिल्पकलाओं के कौशल में निपुण होना चाहिए, राजकुमार वीताशोक युवा अवस्था को प्राप्त होते-होते उन सब में निपुण हो गया। अपने बड़े भाई की देखरेख में राजकाज की जिम्मेदारियां सँभालने लगा। कालांतर में अशोक बदला। आदि, मध्य और अंत में सर्वतोभद्र कल्याणकारी शुद्ध धर्म के संपर्क में आया तो चण्डाशोक से धम्माशोक हो गया। भगवान की सर्वमांगल्यमयी धर्मवाणी और उनके बताए हुए साधनामार्ग का तत्कालीन धर्माचार्यों के कुशल निर्देशन में प्रतिपादन करते हुए सम्राट अशोक ने अपूर्व शांति अनुभव की। धर्मराज के हृदय में अपनी प्रजा के प्रति असीम वात्सल्य जागा। राज्य की आमदनी प्रजा की सुरक्षा के साथ-साथ उसकी सुख-सुविधा में खर्च होने लगी। सड़कों का निर्माण किया गया जिनके किनारे-किनारे फल और छायावाले वृक्ष लगाए गए। थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पानी और प्याऊ का प्रबंध किया गया। स्थान-स्थान पर धर्मशालाएं बनी। अनेक औषधालय बने। मनुष्यों के लिए ही नही, पशुओं के लिए भी। इन सब से बढ़कर लोगों को सांप्रदायिकता-विहीन, शुद्ध धर्म की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करने के लिए राज्य की ओर से धर्मामात्य नियुक्त किए गए। स्थान-स्थान पर प्रस्तर शिलाओं और पाषाण स्तंभों पर शुद्ध धर्म की वाणी खुदवाई गयी ताकि राज्य के शासनाधिकारी और प्रजा उसे पढ़कर सद्धर्म के प्रति उत्साहित हों। स्थान-स्थान पर साधना केन्द्रों की स्थापना की गयी ताकि लोग संयम और चित्तशुद्धि का अभ्यास कर स्वयं लाभान्वित हो सकें।

लोगों पर धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। इसके साथ साथ राज्य परिवार के सदस्यों में भी धर्म-भावना बढ़ रही थी। सब नही तो भी अधिकांश इस

धर्म-गंगा में डुबकी लगाने लगे और धर्मसुधा का रसपान कर कृतार्थ होने लगे। अपने रनिवास के लिए उसने विशेष धर्माचार्यों को नियुक्त किया।

सम्राट का अनुज वीताशोक पुण्यशाली था। धर्म ने उसे प्रभावित किया। भगवान की वाणी में उसने शांति और निर्मलता का संदेश पाया। वह गृहस्थ रहते हुए ही पूज्य भिक्षु गिरिदत्त स्थविर के चरणों में बैठकर सारा सुत्तपिटक पढ़ गया। हृदय को छू जाने वाली इस महामांगल्यमयी भगवद्वाणी ने राजकुमार वीताशोक को अभिभूत कर लिया। सरल भाषा में कही गयी भगवान की अमृतवाणी पढ़कर धर्म की गुत्थियां गुत्थियां नही रह गयी। कल्पनाओं और अंध मान्यताओं के जंजाल अपने आप दूर होने लगे। सत्य का आलोक अज्ञान के अंधकार को विदीर्ण करने लगा। कार्यकारण की नैसर्गिक नियमावली स्पष्ट समझ में आने लगी। प्रतीत्य-समुत्पाद की कड़ियों पर आधारित भव-प्रवाह बहुत साफ दीखने लगा। कड़ियों के टूटने पर भवप्रवाह के निरुद्ध हो जाने की बात भी बहुत साफ समझ में आयी। चित्त और चित्त की चेतना तथा भौतिक शरीर की क्षण-क्षण परिवर्तित संतति कैसे एक दूसरे को प्रभावित करती है और कैसे इन्हें भली प्रकार समझकर भवधारा से मुक्ति पायी जा सकती है? यह बात भी स्पष्ट हुई। भव-प्रवाह दुःख ही है और इसका मूल कारण है तृष्णा, जिससे इसका समुदय होते रहता है। इस कारण के निवारण से यह प्रवाह स्वतः रुक जाता है। इस कारण के निवारण के लिए कितनी स्पष्ट लेकिन परिश्रम-साध्य विधि जिसके अभ्यास से कोई भी व्यक्ति दुःखनिरोध की परम अवस्था प्राप्त कर सकता है। यों सुत्तपिटक का अध्ययन पूरा करवा कर आचार्य गिरिदत्त स्थविर ने वीतशोक को अभिधम्म पिटक की गंभीर शिक्षा का पारायण करवाया। नाम और रूप के पारस्परिक संबंधों की बारीकियां समझ में आयी तो वीताशोक का हृदय आह्लाद-विभोर हो उठा।

इन दोनों पिटकों की परियत्तिजनक शिक्षा याने शास्त्रीय शिक्षा के साथ-साथ आचार्य गिरिदत्त भिक्षु ने अपने राज शिष्य को प्रतिपत्ति का भी

अभ्यास कराया याने साधना भी सिखायी। पढ़ी और सुनी हुई सच्चाई का दर्शन जब अनुभूति पर उतरने लगा तो चित्त श्रद्धा से प्रभावित होकर ऋजु होता चला गया। अपने परिवार और राजकाज की जिम्मेदारियों को निभाते हुए वीताशोक एक आदर्श गृहस्थ का जीवन जीने लगा।

समय बीतता गया। एक दिन बाल कतरने के लिए नाई आया। उसने सिर और मूछ-दाढ़ी के बाल काटे, सँवारे और तब सदा की भांति वीताशोक के हाथ में दर्पण पकड़ा दिया। उसने दर्पण में अपना चेहरा देखा। देखा अब बाल पहले जितने काले और चिकने नहीं रह गए हैं। स्थान-स्थान पर पके बाल शरीर की जर्जरता का संदेश ले आए हैं। चेहरे पर भी जीर्णता के लक्षण उभरने लगे हैं।

यह देखकर वीताशोक के मन में बड़ा धर्म संवेग जागा। अनेक पूर्व जन्मों की तरह क्या यह जीवन भी यों ही बीत जायेगा। मानव का अनमोल जीवन मिला और ऐसी मुक्तिदायिनी धर्म-साधना मिली। मुझे इसका लाभ उठाना चाहिए। मृत्यु का क्या भरोसा ? कभी आ घेरे।

यों धर्मचेतना जागी तो दृढ़तापूर्वक धर्मसाधना में लग गया और शीघ्र ही स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हो गया। जब काया और चित्त के परे की इन्द्रियातीत अमृत अवस्था का साक्षात्कार हुआ तो धर्म संवेग और घनीभूत हो उठा। मुझे मानव-जीवन का और इस मुक्तिदायिनी विद्या का पूरा-पूरा लाभ लेना है। अतः गृहस्थ जीवन छोड़कर राजमहल के मिथ्या प्रलोभनों को त्यागकर सिर और चेहरे के बाल कटवाकर चीवर धारण किया और प्रव्रजित हो भिक्षु गिरिदत्त के मार्ग-निर्देशन में विपश्यना-साधना में लीन हो गया। सूक्ष्म सत्य दर्शन का अभ्यास करते-करते समय पाकर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह हुआ तो सही माने में वीताशोक हो गया। अर्हंत हो गया। मानव जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त हो गया और तब स्वतः उदान के ये शब्द मुखरित हुए :

केश काटने के लिए नाई मेरे पास आया। उससे दर्पण लेकर मैंने अपने शरीर का प्रत्यवेक्षण किया और तभी विपश्यना की अंतर्दृष्टि जागी :

तुच्छो कायो अदिस्सित्थ – इस जरा धर्मा, मरण धर्मा, क्षण-क्षण परिवर्तन धर्मा शरीर की निस्सारता, तुच्छता का कायानुपश्यना साधना से स्वयं प्रत्यक्ष दर्शन किया।

अंधकारे तमो ब्यगा – अविद्या का सारा अंधकार विदीर्ण हो गया।

सब्बे चोळा समुच्छिन्ना – भव संस्कारों के सारे परदे उच्छिन्न हो गए। परम सत्य अनावरित हो गया।

नत्थिदानी पुनब्भवो – अब मेरे लिए पुनर्जन्म नहीं है। पुनर्जन्म के कारणभूत समस्त भव संस्कार ही उखड़ गए। भवनेत्री ही टूट गयी तो पुनर्जन्म कैसा ?

सफेद बालों के दर्शन ने साधक को परम सत्य का दर्शन कर सकने की प्रेरणा प्रदान की। एक भाग्यशाली सम्राट अशोक को शुद्ध धर्म मिला तो सारा देश धन्य हो उठा। देश के अनगिनत लोगों को सच्ची सुख-शांति का मार्ग मिला।

राज्य परिवार के इक्के-दुक्के लोग अभागे रहे, धर्म-विमुख रहे। लेकिन बाकी सब मंगलमार्गी हुए। उनमें से अनेक इसी जीवन में मुक्त हुए, अर्हंत हुए। वीताशोक उनमें से एक था। ●

१४ / भंगी से ब्राह्मण

रात्रि के निविड़ अंधकार को स्वर्णिम रश्मियों से दूर करते हुए भुवन-भास्कर प्राची में उदय हो रहे थे। प्रसुप्त वातावरण में जागरण की उर्मियां अँगड़ाइयां लेने लगी थी। सर्वत्र नवजीवन प्रस्फुटित हो रहा था।

ऐसे समय आदित्यबंधु भगवान तथागत अपनी प्रज्ञा-रश्मियों से अविद्या के गहन अंधकार को विदीर्ण करते हुए भिक्षु संघ के साथ मगध की राजधानी राजगृह की ओर प्रयाण कर रहे थे। उनके मन मानस से फूट फूटकर निकली हुई धर्म-तरंगे समस्त वातावरण में नवचेतना जागृत कर रही थी। सारे वायुमंडल में तथागत की अपरिमित मैत्री और करुणा के अजस्र श्रोत उद्वेलित हो रहे थे। भगवान और उनका भिक्षु संघ नजर नीची किए हुए धीमे कदमों से नगर की ओर चला आ रहा था।

सामने राजमार्ग पर नगर का भंगी सुनीत कमर झुकाए, हाथ में झाड़ू लिये सड़क बुहार रहा था। मंद मंद पदचाप कान पर पड़ी तो सुनीत रुका और सामने भगवान को और भिक्षु संघ को देखकर ठिठका रह गया। भगवान का दर्शन होते ही न जाने कितने जन्मों के कुशल संस्कार उसकी चित्त चेतना पर जाग उठे। शरीर पुलक रोमांच से भर उठा। हृदय गदगद हो गया। आंखों से अविरल अश्रुधार बह निकली। सारे शरीर में धर्म-तरंगे तरंगित हो उठीं। श्रद्धा-विभोर दोनों हाथ उठे तो उठे ही रह गए, जुड़े-तो-जुड़े ही रह गए। भगवान के मुखमंडल से विकीर्ण होती हुई आभामंडलीय रश्मियों की ओर देखा तो देखता ही रह गया। भीगी आंखें, मंत्रमुग्ध, श्रद्धा-स्निग्ध, विह्वल कंठ से केवल दो शब्द ही निकल पाए, "भन्ते! भगवन!" . . . . भगवान ने करुण नेत्रों से उसे निहारा। स्निग्ध स्नेह की अजस्र धारा बह निकली उनके करुणा विगलित नयनों से। भाग्यवान सुनीत भीग-भीग उठा उस पतित-पावन धर्म-गंगा में स्नान करके।

पर मन में एक हीन भाव की ग्रंथि बांधे वहीं खड़ा रहा। मैं अस्पृश्य, अन्त्यज, अत्यंत हीन कुल में उत्पन्न और भगवान सूर्यवंशी शाक्यकुलीन क्षत्रिय। इन पर तो मेरी दूषित छाया भी नही पड़नी चाहिए। इसी सकुचाहट में एक ओर हाथ बांधे खड़ा रहा। भगवान ने उसके मन के भाव पहचाने। निर्दयी समाज का संत्रस्त शोषित दीन-दुखियारा। निर्मम समाजकी दूषित व्यवस्था का असहाय शिकार। संतापहारिणी अमृत वाणी से भगवान ने कहा, "आओ!"

सुनकर सुनीत के शरीर का रेशा-रेशा, तार-तार झनझना उठा। साहस बटोरकर भगवान के समीप गया और भावविभोर उनके चरणों में अपना सिर टेक दिया।

कितनी शांति है, कितना सुख है, महाकारुणिक के मंगल चरणों में। सुनीत आत्म-विभोर हो गया। कुछ समय बाद साहस बटोरकर बोला, "भन्ते भगवन! मुझे भी इन चरणो में स्थान दीजिए। मुझे भी भिक्षु बनाइए। मैं भी अपना जीवन सफल कर सकूं।" भगवान ने करुणा विगलित वाणी में कहा, "आओ, भिक्षु!" सुनीत का भाग्य जागा। इन्ही शब्दो में उसे भगवान से भिक्षु होने की उपसंपदा मिली। सुनीत को यूं लगा जैसे करुणा सागर ने उसे गले से लगा लिया है और उसका सिर सहला रहे हैं। जैसे उसे छाती से लगा लिया है और उसकी पीठ थपथपा रहे हैं। वह निहाल हो गया।

भगवान उसे भिक्षु संघ के साथ राजगिरि के वेणुवन में ले गए। वहां उसकी मनोस्थिति के अनुकूल ध्यान की विधि सिखाई। विपश्यना साधना का कर्मस्थान दिया।

सुनीत इस साधना-विधि को भलीभांति समझकर समीप के अरण्य में जाकर तपने लगा। ध्यान के लिए भगवान ने जो आलंबन दिया, पहले उसके आधार पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया और फिर शरीर पर

उत्पन्न होनेवाली संवेदनाओं का दर्शन और अध्ययन करता हुआ कायानुपश्यना और वेदनानुपश्यना करने लगा। चित्त और चित्त पर उत्पन्न होनेवाले धर्मों का दर्शन और अध्ययन करता हुआ चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना करने लगा। यों समस्त ऐन्द्रिय क्षेत्र में अनित्य, दुःख और अनात्म की सच्चाइयों का अनुभव करता हुआ शनैः शनैः राग, द्वेष और मोह के बंधनों से छुटकारा पाने लगा। पूर्व संचित कर्म-संस्कारों की उदीर्णा होने लगी, निर्जरा होने लगी। उनका क्षय होने लगा। जब अधोगति की ओर ले जानेवाले सभी पूर्व संस्कारों का संपूर्ण क्षय हुआ तो श्रोतापन्न के मार्ग पर आरूढ़ हो श्रोतापत्ति फल चखकर अनार्य से आर्य अवस्था को प्राप्त हुआ। तदनंतर अन्य संस्कारों का कर्म-क्षय करते हुए सकृदागामी मार्ग पर आरूढ़ हो, सकृदागामी फल प्राप्त कर सका।

इसके पश्चात् चित्त को और अधिक तीक्ष्ण और सूक्ष्म बनाता हुआ प्रथम ध्यान से आठवें ध्यान तक की आठों ध्यान समापत्तियों का अभ्यास कर पुनः विपश्यना में तल्लीन हो गया। शीघ्र ही अनागामी मार्ग पर आरूढ़ होकर निरोध समापत्ति उपलब्ध कर अनागामी फल लाभी हुआ, और इसके पश्चात् अपने अनेक जन्मों की पुण्य पारमिताओं और वर्तमान पराक्रम के बलपर अर्हंत मार्ग पर आरूढ़ हो निरोध समापत्ति उपलब्ध कर तत्क्षण अनुत्तर अर्हंत अवस्था में प्रतिष्ठापित हुआ। यूं आठों ध्यान समापत्तियां और चारों फलसमापत्तियां और निरोध सपामत्तियां प्राप्तकर नितांत विमुक्त अवस्था का अधिकारी हुआ; कृतकृत्य हुआ, जो करना था सो कर लिया। अब करने के लिए और कुछ बाकी नही रह गया। पूर्णतया भारमुक्त हुआ। अनेक जन्मों से संचित संग्रहीत समस्त भार उतार दिया। कर्मों का कोई बोझ बाकी नही रह गया। चित्त भव-बंध्य संस्कारों से उन्मुक्त हुआ। अब पुनर्जन्म का कोई कारण नही रह गया। मुक्त हुआ, अर्हंत हुआ, बुद्ध हुआ।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् विमुक्ति के वैभव से विभूषित

इस परम संत के दर्शन करने और इसका अभिवादन करने देव मंडली सहित देवेन्द्र आए, ब्रह्मा आए। भगवान इस दृष्य को देखकर मुस्कराए। उनके मुँह से उदान के ये बोल निकल पड़े :

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमं॥

तपसे, ब्रह्मचर्य से, संयम से, और दम से ही कोई ब्राह्मण बनता है। ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम ब्राह्मण है।

आओ, भंगी से ब्राह्मण हुए उस परम संत सुनीत की पावन स्मृति में हम भी शत शत बार नतमस्तक हो उनका अभिनंदन करें और धर्मपथ पर आगे बढ़ने की पुनीत प्रेरणा प्राप्त करें।

एक बार संत सुनीत ने अपने पूर्व पुरुषार्थ और उसके फल को याद करते हुए अत्यंत प्रसन्न चित्त से उदान के ये बोल कहे थे :

सोहं एको अरञ्ञस्मिं, विहरन्तो अतन्दितो।
अकासिं सत्थुवचनं, यथा मं ओवदी जिनो॥

अरण्य में अकेले रहते हुए तन्द्रा रहित हो मैंने शास्ता का वचन पूरा किया। भगवान जिन ने मुझे जिस प्रकार मार्गदर्शन दिया था, उसी प्रकार पराक्रम किया।

रत्तिया पठमं यामं, पुब्बजातिमनुस्सरिं।
रत्तिया मज्झिमं यामं, दिब्बचक्खुं विसोधयिं।
रत्तिया पच्छिमे यामे, तमोखन्धं पदालयिं॥

रात्रि के प्रथम याम में मुझे अपने पूर्व जन्मों का स्मरण हुआ। रात्रि के मध्यम याम में मेरे दिव्य चक्षु विशुद्ध हुए। रात्रि के अंतिम याम में मैंने अविद्या की समस्त अंधकार राशि को विदीर्ण कर दिया।

ततो रत्या विवसने, सुरियस्सुग्गमनं पति।
इन्दो ब्रह्मा च आगन्त्वा, मं नमस्सिंसु पञ्जली॥

तब रात्रि के अवसान पर सूर्य के उगते ही इंद्र और ब्रह्मा ने आकर अंजलिबद्ध हो इस प्रकार मेरी वन्दना की :

नमो ते पुरिसाजञ्ञ, नमो ते पुरिसुत्तम।
यस्स ते आसवा खीणा, दक्खिणेय्योसि-मारिस॥

हे श्रेष्ठ पुरुष तुम्हें नमस्कार है! हे उत्तम पुरुष तुम्हें नमस्कार है! हमने तुम्हारे आस्रव क्षीण हुए देखे हैं। हे वंदनीय तुम वंदना के योग्य हो!

ततो दिस्वान मं सत्था, देवसङ्घपुरक्खतं।
सितं पातुकरित्वान, इममत्थं अभासथ॥

तब शास्ता ने मुझे देव-मंडली से घिरे हुए देखकर मुस्कराते हुए, शीतल करनेवाली वाणी में कहा,

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमं॥

तपसे, ब्रह्मचर्य से, संयम से, और दम से ही कोई ब्राह्मण बनता है। ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम ब्राह्मण है।

१५ / नया जीवन

सोपाक एक चांडाल के घर में उत्पन्न हुआ। चार महीने का ही हुआ कि पिता की मृत्यु हो गई। असहाय मां पराश्रित हुई। बालक सोपाक के साथ अपने देवर के घर रहने लगी। देवर को दोनों ही बोझ जैसे लगे। बिना मन के उन्हें पालने लगा। कारण अकारण बालक सोपाक अपने चाचा के क्रोधी स्वभाव का शिकार होता और बार बार बुरी तरह पीटा जाता। जीवन अत्यंत नारकीय हो उठा, असह्य हो उठा। पर लाचारी थी। करता भी क्या ? यों दुःख झेलता हुआ बालक सोपाक सात वर्ष का हुआ। तब एक दिन अपने चचेरे भाई से कुछ कहा-सुनी हो गई। बच्चों का यह झगड़ा चाचा के कानों तक पहुँचा। वह आग-बबूला हो उठा और उसने फैसला किया कि अपने भतीजे को सदा के लिए आंखों के सामने से हटा देगा।

उसने मासूम बच्चे की हत्या करनी चाही, पर कर न सका। आखिर उसने एक युक्ति सोची। रात्रि के अंतिम प्रहर में सूर्योदय के पूर्व वह उस बच्चे को श्मशान भूमि ले गया। वहां एक मुर्दा लाश को जंगली सियार नोंच-नोंचकर खा रहे थे। उसने निर्दयतापूर्वक बच्चे के दोनों हाथ पीछे की ओर कसकर बांध दिए और उसे उस मुर्दे के गले से रस्सियों से जकड़ दिया, जिससे जंगली सियार मुर्दे के साथ-साथ बच्चे को भी खा जायँ और इस प्रकार इसका खात्मा हो जाय। बड़ी बेरहमी के साथ बालक सोपाक को इस भयावह स्थिति में छोड़कर वह घर लौट गया। सियारों ने हमला किया। बालक सोपाक फूट फूटकर रोने लगा, पर उस निर्जन स्थान में उसकी चीख पुकार कौन सुनता ?

उसी नगर में महाकारुणिक भगवान गौतम बुद्ध का आश्रम था। वे प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में ध्यान भावना से उठे और अपने बोधि नेत्रों से महामैत्रीमय मंगलदृष्टि इस दुःखी संसार पर डाली। सोपाक के कातर स्वर

ने उन्हें आकर्षित किया। वे श्मशान भूमि तक गए और बालक को भयमुक्त कर अपने आश्रम में ले आए।

सोपाक को नया जीवन मिला। आस पास के लोगों ने उसे भोजन, वस्त्र, ओषधि और निवास स्थान दिया। भगवान ने उसे कल्याणकारी धर्म दिया। बालक सोपाक अत्यंत पुण्यशाली था। अनेक जन्मों की अर्जित पारमिताओं का विपुल संबल उसके साथ था। समस्त दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाने का समय पका। एक दिन भगवान ने उससे कुछ प्रश्न पूछे। बालक सोपाक मेधावी था। उसने बुद्धिमत्तापूर्वक उत्तर दिए। भगवान प्रसन्न हुए। योग्य पात्र देखकर उस बाल्यावस्था में ही उसे विपश्यना साधना की मुक्तिदायिनी विधि सिखाई। समय पाकर सोपाक मुक्त हुआ, अर्हंत अवस्था को प्राप्त हुआ। तब उसके मुँहसे हर्ष के ये उद्गार निकले,

जातिया सत्तवस्सोहं, लद्धान उपसम्पदं।
धारेमि अन्तिमं देहं, अहो धम्मसुधम्मता॥

अहो, धर्म की महिमा देखो! धर्म की सुधर्मता देखो! सात वर्ष की अवस्था में ही मैंने भिक्षु बनने की उपसंपदा पायी और अब मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली। यह देह मेरी अंतिम देह है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं।

सोपाक की मुक्त अवस्था देखकर भगवान ने भी हर्ष की यह उदान गाथा कही,

लाभा अङ्गानं मगधानं, येसायं परिभुञ्जति।
चीवरं पिण्डपातं च, पच्चयं सयनासनं।
पच्चुट्ठानं च सामीचिं, तेसं लाभा ति चाब्रवि॥

बड़ा लाभ हुआ है अंग और मगध के लोगों को, जिनके दिए चीवर, भोजन, औषधि और निवास का उपभोग यह साधक करता है। इसके प्रति प्रकट किए गए आदर-सम्मान से भी उनका बहुत लाभ होता है।

सचमुच किसी संत पुरुष के प्रति प्रकट किया गया आदर-सम्मान, उसकी सीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दिया गया दान महाफलदायी होता है।

संत पुरुष संत पुरुष है, चाहे इस जाति में उत्पन्न हुआ है अथवा उसमें; कुछ भी अंतर नही पड़ता। धर्म जाति पांति का भेदभाव नही करता। जो धारण करे उसे ही मुक्त बना देता है, संत बना देता है। पूज्य बना देता है। वरेण्य बना देता है।

धन्य है धर्म! धन्य हैं धर्म धारण करनेवाले सच्चे संत! आओ, हम भी शुद्ध धर्म से प्रेरणा प्राप्त करें और अपना कल्याण साधें! ●

१६ / धर्म-धारणा

कोशल प्रदेश के राजा प्रसेनजित का पुरोहित ब्राह्मण बावरी वृद्धावस्था में गृह त्यागकर संन्यासी हो गया और श्रावस्ती नगर छोड़कर उत्तरापथ से दक्षिणापथ की ओर चल पड़ा। आन्ध्रप्रदेश के अश्वक और नलक राज्यों के बीच बहनेवाली गोदावरी नदी के तट पर उसने अपना आश्रम बनाया। भिक्षा और फल मूल ग्रहण करता हुआ संन्यासी बावरी वही तापस जीवन जीने लगा। जब उसकी उम्र सौ वर्ष की हुई तब उसने पास के गांव से कुछ धन प्राप्त किया और महान यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ पूरा करने पर जो धन बचा, उसे लोगों में बांट दिया। तत्पश्चात् उसके पास एक याचक ब्राह्मण पांच सौ मुद्रा का दान मांगने आया। बावरी ने विनीत भाव से असमर्थता प्रकट की। असंतुष्ट याचक कुपित हुआ और बावरी को यह श्राप देकर चला गया कि सात दिनों में उसका सिर सात खंडों में विखंडित होकर गिर पड़ेगा।

वृद्ध बावरी अत्यंत उदास और खिन्न मन हो उठा। न भोजन अच्छा लगे, न ध्यान में ही मन लगे। तभी उसके एक हितैषी ने उसे सांत्वना के शब्द कहे कि किसी ढोंगी के श्राप से तुम्हें चिंतित नही होना चाहिए। कौवों के श्राप से हाथी नही मरा करते। तुमने कोई दोष नही किया। किसी धन-लोलुप अज्ञानी का अभिशाप तुम्हारा क्या बिगाड़ सकेगा भला ? जिस व्यक्ति को यही नही पता कि सही माने में सिर क्या है और सिर का विखंडन होना क्या है ? वह अज्ञानी ही तो है। बूढ़े बावरी को सांत्वना मिली। पर उसके मन में जिज्ञासा जागी और पूछ बैठा कि यह सिर और सिर के विखंडित होने का और भी कोई अर्थ होता है क्या ? हो तो समझाओ।

आगन्तुक ने कहा कि इसे कोई सम्यक् सम्बुद्ध ही ठीक से समझा सकते हैं और सौभाग्य से इस समय सम्यक् सम्बुद्ध उत्पन्न हैं। उन्ही से जाकर पूछो। और उनका परिचय देते हुए कहा :

पुरा कपिलवत्थुम्हा, निक्खन्तो लोकनायको।
अपच्चो ओक्काकराजस्स, सक्यपुत्तो पभङ्करो॥

कुछ वर्ष पूर्व इक्ष्वाकुवंशीय प्रभाकारी शाक्य पुत्र ने कपिलवस्तु से गृह त्यागकर अभिनिष्क्रमण किया।

सो हि ब्राह्मण सम्बुद्धो, सब्बधम्मान पारगू।
सब्बाभिञ्ञाबलप्पत्तो, सब्बधम्मेसु चक्खुमा।
सब्बकम्मक्खयं पत्तो, विमुत्तो उपधिक्खये॥

हे ब्राह्मण वही सम्बुद्ध हो गए हैं। सभी धर्मों में पारंगत, चक्षुमान, सभी अभिज्ञानबल संपन्न हैं। उनके सारे कर्म क्षय हो गए हैं। वे कृतकृत्य हैं। उन्होंने दुःखों की जड़ें उखाड़ ली हैं। वे विमुक्त हैं।

बुद्धो सो भगवा लोके, धम्मं देसेति चक्खुमा।
तं त्वं गत्वान पुच्छस्सु, सो ते तं ब्याकरिस्सति॥

वे चक्षुमान भगवान बुद्ध, लोक में धर्म का उपदेश दे रहे हैं। तुम उनके पास जाकर पूछो। वे तुम्हें विस्तार से समझाएंगे।

सब्बुद्धो'ति वचो सुत्वा, उदग्गो बावरी अहु।
सोकस्स तनुको आसि, पीतिं च विपुलं लभि॥

सम्बुद्ध शब्द सुनते ही बावरी प्रफुल्लित हो उठा। उसका शोक दूर हुआ। वह विपुल प्रीति प्रमोद से पुलकित हो उठा।

यों रोमांच-पुलक से भरे श्रद्धाबहुल बावरी ने आतुरता से पूछा,

कतमम्हि गामे निगमम्हि वा पुन,
कतमम्हि वा जनपदे लोकनाथो?

वे लोकनाथ भगवान बुद्ध इस समय किस गांव में हैं? किस निगम में हैं? किस जनपद में हैं?

यत्थ गन्त्वा नमस्सेमु, सम्बुद्धं दिपदुत्तमं॥

जहां जाकर मैं उन द्विपद श्रेष्ठ बुद्ध को नमस्कार कर सकूं।

इस पर आगन्तुक ने बताया

सावत्थियं कोसलमन्दिरे जिनो,
पहूतपञ्ञो वरभूरिमेधसो।
सो सक्यपुत्तो विधुरो अनासवो,
मुद्धाधिपातस्स विदू नरासभो॥

वे महाप्रज्ञ, परम मेधावी, भारमुक्त, आस्रवमुक्त, सिर-छेदन के ज्ञाता, नरवृषभ, शाक्यपुत्र भगवान जिन, बुद्ध इस समय कोशल देश के श्रावस्ती नगर में हैं।

शतायु बावरी आन्ध्रप्रदेश से कोशलप्रदेश की लंबी यात्रा कर सकने में स्वयं असमर्थ था। अतः उसने अपने प्रमुख शिष्यों को एकत्र कर उनसे कहा,

यस्सेसो दुल्लभो लोके, पातुभावो अभिण्हसो।
स्वाज्ज लोकम्हि उप्पन्नो, सम्बुद्धो' ति विस्सुतो।
खिप्पं गन्तान सावत्थिं, पस्सव्हो दिपदुत्तमं॥

लोक में जिनका सदा उत्पन्न होना दुर्लभ है, वे आज सम्बुद्ध के विरुद से प्रसिद्ध हो उत्पन्न हुए हैं। शीघ्र श्रावस्ती जाकर उन मनुज श्रेष्ठ का दर्शन करो।

इस प्रकार उसने अपने शिष्यों को बुद्ध के दर्शन कर उनसे ज्ञान प्राप्त करने के लिए समुत्साहित किया। बावरी के जटा और मृगछालाधारी सोलह प्रमुख शिष्य अजित, तिस्स मेत्तेय्य, पुन्नक, मेत्तगू, धोतक, उपसीव, नन्द, हेमक, तोदेय्यै, कप्प, जातुकण्णी पंडित, भद्रायुध, उदय, ब्राह्मण पोसार, मेघावी मोघराजा और महर्षि पींगिय जो सब के सब गणी थे, ध्यानी थे, पूर्व जीवन के पुण्यपारमी संपन्न थे, वर्तमान जीवन में लोक़ विश्रुत थे, वे सब

नाहं गमिस्सामि पमोचनाय,
कथङ्कथिं धोतक कञ्चि लोके।
धम्मं च सेट्ठं अभिजानमानो,
एवं तुवं ओघमिमं तरेसि॥

हे धोतक, किसी संशयी को मैं मुक्त करने नही जाता। जब तुम स्वयं श्रेष्ठ धर्म को अनुभूति द्वारा जान लोगे तो स्वतः इस बाढ़ से पार हो जाओगे।

यहां पर **अभिजानमानो** शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। स्वयं अनुभूति द्वारा जानने को ही **अभिजानमानो** कहा जाता था। मन के संशय यदि अंधश्रद्धा के बल पर दूर किए जायँ तो अभिजानन नहीं हुआ। इसी प्रकार केवल तर्क-वितर्क के बल पर दूर किए जायँ तो भी अभिजानन नहीं हुआ। इन दोनों के परे प्रत्यक्षानुभूति द्वारा जानना ही बुद्ध मंतव्य है। वही वास्तविक अभिजानमानो है। इसी के द्वारा **ओघमिमं तरेसि** होता है। सही माने में यही पारायण है।

इन्ही में का एक साधक महर्षि पिंगीय कहता है, भगवान के संपर्क में आने से पहले तो सदा यही सुनता आया था — **इच्चासि इति भविस्सति** याने ऐसा था। ऐसा होगा। वह जो सुना करता था सो तो काल्पनिक ही काल्पनिक था। **सब्बेते इतिहेतिहं** अंधविश्वासों एवं परंपरागत मान्यताओं से भरी हुई कोरी बातें ही बातें थी। अथवा **सब्बं तं तक्कवड्ढनं** —सब का सब तर्क-वितर्क के मायाजाल से भरा हुआ बुद्धिकिलोल ही बुद्धिकिलोल था, बुद्धिविलास ही बुद्धिविलास था। वास्तविकता कहां थी ? प्रत्यक्षानुभूति कहां थी ? परंतु अब धन्यता प्राप्त हुई जो कि :

यो मे धम्मदेसेसि संदिट्ठिकमकालिकं।
तण्हक्खयमनीतिकं, यस्स नत्थि उपमा क्वचि॥

अब जो धर्म मुझे सिखाया गया है, यह तो सांदृष्टिक है याने

अनुभूतिजन्य है। 'ऐसा हुआ था, ऐसा हुआ था' की कोरी कल्पना नही है। अकालिक है याने तत्काल फल देने वाला है। 'ऐसा होगा, ऐसा होगा' की मिथ्या मृगतृष्णा नही है। यही इसी जीवन में तृष्णा का क्षय और दुःख का विनाश करने वाला है। जिन्होंने यह सिखाया उनकी कोई उपमा नही।

जिन भगवान ने सिखाया, उन्होंने भी स्वयं जानकर ही सिखाया, अंधश्रद्धा अथवा बुद्धिविलास के आधार पर नही।

यथा अद्दक्खि तथा अक्खासि विमलो भूरिमेधसो।
निक्कामो निब्बनो नाथो, किस्स हेतु मुसा भणे॥

निर्मल महाप्रज्ञ ने जैसा देखा, वैसे बताया। नाथ निष्काम हैं, वितृष्ण हैं। वे असत्य क्यों बोलेंगे भला ?

और उन्होंने जो कुछ सिखाया, वह साधकों को जानने के लिए ही सिखाया। महज मानने के लिए नही। धर्म जानने के लिए ही है। स्वयं साक्षात्कार करने के लिए है। इसीलिए सांदृष्टिक है, इसीलिए अकालिक है। यही इसी जीवन में फलदायी है।

साधकों, आज बुद्ध जयंती है। इस पुण्य अवसर पर धर्मानुधर्म के प्रतिपादन द्वारा ही बुद्ध पूजन करें। बुद्ध वंदना करें। भगवान के बताए हुए मार्ग की केवल चर्चा करके ही न रह जायँ। उसके प्रति केवल श्रद्धा प्रकट करके ही न रह जायँ। बल्कि यथाशक्ति उसकी प्रत्यक्षानुभूति करें, उसे धारण करें। यही इसी जीवन में लाभान्वित होने के लिए कटिबद्ध हों। शनैः शनैः आगे बढ़ते हुए सब दुःखों से पार हो जायँ और धर्म का **पारायण** नाम सार्थक करें। इसी में हमारा सच्चा श्रेय है, सच्चा कल्याण है। ●

१७ / सविवेक श्रद्धा

तीन वेदों में पारंगत विद्वान वक्कलि ब्राह्मण भगवान बुद्ध के आश्रम में गया। महापुरुषों के बत्तिस लक्षणों से परिपूर्ण तथागत के सुंदर तेजस्वी शरीर ने, उनके प्रभावशाली ओजस्वी व्यक्तित्व ने उस भावुक ब्राह्मण को सहज ही आकर्षित कर लिया। उन भगवान अंगीरस के अंग अंग से जो प्रभा-रश्मियां प्रस्फुटित हो रही थी, उन्होंने वक्कलि ब्राह्मण को भावाभिभूत कर दिया। उनके अंतर से उमड़ने वाली अपरिमित मैत्री और करुणा-तरंगों का गहरा प्रभाव भी तो था ही। वक्कलि ने निर्णय किया कि मैं भगवान के इस रूप का ही दर्शन करता रहूंगा। अतः वह घर से बेघर हो, दाढ़ी-मूंछ मुड़ा कर, प्रव्रजित हुआ और भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गया। केवल इसीलिए कि उसे भगवान का सानिध्य-सुख अधिक से अधिक प्राप्त हो सके। अब वह भक्ति के आवेश में रस-लोलुप भँवरे की तरह भगवान की रूप-माधुरी के चारों ओर मँडराने लगा। न उसे शील का ध्यान, न समाधि द्वारा चित्त एकाग्रता का अभ्यास और न ही विपश्यना द्वारा प्रज्ञा जागृत करने का ही कोई प्रयास। जब देखो तब, भगवान के सामने बैठा रहे और उनके प्रभा-मंडित चेहरे को अपलक निर्निमेष देखता रहे। करुणामय भगवान तथागत ने देखा कि यह नया भिक्षु भक्ति-भावावेश में इतना अंधा हो गया है कि धर्म के सत्य स्वरूप से दूर जा पड़ा है। उन्होंने उसे फटकारते हुए कहा, " ओ भोले भिक्षु, मेरे इस शरीर को पागलों की तरह क्या देख रहा है? मेरे इस रूप, इस काया पर क्या ध्यान लगा रहा है? मेरी यह काया भी भीतर से उतनी ही गंदी है, जितनी कि किसी भी अन्य की काया। यदि मुझे देखना है तो मेरे भीतर समाए हुए धर्म को देख। जो धर्म को देखता है, वही मेरे सच्चे स्वरूप को देखता है। जो सही माने में मुझे देखता है, वह मेरे भीतर समाए हुए सत्य धर्म को ही तो देखता है, बाह्य शरीर को नही। " :

यो खो धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति।
यो मं पस्सति, सो धम्मं पस्सति॥

महाकारुणिक की इस धर्म फटकार से भावावेश के अंधकार में डूबे हुए वक्कलि ब्राह्मण के प्रज्ञा चक्षु खुले। उसे भगवान की यह बात समझ में आई कि वे तो सचमुच धर्म के मूर्त स्वरूप हैं। अतः उनका दर्शन यदि काया का दर्शन तक ही सीमित रहा तो पागलपन ही रहा। उनके दर्शन में सत्य धर्म का दर्शन होना ही चाहिए, **दिट्ठ धम्मं निब्बाणं** का दर्शन होना ही चाहिए। और यह सांदृष्टिक निर्वाण धर्म तो अन्तर्मुखी होकर स्वयं अपने ही भीतर देखने के लिए है, बाहर नहीं। बात उसकी समझ में आ गई। विपश्यना-प्रज्ञा द्वारा अपने भीतर का सत्य धर्म दर्शन किये बिना जीवन भर बुद्ध के चीवर को पकड़े हुए उनके पीछे लगे रहने वाला उनसे कोसों दूर ही है। परन्तु उनसे हजार योजन दूर कही किसी एकान्त में अन्तर्मुखी होकर अपने भीतर सत्य-धर्म का साक्षात्कार कर लेने वाला बुद्ध के समीप ही है। धर्म का साक्षात्कार ही तो बुद्ध का साक्षात्कार है। धर्म का सान्निध्य ही तो बुद्ध का सान्निध्य है। आखिर बुद्ध क्या है? **सम्यक्-संबोधि** का जीता जागता स्वरूप ही तो बुद्ध है।

यह बात समझ में आते ही वक्कलि पर छाया हुआ भक्ति-भावावेश का अंध घटाटोप दूर हुआ। सत्य-धर्म का आलोक प्रकाशित हुआ। उसने भगवान से विपश्यना साधना का कर्मस्थान सीखा, अर्न्तमुखी होने की सरल विधि सीखी और दूर एकान्त में जाकर अभ्यास करने लगा। पुराने भक्ति-भावावेश ने बीच-बीच में कुछ अड़चने पैदा की, परन्तु अन्ततः वह सच्चा साधक निर्वाण का साक्षात्कार कर कृत-कृत्य हुआ। सभी आस्रवों, क्लेशों, संयोजनों और बंधनों को दूर कर मृत्यु के पूर्व इसी जीवन में विमुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ।

तो हम देखते हैं कि अंध-भक्ति, अंध-विश्वास और अंध-श्रद्धा का भयावह भावावेश साधक की सही उन्नति में सदा बाधक ही सिद्ध होता है।

भगवान ने कहा, **तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता**

याने तथागत तो केवल मार्ग आख्यात करने वाले हैं, विधि समझा देने वाले हैं, आखिर काम तो तुम्हें ही करना पड़ेगा। सारा रास्ता तो तुम्हें स्वयं ही चल कर पार करना होगा। इस यथार्थ से आंख मूंदकर भावुकता-वश हम बुद्ध को अथवा अन्य किसी छोटे बड़े गुरु को तारक मानकर उसके प्रति अंध-श्रद्धा और अंध-भक्ति में डूब कर उसी के आश्रित हो जायँ, साधना-धर्म का अभ्यास छोड़ दें और अपने आपको बिल्कुल असमर्थ और निर्बल समझने लगें तो सचमुच पंगु और निकम्मे ही बन कर रह जायँ। धर्म के नाम पर ऐसी भक्ति-भावावेशमयी हीन भावना हमारे लिए कदापि कल्याणकारी नही हो सकती। सच्चे कल्याण के लिए हमें अपना आत्मबल जीवित रखना होगा। आत्मबल जीवित रखना और मुक्तिपथ पर चलने के लिए अपनी जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक रहना अहमन्यता नही है।

विमुक्ति-मार्ग पर चलने के लिए आत्मभाव की अहमन्यता से बचना नेतांत आवश्यक है। अपने भीतर समाए हुए अहंकार, ममंकार को निकाल देना अनिवार्य है। परन्तु अहंकार निकालने के नाम पर अपने मन में हीन भावना भर लेना और उसे दुर्बल और परावलंबित बना लेना, विनाशकारी अहंकार के विरुद्ध उठाया गया एक ऐसा कदम है जो कि हमें इस एक छोर से बिल्कुल दूसरे छोर तक पहुँचाता है। यह दूसरी अति है, जो कि हमारे लिए उतनी ही हानिकारक है। हमें तो बीच का रास्ता अपनाना है, इन उभय अंतो को छोड़ कर कल्याणकारी मध्यम मार्ग अपनाना है, जिसमें कि एक ओर न तो अहंभाव, आत्मभाव के कारण हमारा सिर सूज उठे और हम अपने को छोड़कर और किसी को कुछ समझें ही नही और न दूसरी ओर हममें ऐसी हीन भावना ही पैदा हो जाय, जिससे कि हम पराए आसरे पड़कर अपने आपको बिल्कुल निकम्मा बना लें।

अपने कल्याणमित्र मार्गदर्शक धर्म-गुरु के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा, भक्ति और कृतज्ञतापूर्ण विनम्रता बनाए रखना गलत नही है। परन्तु इसके साथ-साथ हमारे ज्ञान-विवेक की आंखें भी खुली रहनी चाहिए। अपने गुरु

के प्रति अंध-श्रद्धा, अंध-भक्ति और अंध-विश्वास में डूब जाना और उसके हर कार्य में, हर बोल में चमत्कार देखना, अलौकिकता देखना, जितना साधकों के लिए हानिप्रद है, उतना ही स्वयं आचार्य के लिए भी है। इस अंधे भावावेश में जहां शिष्य और आचार्य डूबे, वही मार्ग का भी पतन हो जाता है। इतिहास साक्षी है, किस प्रकार भगवान की यह कल्याणकारी विपश्यना पद्धति सिद्धियों और चमत्कार के चक्कर में पड़े हुए धर्म-नेताओं और उनके अंधानुयायियों के कारण इस देश से सर्वथा लुप्त ही हो गई। स्वयं गुरुओं ने गुरु की महिमा गा गा कर और उनमें अलौकिक शक्तियों की अतिरंजित व्याख्या कर करके लोगों की अंध-श्रद्धा का पोषण किया जिससे कि गुरुओं का मान-सम्मान बढ़े, उनके लाभ-सत्कार में अभिवृद्धि हो। आचार्यों की यशलिप्सा ने ही इस विशुद्धि मार्ग को दूषित किया और इस प्रकार भगवान तथागत के बाद चंद सदियों में ही भारतवर्ष से इस कल्याणकारी मार्ग का लोप हो गया। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह परम परिशुद्ध धर्म, विपश्यना साधना के सहारे एक लंबे अर्से बाद इस देश में पुनः आया है। इस मार्ग की विशुद्धि कायम रहे, जिससे कि सद्धर्म चिरकाल तक प्रतिष्ठित होकर लोगों को लाभ पहुँचाता रहे। इसके लिए यह नितांत आवश्यक है कि कोई भी साधक-साधिका अपने मार्ग-निर्देशक आचार्य में कभी किसी प्रकार के अलौकिक चमत्कार का आरोपण न करे। उसके प्रति मिथ्या ईश्वरत्व भाव रखकर किसी अंध-श्रद्धा में न डूबे। तभी गुरु-शिष्य की एक स्वस्थ, स्वच्छ, आदर्श परंपरा स्थापित हो सकेगी, जो कि चिरकाल तक बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय बनी रहेगी। पूर्व संस्कारों के कारण कहीं-कहीं किसी-किसी विपश्यना साधक में ऐसा अंध-विश्वास जागने लगता है जिसे शीघ्र मिटाना चाहिए।

हम सबका कल्याण इसी बात में है कि हम इस ध्रुव सत्य को समझते रहें कि स्वयं अपने भीतर जागृत हुए अनित्यबोध की इस विपश्यना चेतना से बढ़कर और कोई शरण देने वाला है ही नही। झूठी कल्पनाओं और थोथी

आशाओं में हम अपने आपको न डूबने दें और सदैव अपने भीतर के इस विपश्यना चैतन्य को ही जगाए रखें।

प्रतिक्षण भीतर हीं भीतर जो कुछ अनुभूत हो रहा है, वह अनित्य है, क्षण भंगुर है, नश्वर है, परिवर्तनशील है, ऐसा तो इसका स्वभाव ही है, ऐसी तो इसकी प्रकृति ही है, ऐसा तो इसका धर्म ही है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अष्टकलापों से, परमाणुं-कणों से बना हुआ, यह शरीर-प्रपंच पानी के बुलबुलों की तरह प्रतिक्षण बनता और नष्ट होता रहता है। इन्ही परमाणु कणों के साथ जुड़ी हुई यह चित्तसंतति भी इसी प्रकार उत्पन्न और नष्ट होती रहती है। शरीर और चित्त की यह मिली जुली जीवन धारा कितनी भंगमान है, किस प्रकार प्रतिक्षण भंग ही हो रही है, इस सच्चाई को विपश्यना की सम्यक्-दृष्टि द्वारा देखते रहें। ताकि इसके प्रति कोंई आसक्ति न रह जाय। यही चित्त-विशोधन का मंगल-मार्ग है। इस समय हमें जिस सत्य के दर्शन हो रहे हैं, उसी के प्रति जागरूक रहना हमारा धर्म है। किसी भावी स्वप्निल स्थिति की मधुर कल्पना और आसक्तिभरी कामना हमारी प्रगति का सबसे बड़ा रोड़ा है, उससे बचें।

विपश्यना धर्म वर्तमान में जीनेका धर्म है। इस समय जो जैसा अनुभूत हो रहा है, वही हमारे काम का है। न भूतकाल जो कि बीत चुका है और न भविष्य जो कि अभी आया नही। अतः कल्पनाओं और कामनाओं से बचें। थोथी आशाओं और आकांक्षाओं से बचें। निस्सार परावलंबन से बचें। अपनी प्रज्ञा स्वयं जगाकर इस क्षण के यथार्थ का दर्शन करते रहें। यही

'अत्तसम्मा पणिधि' है, सम्यक् आत्म-प्रणिधान है, स्वावलंबन है, स्व-स्थित सत्य का आलंबन है, धर्म का आलंबन है, ज्ञान, विवेक, विद्या, आलोक, प्रज्ञा और बोधि का आलंबन है। आओ, इसी आलंबन में जीएं! ●

१८ / दो अतियों के बीच

उन दिनों अधिकांश लोग इन दो धाराओं में ही बहते थे। दोनों अतियों की धाराएं। एक प्रवृत्ति की, एक निवृत्ति की। पर दोनों ही बेहद दूषित हो चुकी थी। प्रवृत्ति मार्गीय लोग काम-भोग के कीचड़ में आकंठ डूबे हुए किन्ही पेशेवर पुरोहितों से निरीह पशुओं की हत्याएं करवाकर भिन्न-भिन्न प्रकार के शोणित यज्ञ करवाते थे और यह मानते थे कि इससे अग्निदेव या अन्य देव-ब्रह्म हम पर प्रसन्न होकर हमें अमरत्व प्रदान करेंगे। निस्संदेह यह मार्ग शुद्ध धर्म के विमुख पापवर्धन का ही था। इसीलिए इसे –

हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो

कहा गया। याने हीन, गँवार, पृथकजन, अनार्यों का अनर्थ-संग्राहक मार्ग।

दूसरा निवृत्ति का मार्ग। वह भी अतियों में जाकर –

अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो

दुखद आत्मक्लेश का मार्ग, अनार्यों का अनर्थ संग्राहक मार्ग बन गया था। मुक्तिपथ के सर्वथा प्रतिकूल। भगवान ने इन दोनों अतियों को त्यागकर पुरातन, सनातन, मध्यम मार्ग खोज निकाला जो कि सर्वहितकारी सिद्ध हुआ। अनेक लोग जो ऐसे अतियों के मार्ग पर भटक रहे थे, उन्हें मुक्ति का सत्पथ मिला। धर्म संबंधी सारी शंकाएं दूर हुईं। दृढ़तापूर्वक सत्पथ पर चलकर सहज ही मुक्त अवस्था तक पहुँचे और अपना कल्याण साध सके।

इसी संदर्भ में भगवान के जीवनकाल की एक घटना।

एक अत्यंत दरिद्र कुल में जन्मा जम्बुक नामका व्यक्ति। युवा होकर

प्रव्रजित हुआ और मुक्ति की खोज में आत्मक्लेश की साधना करने लगा। मुक्ति से दूर गलत रास्ते पड़ गया। अतियों के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझ बैठा। आत्यंतिक काय पीड़न को चित्त प्रक्षालन की विधि समझ बैठा। जीवन का अधिकांश समय इस मिथ्या मार्ग पर बिताता रहा। पर कुछ भी पल्ले न पड़ा।

एक दिन उसके सौभाग्य से भगवान उस रास्ते से गुजरे। उसकी दयनीय दशा देखकर उसे मंगलमयी मध्यमा प्रतिपदा का उपदेश दिया। किसी पूर्व जीवन के कुशल कर्म के फलस्वरूप बात उसकी समझ में आयी। गलत रास्ता त्यागकर विपश्यना साधना का अभ्यास करने लगा। चंद दिनों में ही श्रोतापन्न फललाभी हुआ। इससे उत्साह और बढ़ा। लगातार साधना ा निरंतरता बनाए रखते हुए समय पकने पर वह परम विमुक्त अर्हंत वस्था को प्राप्त हुआ। समस्त भवदुःखों से नितांत विमुक्त हुआ। जीवन संध्याकाल में जब इस अंतिम शरीर को छोड़ने का समय आया तो अपने निरर्थक क्लिष्ट जीवन को त्यागने और सम्यक् मार्ग पर चलकर विमुक्त हो जाने की घटना यादकर और धर्म के प्रति कृतज्ञताविभोर होकर उदान की यह हर्षवाणी प्रकट की,

पञ्च पञ्ञास वस्सानि रजोजल्लमधारयिं।

पचपन वर्ष तक बिना नहाए शरीर पर धूल-मिट्टी मलते रहा।

भुञ्जन्तो मासिकं भत्तं केसमस्सुं अलोचयिं।

एक-एक मास में केवल एक बार बाहर का भोजन करता रहा और अपने सिर और दाढ़ी-मूंछ के बालों का अंगुलियों से लुंचन करते रहा।

एक पादेन अट्ठासिं आसनं परिवज्जयिं।

आसन का सर्वथा परित्याग कर दिया और इतने वर्षों तक रात दिन अधिकांश समय दोनों हाथ ऊंचे कर एक टांग पर खड़ा रहता था।

सुक्खगूथानि च खादिं उद्देसञ्च न सादियिं।

यदा-कदा सूखी विष्टा खाता रहा पर गृहस्थों के निमंत्रण को नही स्वीकारता रहा।

एतादिसं करित्वान बहुं दुग्गति गामिनं।

इस प्रकार अनेक दुखदायी कर्म करता रहा।

वुय्हमानो महोघेन बुद्धं सरणमागमं।

यों दुःखों के महाबाढ़ में बहते हुए मैं भगवान बुद्ध की शरण में आ गया।

सरणागमनं पस्स पस्स धम्मसुधम्मतं।

अरे देखो, इस कल्याणकारिणी शरणागमन की महत्ता को देखो! मुक्तिविधायक धर्म की महत्ता देखो!

तिस्सोविज्जा अनुप्पत्ता कतं बुद्धस्स सासनं।

मैंने आस्रवहीन अवस्था की तीनों विद्यायें प्राप्त की और बुद्ध का शासन पूरा किया याने उनकी शिक्षा पूरी की।

धन्य बुद्ध! धन्य धरम! धन्य सफल धर्मपथिक! ●

इसी संदर्भ में बुद्ध के जीवन-काल की एक और घटना।

हिमवंत के समीप उत्कट्ट (उत्कृष्ट) नगर में एक वैभव संपन्न ब्राह्मण कुल में उत्पन्न अंगणिक भारद्वाज। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते विभिन्न लोकीय विद्याओं में और शिल्पों में निष्णात् हुआ। परन्तु वैराग्य जागने के कारण संन्यासी हो अमरत्व के लिए तप करने निकल पड़ा। शास्त्रोक्त विधि के अनुसार अनेक प्रकार से अग्नि परिचर्या की और शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले अनेक प्रकार के बाह्य तप किए। समझता था इससे चित्तशुद्धि होगी,

भवबंधन से मुक्ति मिलेगी। पर ऐसा हुआ नही। सौभाग्य से बुद्ध जनपद चारिका करते हुए उस प्रदेश में से गुजरे। युवा तापस ने उनका धर्म प्रवचन सुना और अत्यंत प्रभावित होकर उनकी शरण ग्रहण की, प्रव्रज्या ली और विपश्यना साधना विधि सीखकर चिरकाल तक स्मृति और संप्रज्ञान का अभ्यास करते हुए अन्ततः अर्हत्व पद प्राप्त कर लिया। विमुक्ति के सुख से विभोर होकर वह अपनी जन्मभूमि की ओर गया और वहां अपने पूर्व परिवार के अनेक लोगों को उत्साहित कर धर्म में प्रतिष्ठित कर सकने में सफल हुआ।

निष्प्राण निर्जीव कर्मकांडो में और आत्मक्लेशीय मिथ्या तपों में उलझे हुए अनेक लोगों के प्रति असीम करुणा से आप्लावित होकर उन्हें मिथ्या मार्ग से मुक्त कर सत्पथ की ओर लगाने की कल्याण-कामना लिए हुए वह चारिका पर निकल पड़ा। कुरु प्रदेश के कुण्डिय नामक निगम से कुछ दूर अरण्य में से गुजरता हुआ, उत्तरापथ की ओर चला तो एक स्थान पर कुछ एक ब्राह्मणों को एकत्र देखा। उनमें से कुछ उसके पूर्व परिचित भी थे। उन्होंने पूछा, "भो! भारद्वाज, तुम्हें यह क्या सूझा? अपनी परंपरा का पथ त्यागकर तुमने यह श्रमण परंपरा का पथ क्यों अपना लिया?"

अंगणिक भारद्वाज ने उन्हें बड़े करुण चित्त से समझाया, "भव-विमुक्ति के लिए चित्तशुद्धि की खोज में वन में अग्नि की उपासना करता रहा और नाना प्रकार के आत्मक्लेश दायक तप करता रहा। पर सब निरर्थक साबित हुए। मैं उनमें इसीलिए उलझा रहा क्योंकि मुझे विशुद्धि के सही मार्ग की जरा भी जानकारी नही थी। जब सचमुच कल्याणकारी मार्ग मिला तो निहाल हो गया। कृतकृत्य हो गया। मानव जीवन सफल हो गया।"

"मैं आश्रम से आश्रम, अरण्य से अरण्य ऐसे थोथे कर्मकांड, कायकंटक तप करते हुए इसीलिए भटकता रहा।"

तं सुखेन सुखं लद्धं पस्स धम्मसुधम्मतं।
तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता कतं बुद्धस्स सासनं॥

विपश्यना का विशुद्धि-मार्ग कायक्लेशवाले तप के मुकाबले अत्यंत सुखद मार्ग है। साधक अतियों को त्यागकर सुखद मध्यम मार्ग अपनाता है और परम सुख निर्वाण की मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेता है। इसीलिए कहता है, ''मैंने सुख मार्ग से परम सुख प्राप्त किया। देखो, धर्म की कैसी महानता है! मैंने मुक्ति की तीनों विद्याएं उपलब्ध की और भगवान बुद्ध के शासन को पूरा किया। याने उनकी शिक्षा आद्योपांत पालनकर जीवन-उद्देश्य सिद्ध किया।''

और तत्पश्चात् सत्यदर्शी ब्राह्मण भारद्वाज अपने विमलचित्त से लोकहितार्थ उद्घोषणा करता हुआ कहता है :

ब्रह्मबंधु पुरे आसिं इदानि खो'म्हि ब्राह्मणो।
तेविज्जो न्हातको चम्हि सोत्थियो चम्हि वेदगू॥

पहले तो केवल नाम मात्र के लिए ब्राह्मण था। ब्राह्मणी नामवाली माता की कोख से जन्मा इसीलिए अपने आप को गर्व से ब्रह्मबन्धु कहता था। परन्तु अब तो नया जन्म हो गया। उन भगवान सम्यक् सम्बुद्ध के उर से उत्पन्न हुआ और उनका ओरस पुत्र हूं जो कि ब्रह्मभूत हैं, ब्रह्मकाय हैं, धर्मभूत हैं, धर्मकाय हैं। धर्म से मेरा नया जन्म हुआ है, अतः धर्म निर्मित हूं। ब्रह्म का शुद्ध जीवन जीता हूं, अतः अब सही माने में ब्राह्मण हूं।

पहले केवल तीन वेदों के ग्रंथ पढ़ लेने के कारण नाम मात्र के लिए त्रिवेदी था परन्तु अब तो तीनों विद्याओं को पूरी करके सही माने में त्रिवेदी हो गया हूं। दिव्य दृष्टि और पूर्व जन्मों की स्मृति ही नही, उन दोनों से भी ऊंची तीसरी विद्या याने आस्रव-क्षय का पूर्ण साक्षात्कार करा देने वाली विद्या प्राप्तकर अब सही माने में त्रिवेदी हूं।

पहले तो किसी नदी में स्नान कर लेने के कारण अथवा किन्ही धर्मशास्त्रों का पारायण कर लेने मात्र से अपने आप को स्नातक कहता था। केवल नाम मात्र के लिए स्नातक था। परन्तु अब तो पावन धर्मगंगा में डुबकी लगाकर स्नातक हुआ हूं। राग, द्वेष और मोह का सर्वथा प्रक्षालन कर अक्षय निर्वाण महोदधि में डुबकी लगाकर सही माने में स्नातक हुआ हूं। केवल नाम मात्र के लिए नहीं।

पहले तो श्रुति-ग्रंथो को पढ़-सुन लेने के कारण अपने आप को श्रोत्रिय कहता था। अब मुक्ति के श्रोत में पड़कर नितांत विमुक्त हो गया हूं, इसलिए सही माने में श्रोत्रिय हूं।

पहले तो वेद के ग्रन्थों का पारायण करके अपने आपको नाम-मात्र के लिए ही वेदगू कहता था, पर अब तो सचमुच वेदगू हो गया हूं। स्ववेदन के आधार पर आत्मज्ञान जगाकर अपने मानस के सारे कल्मष-कषाय दूर करके सकल इंद्रिय जगत ही नही बल्कि इंद्रियातीत अनंत अक्षय परम सत्य का स्वानुभूति के आधार पर साक्षात्कार करके स्ववेदन के आधार पर वेद पारगू याने वेदगू हुआ हूं। अतः नाम मात्र का ही नही, बल्कि सही वेदगू हूं।

इसीलिए कहता हूं पहले मैं केवल नाम मात्र का था पर अब तो सचमुच सही ब्राह्मण, त्रैविद्य, स्नातक, श्रोत्रिय और वेदगू हूं।

धन्य है सही ब्राह्मण, धन्य है सही त्रिवेदी, धन्य है सही स्नातक, धन्य है सही श्रोत्रिय और धन्य है सही वेदगू! धन्य है सही विद्या का सही सफल साधक!

आओ, साधकों, हम भी ऐसे ही सही ब्राह्मण, सही त्रिवेदी, सही स्नातक, सही श्रोत्रिय और सही वेदगू बनें और भव-भव से मुक्त होकर जीवन को सफल बनाएं और अपना कल्याण साधें। ●

१९ / अभिलाषाएं पूर्ण हुईं

मगध देश का राजा बिम्बिसार धार्मिक विचारों का व्यक्ति था। उसकी राजधानी राजगिरि में जो भी संत, संन्यासी आते उनकी आवभगत करता, उन्हें सम्मानित करता, उनके धर्मोपदेश सुनता और प्रचुर दान-दक्षिणा देता।

एक दिन वह अपने राजमहल के बरामदे में खड़ा था। सामने राजपथ पर कुछ लोगों की भीड़ देखी और देखा कि एक भला संन्यासी नीची नजर किए हुए नपे-तुले कदमों से राजपथ पर चला जा रहा है। उसने फटे-पुराने गेरुए वस्त्र पहन रखे हैं। किसी घर के सामने भिक्षा-पात्र लिये नीची नजर किए हुए रुकता है। गृहस्वामिनी उसे भिक्षा देकर अपने आप को कृतार्थ मानती है। उसकी ओर एक टक देखती रह जाती है। और भी पथ पर चलने वाले लोग इस संन्यासी को देखते हैं तो निर्निमेष देखते ही रह जाते हैं। मटमैले फटे-चिथड़े की वेशभूषा उसके राजसी व्यक्तित्व को छिपाने में सर्वथा असमर्थ थी। जो देखता वही उसकी ओर आकर्षित हो जाता। इसीलिए उसके इर्द-गिर्द लोगों की भीड़ थी।

राजा बिम्बिसार भी उसके इस चुम्बकीय व्यक्तित्व के प्रति खिंच गया। उसने संन्यासी के पीछें अपने दूत भेजे — यह जानने के लिए कि वह भिक्षाटन के बाद कहां टिकता है ? दूतों ने सूचना दी कि वह नगर के बाहर एक वृक्ष के नीचे भोजन करने बैठा है। राजा ने अपना मुकुट पहना और कुछ मंत्रियों के साथ गंतव्य स्थान पर पहुँचा। तब तक युवा संन्यासी भिक्षा-आहार ले चुका था। उसे इतने समीप से देखते हुए राजा बिम्बिसार ठगा सा देखता ही रह गया। उसके अलौकिक सौंदर्य पर राजा की दृष्टि बँध गयी। ऐसा भव्य व्यक्तित्व उसने अपने जीवन में पहले कभी नही देखा था। सिर के सिरे पर एक उपशीर्ष, जिस पर छोटे-छोटे कटे हुए सुंदर घुँघराले काले बाल, जो उसे एक जटा का आभास दे रहे थे। चौड़ा ललाट, धनुष

सदृश काली लम्बी भौहों के बीच उगे हुए थोड़े से श्वेत बाल, अपनी अनोखी भव्यता प्रकट कर रहे थे। बड़ी-बड़ी आंखें, जिनमें पवित्रता उमड़ रही थी। लंबी नाक, शेर की-सी सुन्दर ठोड़ी, उन्नत स्कंध, चौड़ी छाती, आजानुबाहु, मुखमण्डल पर अपूर्व शांति और कांति, चेहरे के इर्द-गिर्द एक ओजस्वी प्रभामंडल।

राजा ने सोचा यह अवश्य ही किसी कुलीन घराने का व्यक्ति है और किसी ऊंचे उद्देश्य से इसने अपना घर त्यागा है। यकायक उसके मन में बिजली सी कौंधी कि कही यह राजकुमार सिद्धार्थ गौतम तो नही?

सिद्धार्थ का पिता महाराज शुद्धोधन और बिम्बिसार का पिता परस्पर रम मित्र थे। अपने पिता से ही बिम्बिसार ने शाक्य कुल की बड़ी ख्याति नी थी। उसने यह भी सुना था कि महाराज शुद्धोधन के घर एक राजकुमार न्मा है जिसके शारीरिक लक्षणों को देखकर देश के प्रसिद्ध ज्योतिषियों नें भविष्यवाणी की थी कि यदि वह गृहस्थ रहा तो चक्रवर्ती सम्राट होगा और विरक्त हुआ तो सम्यक् सम्बुद्ध होगा। कही यह राजकुमार सिद्धार्थ ही तो नही।

श्रेणिक बिम्बिसार ने कौतूहल मिटाने के लिए पूछा,

''योगिराज! क्या आप शाक्य पुत्र सिद्धार्थ हैं?''

''हां, ऐसा ही है, महाराज!''

तरुण गृहत्यागी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया। बिम्बिसार का तन-मन रोमांचित हो उठा। तपस्वी के प्रति उसके मन में बड़ा अपनत्व भाव उमड़ा। उसने भाव-विभोर होकर कहा, ' बन्धु, भिक्षु का जीवन तुम्हारे अनुकूल नही है। तुम्हारा जीवन तो राज्य-संचालन के उपयुक्त है। तुम शाक्यवंशीय राज्य छोड़ आए तो छोड़ आए। आओ! मैं तुम्हें अपने राजशी ऐश्वर्य में भागीदार बनाने के लिए प्रस्तुत हूं।'

शाक्यों के गणतंत्रीय राज्य के मुकाबले मगध का एकतंत्रीय साम्राज्य कही अधिक विशाल और प्रभुतासंपन्न था। पर यह प्रस्ताव उसे नही भाया। संन्यासी सिद्धार्थ ने इसे मुस्कुराते हुए दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया। जिस राजवैभव के आकर्षण को मलमूत्र की तरह त्यागकर आ गया था, उसे पुनः कैसे स्वीकार करता ? वह तो परम सत्य की खोज में निकला था। मुक्ति के शाश्वत ऐश्वर्य का अन्वेषक। उसके लिए यह वृहद्, पर भंगुर राजसी ऐश्वर्य तुच्छ और त्याज्य ही था।

श्रेणिक बिम्बिसार ने सिद्धार्थ का निश्चय दृढ़ देखा तो श्रद्धाविभोर हुआ और हाथ जोड़कर बोला, 'आपको शीघ्र सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हो, यही मेरी मंगल कामना है। परन्तु साथ ही एक प्रार्थना भी है कि बोधि प्राप्त होने पर मेरे इस नगर को और मुझे कृतार्थ करने के लिए और मुक्ति के मार्ग का उपदेश देने के लिए यहां अवश्य आएं!'

सिद्धार्थ ने मुस्कराते हुए स्वीकृति दी।

बिम्बिसार भावविभोर हो अपने महल लौटा। मन में यही प्रश्न उठता रहा कि क्या कुमार सिद्धार्थ सचमुच सम्यक् सम्बुद्ध होगा ? आजकल अनेक आचार्य इस बात का दावा करते हैं कि वे बुद्ध हो गए हैं। पर कौन जाने सचमुच बुद्ध हुए हैं या नही? परन्तु लगता है यह व्यक्ति तो अवश्य बुद्ध होगा। इसके बारे में तो शीर्षस्थ ज्योतिषियों की भविष्यवाणी भी है और इसका ऐसा अप्रतिम भव्य व्यक्तित्व है।

छह वर्ष बीतते-बीतते गौतम सम्यक् सम्बुद्ध बने। उन्होंने स्वयं अमृत का साक्षात्कार किया। संसार के दुखियारे लोगों के लिए भी अमृत के दरवाजे खुलें, ऐसी अनंत करुणाजन्य अन्तर्चेतना जागी और धर्मचक्र प्रवर्तन करने के लिए ऋषिपत्तन मृगदाय पहुँचे। यहां उनके पांच पूर्व साथी धर्म का लाभ लेकर अर्हंत हुए। भगवान ने वही उनके साथ वर्षावास किया।

वर्षावास के दौरान वाराणसी का धनी वणिक पुत्र और उसके चौपन साथी संगी भगवान के संपर्क में आए और विपश्यना साधना द्वारा अर्हत्व फल प्राप्त किया। वर्षावास के बाद धर्मचारिका आरंभ हुई। साठ अर्हंत भिक्षुओं को चारिका के लिए अन्य-अन्य स्थानों पर भेजा ताकि वे अधिक से अधिक लोगों पर अनुकम्पा करते हुए उनके हितसुख के लिए शुद्ध धर्म का ज्ञापन करें। भगवान स्वयं भी इसी निमित्त बोधगया लौट आए। वहां उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप नामक तीन अग्निहोत्री भाइयों का उनके एक हजार शिष्यों सहित उद्धार किया। वे सभी शुद्ध धर्म की अन्तर्साधना करके परम मुक्त अवस्था को प्राप्त हुए।

मगध नरेश श्रेणिक बिम्बिसार को दिया हुआ वचन भगवान बुद्ध को याद था। उसे पूरा करने के लिए वह इस बृहत् संघ के साथ राजगृह पहुँचे।

बिम्बिसार ने सुना तो अत्यंत श्रद्धावनत हो अपने मंत्रियों, राजदरबारियों और नगर के प्रमुख ब्राह्मणों और श्रेष्ठियों को साथ लेकर भगवान के दर्शनों के लिए वहां पहुँचा, जहां भगवान रुके हुए थे।

उरुवेल काश्यप मगध देश का परम पूज्य धर्माचार्य था। बहुत बड़ी संख्या में लोग उसके शिष्य, अनुयायी और भक्त थे। वे यह देखकर आश्चर्य-चकित हुए कि ऐसा लब्धप्रतिष्ठ धर्माचार्य अपने दोनों छोटे भाइयों और उनके एक हजार शिष्यों की बृहद् मंडली को लिए हुए श्रमण गौतम के साथ क्यों है ? और इन सब ने अपना वेश क्यों बदला है ? सिर पर की राख मली हुई गांठ-गठीली जटाएं, दाढ़ी और मूंछ सब क्यों मुड़वा ली है ? क्या यह सब श्रमण गौतम के शरणागत शिष्य हो गए हैं ? अथवा श्रमण गौतम ही इनका शिष्य हो गया है ?

उनके मन की इस शंका का निवारण करते हुए उरुवेल काश्यप ने उपस्थित जन-समुदाय के सामने भगवान को नमस्कार किया और स्वयं

उनका शिष्य होना प्रकट किया। उसने यह उद्घोषणा की, "यह भगवान हैं, अर्हंत हैं, सम्यक् सम्बुद्ध हैं, विद्या और आचरण दोनों में सम्पन्न हैं, सुगत हैं। सारे लोकों के जाननहार हैं, सर्वज्ञ हैं। जैसे बिगड़े हुए घोड़ों को कोई कुशल सारथी वश में करके सुधार लेता है वैसे ही यह भी बिगड़े हुए लोगों को सुधारने में बेमिसाल हैं। यह देवताओं और मनुष्यों के शास्ता हैं, शिक्षक हैं। ऐसे हैं ये भगवान बुद्ध!"

ऐसा सुनकर श्रेणिक बिम्बिसार सहित सारी श्रोतामंडली भगवान के चरणों में श्रद्धा से झुक गयी। भगवान ने अपनी अमृतवाणी से उन्हें धर्म की आनुपूर्विक देशना दी। शुद्ध धर्म की प्रारंभिक रूप-रेखा समझाते हुए जब देखा कि लोगों के चित्त ऋजु हैं और ग्रहण करने योग्य हैं तो उन्हें चार आर्य-सत्यों की गंभीर देशना दी। दुःख के कारण और उसके निवारण का मार्ग समझाते हुए विपश्यना विधि समझाई। बिम्बिसार सहित जो-जो पूर्व पारमी संपन्न थे उनका चित्त एकाग्र हुआ। भीतर पंचस्कंध के उदय-व्यय की अनुभूति होने लगी और ऐसा होते-होते एकाएक इंद्रियातीत परम सत्य की अनुभूति हुई; जो नित्य है, ध्रुव है, जहां न कुछ उदय होता है और न व्यय। उत्पाद व्यय वाले लौकिक क्षेत्र का जहां पूर्णतया निरोध हो जाता है। उन सब ने प्रत्यक्ष अपने अनुभव से जाना कि सारा नाम-रूप का पंचस्कंधीय क्षेत्र जो समुदय धर्मा है वह इस अवस्था में पूर्णतया निरुद्ध हो जाता है। अतः जो उत्पन्न धर्मा है वह निरोध धर्मा ही है। यह सत्य प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लिया। यों पहली बार अमृतदर्शी हुए तो अनार्य से आर्य हो गये। स्रोतापन्न हो गये। मुक्ति के श्रोत में पड़ गये। अब दुनिया की कोई शक्ति उन्हें मुक्त होने से रोक नही सकती। अब उनकी अधोगति सदा के लिए निरुद्ध हो गयी। मनुष्य, देव या ब्रह्मलोकों में अधिक से अधिक सात जन्म लेकर अंततः सर्वथा विमुक्त अर्हंत पद पाने के अधिकारी हुए। स्रोतापन्न की ऐसी अवस्था प्राप्त हुई जहां व्यक्ति किसी शील या व्रत की अतियों में जाकर उनके द्वारा ही मुक्त हो जाने की सारी भ्रामक आसक्तियां छोड़ देता है, जहां

इस शरीर और चित्त के प्रपंच के प्रति ' मैं मेरे ' का भाव सदा के लिए टूट जाता है और जहां मार्गदर्शक और मार्ग के प्रति सारी शंकाएं विदीर्ण हो जाती हैं। क्योंकि साधक प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा परम सत्य को जानकर स्वीकार करता है।

अनार्य अवस्था से ऐसी आर्य अवस्था प्राप्त हो जाने पर सभी कृतज्ञता-विभोर हो उठे। श्रेणिक बिम्बिसार ने अपनी अपरिमित श्रद्धा प्रकट करते हुए कहा :

''आश्चर्य है भन्ते भगवन्! अत्यंत आश्चर्य है! अत्यंत अद्भुत है आप की धर्मदेशना! जैसे कोई औंधे को सीधा कर दे, ढके को उघाड़ दे, भूले-भटके को रास्ता दिखा दे, अँधेरे में प्रकाश का दीपक जला दे; ताकि जिनके आंखे हैं वे रास्ता देख सकें। आपने भीतर की ऐसी सच्चाई दिखाई जो अब तक अज्ञात थी। आज से मुझे बुद्ध के प्रति, उनके सिखाए हुए धर्म के प्रति और उस धर्म के पथ पर चलकर निर्मल चित्त हुए साधक संघ के प्रति, आजीवन शरणागत मानें और अपना उपासक स्वीकारें !''

राजा बिम्बिसार ने समस्त भिक्षु संघ सहित भगवान बुद्ध को अगले दिन के भोजन के लिए आमंत्रण दिया। भगवान ने मौन रहकर स्वीकृति दी। दूसरे दिन अत्यंत श्रद्धबहुल चित्त से बुद्ध-प्रमुख भिक्षु संघ को भोजन-दान देकर कृतार्थ हुआ। उस समय उसके मन में यह चेतना जागी कि भगवान कुछ दिन इसी राजनगरी में रहें तो उनकी अमृतवाणी से, उचित मार्गदर्शन से मेरे परिवार के अन्य सदस्यों का तथा मेरी प्रजा के पुण्यशाली लोगों का परम कल्याण होगा। भगवान का निवास न शहर से बहुत दूर हो और न ही भीड़ वाले हिस्से में हो। इसके उपयुक्त उसे अपना राजकीय वेणुवन याद आया जिसे उसने भगवान को दान दे दिया। भगवान ने इस पुण्यकार्य का अनुमोदन कर उसे लोक-कल्याण हेतु भिक्षु संघ के लिए स्वीकार कर लिया। बिम्बिसार कृतार्थ हुआ।

कृतज्ञता के मोदभरे शब्दों में श्रेणिक बिम्बिसार ने कहा :

"भन्ते भगवन्! मैं कितना भाग्यशाली हूं! जब मैं राजकुमार था तो मेरे मानस में पांच बड़ी अभिलाषाएं जागी और वे पांचों की पांचों पूरी हुईं।

पहली अभिलाषा यह थी कि मेरा राज्याभिषेक हो और वह हुआ।

दूसरी अभिलाषा यह थी कि मेरे शासनकाल में ही कोई व्यक्ति सम्यक् सम्बुद्ध बने और उसका मेरे राज्य में पदार्पण हो, और ऐसा हुआ।

तीसरी अभिलाषा यह थी कि मैं उनका अभिनंदन- अभिवादन कर सकूं, और ऐसा हुआ।

चौथी अभिलाषा यह थी कि भगवान बुद्ध मुझे धर्मोपदेश करें और ऐसा हुआ।

और मेरी पांचवी और सबसे बड़ी अभिलाषा यह थी कि मैं भगवान बुद्ध के उपदेशों को हृदयंगम कर सकूं, और ऐसा ही हुआ, भन्ते भगवन्!

मेरी पांचों तमन्नाएं पूरी हुईं। सचमुच मैं बड़ा भाग्यशाली हूं।

श्रेणिक बिम्बिसार सचमुच बड़ा भाग्यशाली था।

२० / रूप-गर्विता खेमा

उन दिनों भी मद्र देश के लोग बहुत सुन्दर होते थे। उस देश की राजधानी का नाम सागल था, जिसे आज स्यालकोट कहते हैं। सागल की राजकुमारी खेमा अपूर्व सुंदरी थी। सुवर्णवर्णा थी। रूप-राशि थी। मगध सम्राट बिम्बिसार के यहां विवाहित होकर राजगृह आयी तो महारानी कोशलदेवी उस समय अग्र राजमहिषि थी। परंतु मद्र जैसे छोटे से प्रदेश की राजकुमारी होते हुए भी बिम्बिसार ने उसे कोशलदेवी के समकक्ष अग्र राजमहिषि का ही पद दिया। यह उसके अपूर्व सौन्दर्य के कारण ही हुआ। सारे रनिवास में उस जैसी रूपसुन्दरी और कोई नही थी। उन दिनों का सौन्दर्य-उपासक सम्राट बिम्बिसार अन्तःपुर में उसके इर्द-गिर्द भँवरे की तरह मँडराया करता था। इसी कारण उसे अपने रूप-सौन्दर्य पर बहुत नाज़ था, गर्व था, अभिमान था। इस कारण वह लम्बे अरसे तक भगवान बुद्ध के सम्पर्क में नही आयी। उनसे कतराती रही। क्योंकि वे रूप की निन्दा करते थे। रूप में दोष देखते थे। रूप के दोष दिखाते थे। बिम्बिसार पर भी इसका असर हुआ था। अब बिम्बिसार पहले वाला बिम्बिसार नही रह गया था। अब पहले कि भांति वह काम-वासनाओं का गुलाम नही रह गया था। रूपवती खेमा के लिए यह असह्य था।

बिम्बिसार अब सचमुच बदल गया था। जीवन के इकतीस वें वर्ष में जब वह पहली बार सम्यक् सम्बुद्ध के सम्पर्क में आया और उनके मार्ग-निर्देशन पर श्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की तो सारा जीवन ही बदल गया उसका। सद्गृहस्थ की सारी पारिवारिक जिम्मेदारियों और राज्यशासन के सारे उत्तरदायित्त्वों को पूर्ववत् भली-भांति निभाते हुए भी अब उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया था। अब उसमें निरंकुश शासक की सी पहले वाली उद्दंडता नही रह गयी थी। अब वह पहले की तरह दूर-दूर देश की जनपद-कल्याणियों के पीछे दौड़नेवाला कामुक बिम्बिसार नही रह गया

था। अपने इस बदले हुए स्वभाव को देखकर उसे स्वयं बहुत प्रसन्नता थी। बहुत संतुष्टि थी।

यह लोकमान्यता थी कि शासन करनेवाला व्यक्ति जाने-अनजाने अनेक ऐसे दुष्कर्म कर ही लेता है, जिनकी वजह से उसे नरक की योनि मिलती है। परंतु अब तो विकार-विमुक्ति की ऐसी विद्या मिली, जिसके कारण श्रोतापन्न अवस्था प्राप्त हुई। अधोगति की ओर ले जानेवाले सारे भवकर्म-संस्कारों का उन्मूलन हो गया। भविष्य में ऐसा कोई कर्म कर ही नही सकता था, जो नरक की ओर ले जाए। यद्यपि अभी सारे भवों से नितांत विमुक्ति नही मिली; परंतु नरक से, अधोगति से तो नितांत विमुक्ति मिल ही गयी थी।

अन्यान्य धर्माचार्यों ने विकार-विमुक्ति के अनेक उपदेश दिए, परंतु इस महापुरुष ने तो विकार-विमुक्ति की सक्रिय विद्या दी। अपने भीतर विकारों को तटस्थ भाव से देखते हुए उन्हें क्षीण कर सकने का एक सरल, पर प्रभावशाली उपाय दिया और उसका अभ्यास कर प्रत्यक्ष लाभान्वित भी हुआ।

बिम्बिसार को अपने परिवार के लोग बहुत प्रिय थे। अतः चाहने लगा कि उन्हें भी यह शांति-प्रदायिनी विद्या मिले। उनका भी कल्याण हो। उसे अपनी प्रजा बहुत प्रिय थी। अतः चाहने लगा कि उसकी प्रजा भी भगवान के बताए हुए मार्ग पर चलकर अपना कल्याण साध ले। परंतु यह भी जानता था कि इसके लिए किसी पर दबाव नही डालना चाहिए। अध्यात्म का जो मार्ग जिसे रुचिकर हो, वह उसे स्वेच्छा से अपनाए; परंतु अपनी ओर से तो इस मार्ग की ओर ले जाने के लिए प्रेरित करता ही रहता था। प्रेरणा देने का काम भी बहुत समझदारी के साथ करता था, जिससे किसी को यह न लगे कि सम्राट आग्रही है।

उसे रानी खेमा भी बहुत प्रिय थी। अतः चाहता था कि वह भगवान के

सम्पर्क में आए और धर्म सीखे, पर यह भी जानता था कि उसे भगवान से वितृष्णा है। उनके द्वारा की गयी रूप-भर्त्सना से वितृष्णा है। इसलिए वह रूपमानिनी भगवान के दर्शन और उनके उपदेश सुनने के लिए एक बार भी नही आयी। पहली बार जब इसी उद्देश्य से भगवान को अपने घर निमंत्रित किया और भोजनदान दिया कि राजपरिवार के सभी लोग उनके सम्पर्क में आएं, तब भी खेमा दूर ही रही। नगर में वेणुवन का दान देकर भगवान को कुछ समय के लिए राजगृह में रहने का शुभ संकल्प भी इसीलिए किया कि उसके परिवार और राज्य के लोग भगवान के सम्पर्क में आएं और शुद्ध धर्म सीखकर शांति-लाभ लें। परंतु खेमा कभी वेणुवन नही गयी।

बरस-पर-बरस बीतते गए। भगवान तथा उनके साथी अन्य अनेक आर्य संतों के तप से वेणुवन की तपोभूमि परम पावन हो उठी। तप्त संसार के व्याकुल, व्यथित लोगों के लिए शांति की शीतल निर्झरिणी लहराने लगी। उस वन-प्रदेश में जो आता उसे ही शांति मिलती। लोग भगवान के उपदेश सुनते। उनकी बताई हुई विपश्यना विधि से ध्यान करते और दुःख-विमुक्त होते। राजपरिवार के अनेक लोगों ने भगवान के सान्निध्य का लाभ उठाया, पर मानिनी खेमा इस लाभ से वंचित ही रही।

बिम्बिसार खेमा के इस व्यवहार से दुःखी था। वह हृदय से चाहता था कि खेमा भगवान के उपदेश सुने। उनसे साधना सीखे और अपना मंगल साध ले। परंतु उसने परिवार के अथवा राज्य के किसी व्यक्ति पर इस बारे में कभी कोई दबाव नही डाला। अतः खेमा पर भी कोई दबाव नही डालना चाहता था। अन्ततः उसने एक युक्ति सोची।

खेमा को गायन विद्या से बहुत प्रेम था। अच्छे-अच्छे संगीतकार और गायक उसके मनोरंजन के लिए अन्तःपुर में बुलाए जाते थे। बिम्बिसार ने वेणुवन की मनोरमता पर कुछ गीत लिखवाए और कुछ एक अच्छे गायकों को वे गीत खेमा को सुनाने के लिए भेजा। वेणुवन का नंदनवन जैसा वर्णन

सुनकर उसके मन में यह अभिलाषा जागी कि वह वेणुवन की सैर करने जाए, परंतु ऐसे समय, जब कि भगवान भिक्षाटन के लिए बाहर गए हुए हों। महाराज बिम्बिसार ने ऐसा ही प्रबंध कर दिया। राजपरिवार के कुछ लोगों और सेवक-सेविकाओं के साथ राजरानी खेमा को वेणुवन भेज दिया।

खेमा वेणुवन पहुँची। वहां की नैसर्गिक सौन्दर्य-सुषमा और शांतिप्रद वातावरण देखकर वह अत्यंत प्रभावित हुई। जैसा सुना था, उससे भी कही बढ़कर मनोरम पाया इस वेणु उद्यान को। सारा तपोवन वृक्ष-वल्लरियों से हराभरा, प्रफुल्लित फूलों से लदा हुआ। कोयल की मीठी कुहुक, नानारंगी विहगों के कलरव, नृत्य करते मयूरों की कूऽक और भँवरों की गुँजार से गुँजित वह नैसर्गिक वाद्यवृंद, उसके मन को बहुत भाया। टहलने के लिए बड़ी सुंदर और साफसुथरी वीथियां, स्थान-स्थान पर तापसों के निवास और ध्यान के अनुकूल आवास। चारों ओर शांति ही शांति। दूर दूर तक फैले हुए उस तपोउद्यान की सैर करते-करते उसे समय का भान ही न रहा। कहां राजमहलों का घुटनभरा वातावरण, ईर्ष्या-द्वेषभरी अशांति और कहां यह प्रकृति की उन्मुक्त मधुरिमा और तपोभूमि की अगाध शांति। घूमते-घूमते बहुत समय बीत गया। भगवान और भिक्षु संघ भिक्षाटन से लौट आए। उसने देखा अनेक स्थानों पर पेड़ों के नीचे अथवा फूस से छाए मंडपों के तले अनेक विपश्यना योगी ध्यान कर रहे हैं। उनमें से अनेक युवक हैं। उन्हें देखकर उसके मन में यह भाव जागा कि यह उम्र ध्यान करने योग्य नही है। इस उम्र में तो गृहस्थ जीवन के कामभोग का सुख भोगना चाहिए। ध्यान वृद्धावस्था के लिए ही उपयुक्त है। ये लोग अपनी युवावस्था क्यों नष्ट कर रहे हैं?

इन्ही विचारों में रमती हुई वह उस स्थान पर पहुँची, जहां भगवान की गंध कुटी थी। उसके समीप एक पेड़ के नीचे स्वयं भगवान बैठे थे। जिन्हें टालना चाहती थी उन्ही का सामना हो गया। भगवान ने नजर उठाकर खेमा की ओर देखा। उनकी आंखों में असीम करुणा थी। परंतु खेमा ने तो सदा

वासना भरी आंखें ही देखी थी। यहां इन आंखों में तो वासना का नामोनिशान नही। उसे कुछ अच्छा नही लगा। भगवान ने एक बार देखकर उपेक्षा से अपनी आंखें फेर ली। रूपगर्विता खेमा के दर्प को बड़ी चोट लगी। उसे जो देखता, एकटक देखता ही रह जाता। उसके रूप-लावण्य का ऐसा तीव्र आकर्षण था। आज पहली बार उसने देखा कि किसी पुरुष ने उसे एक नजर देखकर अपनी आंखें फेर ली। उसे यह सहन नही हुआ।

भगवान ने देखा, खेंमा के पास अनेक जन्मों में अर्जित प्रभूत पुण्य पारमिताओं का संग्रह है। परंतु इस समय उसके लिए कोई बहुत बड़ा अंतराय जागा हुआ है। भगवान ने उसका मनोभाव जाना। इस समय की मनोस्थिति में उस रूपमुग्धा को शब्दों द्वारा धर्म नही समझाया जा सकता। यह सुनेगी भी नही, सुनेगी तो समझेगी भी नही। इसे तो ऐसे ही धर्म समझाया जाय, जैसे यह समझ सके। महाकारुणिक ने धर्ममय ऋद्धिबल का उपयोग किया। खेमा ने देखा भगवान के समीप एक अत्यंत रूपवती देवांगना उपस्थित हो गयी है और उनकी सेवा में लग गयी है। उन पर पंखा डुलाने लगी है।

खेमा उसकी रूपशोभा देखकर आश्चर्यचकित रह गयी। यह देवलोक की अप्सरा-सी, ऐसा रूप तो उसने पहले कभी देखा ही नही था। अनुपम नारी-सौन्दर्य की सजीव प्रतिमा, अंग-अंग लावण्य से भरपूर। अरे! मैं तो इसकी परिचारिका बनने योग्य भी नही। जिसकी सेवा में ऐसी अप्सराएं नियत हों, वह मेरी ओर आंख उठाकर क्यों देखे भला? रूप-सौन्दर्य का ऐसा समुच्चय! खेमा विस्मय-विमुग्ध होकर उस अप्सरा को देखती रही, देखती रही।

कुछ देर में उसने देखा कि यह नवयौवना धीरे-धीरे प्रौढ़ा हो गयी। सौन्दर्य की आभा ढलने लगी और देखते-ही-देखते, अरे! यह क्या हुआ? यह तो वृद्धा हो गयी। इसकी सुन्दर काली केशराशि को क्या हुआ? कैसी

हिमसी सफेद हो गयी! बिखरे-बिखरे, रूखे-सूखे बाल, जैसे किसी पक्षी का घोंसला हो। और वह आभायुक्त चेहरा, क्या हो गया इसे? कैसा विवर्ण, कैसा विकृत! कान किस कदर सिकुड़ गए। वह नयन-कमल किस प्रकार गढ़ों में धँस गए! वह मोतियों जैसी शुभ्र दंतपंक्तियां, कहां गयी? एक भी दांत नही बचा मुँह में। पोपले मुँह से गिरती लार इस वृद्धा से सँभाले भी नही सँभलती। यह क्या हो गया चेहरे पर? चेहरे पर ही नही, सारे शरीर पर झुर्रियां ही झुर्रियां। हड्डियों का ढांचा, जिस पर यहां-वहां उभरी बदसूरत नसें और तिस पर ये झुर्रियां। अरे! देख, इस अस्थिकंकाला नारी की कमर झुकती जा रही है, झुकती जा रही है। डंडे के सहारे खड़ी है। दुर्बलता के कारण हाथ कांपते हैं, पांव कांपते हैं, सारा शरीर कांपता है। अरे! यह तो अब डंडे के सहारे भी नही टिक सकती। झुकते-झुकते गिर ही पड़ी। हाथ में पंखा भी नही सँभाल पा रही। वह भी छूट कर गिर पड़ा हाथ से। अरे! यह तो ढेर हो गयी। उखड़े-उखड़े सांस आ रहे हैं। यह देखो, अब तो सांस भी रुक गया। ओह! यह हड्डियों का ढेर। झुर्रियों भरी शिथिल लटकती चमड़ी का ढेर। अरे! यह तो सचमुच ढेर हो गयी। मृत हो गयी। मुर्दा हो गयी। सचमुच मर ही तो गयी।

ओह! ऐसे सुन्दर रूप की यह अंतिम परिणति? खेमा के मन में यकायक बिजली सी कौंधी। क्या मेरी भी यही दशा होगी? मेरा रूपलावण्य भी ऐसे ही जर्जरित हो जाएगा? ऐसे ही निष्प्राण हो जाएगा? सचमुच यही तो होगा!

बड़ा धर्मसंवेग जागा। बड़ा धर्मसंवेग जागा खेमा के मन में। ऐसी जरा-धर्मा, मरण-धर्मा, अशुचि-धर्मा काया के प्रति कितना तादात्म्य, कितना चिपकाव, कितनी आसक्ति? यकायक अनेक जन्मों की संचित पुण्य पारमिताओं का धर्मबल जाग गया। भगवान ने देखा, अब इसकी मनोस्थिति धर्म सुनने-समझने योग्य है, तो उन्होंने करुणाविगलित वाणी में प्रज्ञा जगानेवाले चंद शब्द कहे :

"देख खेमा, इस शरीर को देख, जो सड़ता है, चूता है, गंदा है, बदसूरत है, मृत है! मूढ़जन ही इसका अभिनंदन करते हैं। चित्त को एकाग्र करके शरीर की इस गंदगी की भावना कर! कायगतासति द्वारा इसके प्रति निर्वेद जगा, अनासक्ति जगा! समझ, जैसा यह शरीर है, वैसा ही तेरा शरीर है! जैसा तेरा शरीर है, वैसा ही यह शरीर है! जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर है। जैसा भीतर है, वैसा ही बाहर है। अशुचि का, गंदगी का ढेर है यह। इस नश्वर शरीर के प्रति विमुख हो! उस परम विमुक्त अविनाशी अवस्था के प्रति आमुख हो! सम्यक् विपश्यना करके अपने अहं भाव की जड़ें खोद ले और निर्वाणिक अनुभूति करके उपशांत चित्त का जीवन जी!"

इस अमृत वाणी से जब खेमा का चित्त धर्म की ओर आमुख हुआ, प्रफुल्लित हुआ, प्रमुदित हुआ, ऋजु हुआ तो भगवान ने उसे महानिदान सुत्तंत की गंभीर देशना दी, जिसे सुनते-सुनते उसे पूर्वजन्मों की भावित की हुई याने साधी हुई **अनिच्च सञ्ञा** याने अनित्य बोध का स्मरण हो आया। भीतर विपश्यना चल पड़ी। सारे शरीर में अनित्यता का स्वतः अनुभव होने लगा। चित्त निर्मल होने लगा, शांत होने लगा और विशुद्ध धर्मचक्षु जागे। जो कुछ उत्पन्न होता है, उसका निरोध होता है। इस प्रकार निर्वाणिक निरोध अवस्था का साक्षात्कार हुआ और उसे श्रोतापन्न अवस्था प्राप्त हुई। स्वयं भगवान सम्यक् सम्बुद्ध द्वारा कल्याणकारी मार्ग का निर्देशन मिला। अनेक जन्मों की संग्रहीत अपनी पारमिताओं का प्रतिफल मिला। खेमा धन्य हुई।

वह भावविभोर होकर भगवान के चरणों में गिर पड़ी और आभार प्रकट किया। उसे अब समझ में आया कि काम-मोह में डूबी रहने के कारण इन महाकारुणिक से दूर रहकर वह अपने ही हित-सुख से वंचित रही। भगवान की मंगलमयी अमृतवाणी से अभिसिंचित होकर वह महाराज बिम्बिसार के पास गयी और उसके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट की कि किस उपाय कौशल्य से आप ने मुझे भगवान के पास भेज दिया। गयी थी वन-दर्शन के

लिए, पर उस महामुनि ने निर्वाण-दर्शन करा दिया। मेरा बड़ा कल्याण हुआ। उनके मार्गदर्शन से मेरे मन में बड़ा निर्वेद जागा है। मुझे उनके धर्मशासन में प्रव्रजित होने कि अनुज्ञा दीजिए।

बिम्बिसार अब पहलेवाला कामातुर बिम्बिसार नही रह गया था। अपने अन्तःपुर की सर्वोपरि सुन्दरी को प्रव्रज्या लेते देखकर, अब वह हर्षित होता है। सहर्ष अनुमति देता है।

और खेमा प्रव्रजित होती है। भ-।वान के चरणों में भिक्षुणी खेमा गहन विपश्यना का आगे का पाठ सीखती है और अपने पूर्व जन्मों के अभ्यास के कारण केवल एक पक्ष में ही अर्हंत अवस्था प्राप्त कर लेती है और फिर लगा देती है अपना शेष जीवन लोक-सेवा ही लोक-सेवा में। इस कल्याणकारी विद्या को पाकर कितनी भूली भटकी नारियां भव-भव के बंधनों से विमुक्त हो जाएंगी !

उसकी धर्म सिखाने की कला अत्यंत प्रभावशाली थी, क्योंकि उसकी अपनी प्रज्ञा अत्यंत बलवती थी। भगवान ने उसकी इस योग्यता को देखकर ही घोषित किया :

"एतद्दग्गं भिक्खवे, ममसाविकानं भिक्खुणीनं महापञ्ञानं यदिदं खेमा।"

इस प्रकार सभी श्राविकाओं में, भिक्षुणियों में उसे महाप्रज्ञावती के अग्रपद से विभूषित किया।

धन्य है धर्म ! जिसने उस कामातुरी नारी को कामराग के बंधनों से। मुक्त किया और महाप्रज्ञावती बनाया।

सभी प्रज्ञावती बनें! सभी प्रज्ञावान बनें! सभी अपना कल्याण साध लें! ●

२१ / अनमोल भेंट

राज्य का शासक होने के कारण प्रजा के विभिन्न सांप्रदायिक वर्गों को प्रसन्न रखने के लिए मगध-नरेश बिम्बिसार उन दिनों के सभी आचार्यों के प्रति मान-सम्मान बनाए रखता था। उन्हें जिस प्रकार पहले दान-दक्षिणा देकर संतुष्ट रखता था वैसे ही अब भी रखता रहा। भगवान का यही आदेश भी था कि अपने पूर्व आचार्यों को दी जानेवाली दान-दक्षिणा में कोई कमी न आने पाए।

परन्तु अब तो वह भगवान बुद्ध और उनके सिखाए हुए सांप्रदायिकताविहीन शुद्ध धर्म के प्रति अनन्यभाव से समर्पित था क्योंकि इसी मार्ग पर चलकर उसने स्वयं सत्य का साक्षात्कार किया था और स्रोतापन्न बना था। उसकी श्रद्धा अटूट थी।

उन्हीं दिनों की एक घटना।

रोरुव नगर का शासक महाराज तिष्य। दूरी के कारण एक दूसरे से साक्षात्कार न हो सका, परन्तु राजदूतों के माध्यम से और पारस्परिक संदेशों के आदान-प्रदान से वह श्रेणिक बिम्बिसार का परम मित्र हो गया था। उसे अपना परम सहायक मानने लगा था।

एक बार महाराज तिष्य ने अपने अनदेखे परम मित्र और सहायक महाराज बिम्बिसार को अपने राजदूत के जरिए बहुमूल्य वस्त्राभूषण और मणिमुक्ता से भरा थाल उपहार स्वरूप भेजा। बिम्बिसार बहुत प्रसन्न हुआ। उसे भी बदले में अपने मित्र को कोई उपहार भेजना था। रत्नों का ही उपहार भेजा जाना उपयुक्त था। परन्तु ऐसे उपहार पहले अनेक बार भेजे जा चुके थे। इस बार कोई अनोखा उपहार भेजना चाहिए। अब तो बुद्ध की शरण आ गया था। तुरंत यह बात ध्यान में आई :

यं किञ्चि वित्तं इध वा हुरं वा,
सग्गेसु वा यं रतनं पणीतं।
न नो समं अत्थि तथागतेन,
इदम्पि बुद्धे रतनं पणीतं।।
इदम्पि धम्मे रतनं पणीतं।।
इदम्पि संघे रतनं पणीतं।।

ये जो भी भौतिक रत्न सम्पदा यहां मेरे पास है अथवा वहां मेरे मित्र के पास है अथवा जो भी बहुमूल्य रत्न स्वर्गलोकों में हैं, उनमें से किसी का भी मुकाबला उस रत्न से नही किया जा सकता, जो कि तथागत में है, ऐसा अनमोल रत्न बुद्ध में, धर्म में, और संघ में है। क्यों न मैं ऐसा सर्वोत्तम, सर्वमाङ्गल्यमय अनुपम रत्न अपने मित्र के पास भेजूं?

अतः उसने एक कुशल कलाकार को बुलवाया और एक चित्रपट पर बुद्ध-किथा अंकित करवाई। ऐसे हैं भगवान अर्हंत, सम्यक् सम्बुद्ध, जो कि शाक्य-वंश के राजकुल में जन्मे और सत्य की खोज में घर से बेघर हो अरण्यवासी हुए। विभिन्न साधना पद्धतियों का अभ्यास करके भी लक्ष्य-सिद्धि नही हुई तो स्वयं प्रयत्न करके विपश्यना पद्धति खोज निकाली और उसका अभ्यास कर सम्यक् सम्बुद्ध बने। करुण चित्त से वाराणसी के मृगदाय वन में धर्मचक्र प्रवर्तन किया और फिर लोगों पर अनुकम्पा करते हुए बहुजन के हित सुख के लिए, राजा और प्रजा के भले के लिए वे ऐसे शुद्ध धर्म का प्रज्ञापन कर रहे हैं, जो कि आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अंत में कल्याणकारी है। ऐसा धर्म जो केवल परिपूर्ण है, केवल परिशुद्ध है। केवल परिपूर्ण इस माने में कि शील समाधि प्रज्ञा वाले इस आर्य अष्टांगिक मार्ग में और कुछ जोड़ने की आवश्यकता ही नही। क्योंकि इसमें कोई कमी नही। केवल परिशुद्ध इस माने में कि इसमें से कुछ निकालने की आवश्यकता ही नही। क्योंकि इसमें रंचमात्र भी कही कोई अशुद्धि नही।

भगवान धर्म को शब्दों के स्तर पर ही नहीं, अर्थ के स्तर पर समझाते हुए अच्छी तरह आख्यात करते हैं। केवल सिद्धान्तों के स्तर पर ही नहीं, बल्कि व्यवहार के स्तर पर प्रकाशित करते है। इस ब्रस्माचरण को, धर्माचरण को स्वयं अपने जीवन में उतार कर प्रकाशित करते हैं।

ऐसा धर्म जो भली प्रकार सुआख्यात है; जो सांदृष्टिक है, जिसमें काल्पनिक मान्यताओं को कोई स्थान नही, जो अकालिक है याने जिसके पालन करने पर यही फल प्राप्त होता है, जिसे कोई भी आए और देख ले, जो मुक्ति के लिए सीधा मार्ग है और जो हर समझदार व्यक्ति के लिए स्वयं अनुभव करने योग्य है।

ऐसे हैं इस विशुद्ध मार्ग पर चलने वाले साधकसंघ जोकि स्रोतापन्न हैं या सगदागामी हैं या अनागामी हैं या अर्हंत हैं। इसलिए पूज्य हैं। अनुत्तर , पुण्य क्षेत्र हैं।

ऐसा है यह अनुत्तर धर्मशासन, ऐसे हैं इस सद्धर्म के महाकारुणिक शास्त्ता, ऐसा है इस शास्त्ता द्वारा अनुशासित विमल श्रावक संघ।

और फिर एक स्वर्ण पत्र पर प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त उत्कीर्ण करवाया। जब छह इंद्रियों पर तत्संबंधित विषयों के संस्पर्श से संवेदना होती है, तब अविद्या की वजह से रागद्वेषमयी तृष्णा जागती है और यों दुखों का आरंभ हो जाता है। अपनी ही नासमझी से उसका संवर्धन होने लगता है। दूसरी ओर विपश्यना विद्या द्वारा इन छह इंद्रियों के निरोध हो जाने से स्पर्श का स्वतः निरोध हो जाता है। इस इंद्रियातीत, वेदनातीत अवस्था में तृष्णा का निरोध हो जाता है तो दुःख का ही निरोध हो जाता है। नए संस्कार बनते नही और पुराने सभी क्षीण हो जाते हैं तो साधक स्वतः विमुक्त अवस्था प्राप्त कर लेता है।

सार्वजनिक, सार्वकालिक, सार्वदेशिक धर्म-नियामतता का यह सिद्धांत

एक स्वर्ण पत्र पर अंकित करवाया। इस चित्रपट और स्वर्ण पत्र को अपने मित्र तिष्य के पास भेज दिया, जो कि अनमोल रत्न होने के कारण मित्र के लिए अत्यंत कल्याणकारी साबित हुआ।

तिष्य ने जब इस धर्म-रत्न का संदेश पढ़ा तो उसके मन में तीव्र धर्म-संवेग जागा। लोक में कोई व्यक्ति बुद्ध बना है! और मुक्तिदायक शुद्ध धर्म सिखा रहा है! और हजारों की संख्या में लोग उसका अभ्यास कर विमुक्त अवस्था का साक्षात्कार यही इसी जीवन में कर रहे हैं! यह संदेश सचमुच बड़ा प्रेरणादायक था। तिष्य ने अपना राजपाठ छोड़ा, घरबार छोड़ा और राजगिरि आकर भगवान की शरण ग्रहण की। उसने प्रव्रजित हो उनसे विपश्यना-साधना सीखी और कठोर परिश्रम करके अचिरकाल में ही मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली। तिष्य स्थविर अर्हन्तों में से एक हुए। मुक्ति की उस अवस्था में उन्होंने धर्म का जो उदान गाया वह यों है :

हित्वा सतपलं कंसं सोवण्णं सतराजिकं।
अग्गहिं मत्तिकापत्तं इदं दुतिया'भिसेचनं॥

भारी कांसे के पात्रों का और बहुमूल्य सुन्दर सुचित्रित सुवर्ण पात्रों का परित्याग कर यह जो मिट्टी का भिक्षापात्र ग्रहण किया, यही मेरा दूसरा अभिषेक है।

पहला अभिषेक तो विभिन्न नदियों और राजपुष्कर्णियों के जल से किया गया राज्याभिषेक था जो कि कितना नश्वर और कितना निस्सार था। परन्तु यह दूसरा अभिषेक शुद्ध धर्मामृत से किया गया, जो कि कितना कल्याणकारी और स्वस्तिमुक्ति प्रदायक साबित हुआ है।

धन्य है यह दूसरा अभिषेक! धन्य है सन्मित्र का अनमोल धर्म उपहार! कितना सार्थक! कितना सफल! ●

निर्मल वाणी संत की, सुखदायी ही होय!
जागे मंगल प्रेरणा, तन मन पुलकित होय!!

सही वंदना

१ / कल्याण-मार्ग

उदान वायु माने वह श्वास-वायु , जो हृदय से उठे और कंठ-तालू तक आकर मुँह से बाहर निकले। इसी प्रकार उदान वचन माने वह उद्गार, जो सीधे हृदय से उठे और वाणी द्वारा प्रकट हो जाय। ऐसा उद्गार शोकजन्य भी हो सकता है और हर्षजन्य भी। परंतु पुरातन भाषा में सामान्यतया हर्षजन्य उद्गार को ही उदान कहा गया है। २५०० वर्ष पूर्व भगवान बुद्ध तथा अन्य संतों द्वारा समय-समय पर प्रवदित उल्लास-वचन उदान कहलाए। **अनेक जाति संसारं.....** भगवान का बहु प्रसिद्ध प्रथम उदान है, जो कि बुद्धत्व प्राप्त होते ही निर्वाण का साक्षात्कार होने पर उनके मुँह से निकला। तदनंतर कई अवसरों पर किसी-न-किसी घटना को देखकर उनके मुँह से अनायास हर्ष के उद्गार निकले **'अथ खो भगवा एतमत्थं विदित्वा तायं वेलायं इमं उदानं उदानेसि।'** याने उस समय इस बात को जानकर भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े।'' ऐसे हर्षोद्गारों को कालांतर में **उदान** के नाम से ही संग्रहीत किया गया, जो कि पालि त्रिपिटक के 'खुद्दक निकाय' नामक संग्रह का एक लघु , परंतु अत्यंत प्रेरणादायक ग्रन्थ है।

जिस कल्याणी विपश्यना के अभ्यास से उन्हें स्वयं नितांत विमुक्ति मिली, उसी का अभ्यास जीवन भर लोगों को कराते रहे। इस विधि द्वारा स्वयं विमुक्त होकर हर्षित हुए। अतः अन्य साधकों को भी इसका सकुशल अभ्यास करते देख अथवा अभ्यास द्वारा मुक्त हुआ देखकर उनके मुँह से यदा-कदा उदान के शब्द निकले हैं। आज हम ऐसे ही एक उदान की चर्चा करेंगे।

एक बार भगवान श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा —**अञ्ञतरो भिक्खु भगवतो**

अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय पुराणकम्मविपाकजं दुक्खं तिब्बं खरं कटुकं वेदनं अधिवासेन्तो सतो सम्पजानो अविहञ्ञमानो।

अर्थात, कोई एक भिक्षु भगवान के समीप पालथी मारकर कमर सीधी करके बैठा हुआ अपने पुराने कर्मों के विपाक द्वारा जो अत्यंत तीव्र, कठोर और कटु दुःखद संवेदना अनुभूत हो रही थी, उन्हें बिना विकल हुए, उनके अनित्य स्वभाव को भलीभांति समझता हुआ स्मृतिवान रहकर सहन कर रहा था।

उस समय यह देखकर भगवान के मुँह से उदान के यह वचन निकल पड़े :

सब्ब कम्मजहस्स भिक्खुनो धुनमानस्स पुरे कतं रजं।
अममस्स ठितस्स तादिनो अत्थो नत्थि जनं लपेतवे॥

अर्थात्, जिस भिक्षु ने समस्त नए कर्म करने त्याग दिए, बंद कर दिए और पुराने कर्मों का जो मैल संग्रहीत था, उसे धुन-धुन कर दूर कर रहा है, वह साधक ऐसा करते हुए विपश्यना-साधना के उस धरातल पर स्थित हो गया है, जहां कि 'मेरा' कहने के लिए कुछ नही रह गया है। ऐसा साधक अब लोगों से क्या बात करेगा ? लप-लप करने के लिए कुछ नही रह गया। वह आर्य मौन में स्थित होकर सतत साधनारत है।

किसी को मुक्ति के मार्ग पर लगे हुए देखकर उस महाकारुणिक भगवान बुद्ध के मुँह से ऐसे उदान वचन निकलने स्वाभाविक थे। इस उदान में विपश्यना साधना की पूरी विधि बहुत थोड़े से शब्दों में आ गई है। आओ, इस उदान के भाव को जरा विस्तार से समझने की कोशिश करें।

विपश्यना याने विदर्शना याने विशिष्ट, सज्ञान, सम्यक्, यथार्थ, प्रकृत दर्शन। संस्कृत, बनावटी, कपोलकल्पित दर्शन नही। भ्रम-भ्रांति या

विपल्लास (विपर्यास) के मायावी आवरण से जो विकृत हो गया है और जैसा है वैसा न लगकर कुछ और ही लग रहा है; उसे निरावरण कर, जैसा है वैसा, याने यथाभूत दर्शन, सही-सही दर्शन। मोह-मूढ़तापूर्वक नही, बल्कि सज्ञान दर्शन। इसीलिए विपश्यना को **यथाभूत ञाण दस्सनं** (यथाभूत ज्ञान दर्शन) कहा गया। याने यथार्थ का सही ज्ञान (सम्यक् ज्ञान) और सही दर्शन (सम्यक् दर्शन)। यहां दर्शन शब्द का अर्थ रंग रूप देखना नही, बल्कि प्रत्यक्ष अनुभूति करना है।

हमें सबसे बड़ी और सबसे खतरनाक भ्रांति स्वयं अपने बारे में होती है। जो **मैं** नही है, उसके प्रति **मैं** होने की, जो **मेरा** नहीं है, उसके प्रति **मेरा** होने की और जो **मेरी आत्मा** नही है, उसके प्रति **मेरी आत्मा** होने की भ्रांति। यह शरीर न **मैं** हूं, न **मेरा** है, न **मेरी आत्मा** है। इस सच्चाई को श्रुतज्ञान द्वारा याने धर्म-ग्रन्थों को पढ़-पढ़कर, धर्मगुरुओं के धर्मोपदेश सुन-सुनकर भक्ति भावावेश के स्तर पर खूब मान रहे हैं, इससे और आगे बढ़ते हैं तो चिंतन-मनन करके बौद्धिक स्तर पर भी खूब मान रहे हैं, परंतु स्वानुभूति के अभाव में वास्तविकता के स्तर पर तो शरीर को **मैं, मेरा, मेरी आत्मा** समझकर ही सारा जीवन व्यवहार चलता है और इसी कारण मोहजन्य, अहंभाव और ममत्वभाव की आसक्तियों का प्रपंच फैलता है और हमें दुःख-पाश में बांधता है। इसी प्रकार शरीरधारा और चित्तधारा के संस्पर्श के कारण प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाली विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं को, चित्त और चित्तवृत्तियों को **मैं, मेरा, मेरी आत्मा** मानते रहने की मिथ्या दृष्टि के कारण अज्ञानवश नानाप्रकार के विकारों का और परिणामस्वरूप दुःखों का प्रजनन संवर्धन करते रहते हैं। शरीर, संवेदना, चित्त और चित्तवृत्तियों के धर्म-स्वभाव का सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान ही यथाभूत ज्ञानदर्शन है, जो कि उनके उत्पाद व्यय वाले अनित्य लक्षण की प्रत्यक्षानुभूति करवाता है, जिसके परिणामस्वरूप **मैं, मेरे** की भ्रामक दृष्टि और भ्रामक ज्ञान से मुक्त होकर उत्पाद-विहीन, व्यय-विहीन, अच्युत,

अमृत, निर्वाण पद का साक्षात्कार कर सकते हैं। इस सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञानमयी विपश्यना, विदर्शना के अभ्यास को ही भगवान ने मुक्ति के लिए **एकायनोमग्गो** याने एकमात्र मार्ग कहा। सचमुच शरीर और चित्तधारा के प्रति तादात्म्यजन्य मिथ्यादृष्टि के रहते कोई व्यक्ति कैसे विमुक्त हो सकता है भला ? इस अहं और ममत्व से हटकर ही विमुक्ति प्राप्त होती है। ऐसा होने पर ही नए कर्म बनने रुकते हैं और पुराने क्षीण होने लगते हैं।

सचमुच जब कोई साधक नये कर्म बांधना बंद कर दे और पुरानों का क्षय कर ले **खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं** तभी निर्वाणलाभी होता है। किसी दीपक का तेल और बाती समाप्त हो जाय तो वह सहज ही निवृत्त हो जाता है। इन उपादानों के बिना क्या जलेगा ? कैसे जलेगा ?

आओ, समझें ! विपश्यना द्वारा नये कर्मों की ग्रन्थियां कैसे बँधनी बंद हो जाती हैं ? और पुराने कर्मों की ग्रन्थियां धुन धुन कर कैसे खुलती जाती हैं ? नये कर्म बंद करने के लिए ही साधक **निसिन्नोहोति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजु कायं पणिधाय** होता है याने पांव मोड़कर, पालथी मारकर बैठता है, रीढ़ की हड्डी सीधी करके काया को ऋजु रखता है और साधना का अभ्यास शुरू करता है। अधिष्ठानपूर्वक स्थिर बैठा है, हिलता नही, डुलता नही, आंखें बंद हैं, मुँह बंद है। ऐसी अवस्था में स्थूल स्तर पर काया और वाणी के नये कर्म बंद कर लिए गए। अब सूक्ष्म स्तर पर चित्त के नए कर्मों को रोकने के लिए चित्त को अप्रमत्त बनाता है, जागरूक बनाता है। **सतो सम्पजानो** होता है। याने भली प्रकार सम्यक् रूप से जानता हुआ स्मृतिमान होता है। क्या भली प्रकार से जानता हुआ ? इसी सच्चाई को जानता हुआ कि **अनिच्चावत संङ्खारा उप्पादवयधम्मिनो** याने जो कुछ भी संस्कृत है, जो कुछ बनता है वह सचमुच अनित्य ही है। उत्पाद और व्यय होना उसका ध्रुव धर्म है, स्वभाव है, विपश्यी साधक अनुभूतियों के स्तर पर देखता है कि ऊपर ऊपर से चर्म चक्षुओं द्वारा ठोस, स्थूल, स्थिर और जड़वत

लगने वाला यह शरीर सूक्ष्म स्तर पर उत्पाद-व्यय स्वभाव वाले परमाणुओं कि तरंगों के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। इसी प्रकार देखता है कि चेतना स्कंध भी (विज्ञान, संज्ञा वेदना, संस्कार) याने जानने, पहचानने, संवेदनशील होने और प्रतिक्रिया करते हुए नए कर्म संस्कार बनाने की समस्त चेतना भी उत्पाद-व्यय के स्वभाववाली ही है। तरंग ही तरंग। चित्त और काया का समग्र प्रपंच प्रतिक्षण उदय-व्यय, उदय-व्यय के स्वभाववाला है। उर्मियों और बुदबुदों के स्वभाव वाला है। इस सच्चाई को जब-जब प्रत्यक्षानुभूति द्वारा देखता है तब-तब प्रज्ञा में स्थित होता, विद्या में स्थिर होता है। स्थितप्रज्ञ बनता है, विद्यासंपन्न बनता है। जब-जब इससे विमुख होता है तब-तब दुष्प्रज्ञ बनता है, अविद्या में उलझता है। दुष्प्रज्ञ अवस्था में शरीर और चित्तस्कंध पर उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक सुखद या दुखद संवेदना के प्रति तादात्म्य स्थापित करता है, उसे **मैं**, **मेरी** मानता है। अतः वेदना स्कंध याने संवेदनशील होनेवाले चित्तांश के पश्चात् जो संज्ञा स्कंध याने पहचानने वाला चित्तांश उत्पन्न होता है वह भ्रम पैदा करने वाला, अहं, मम से भरा हुआ, सुखद और दुखद के प्रति राग और द्वेष से भरा हुआ ही होता है और परिणमस्वरूप संस्कार स्कन्ध याने प्रतिक्रिया करने वाली चेतना अत्यंत प्रबल होकर राग, द्वेष मूलक अनेक नए-नए कर्म बन्ध बांधती है।

बार-बार के अभ्यास द्वारा साधक विद्या और अविद्या के, प्रज्ञा और दुष्प्रज्ञता के, ज्ञान और अज्ञान के इस विभेद को समझता और स्मृति और सम्प्रज्ञान याने जागरूकता और अनित्यबोध में स्थित रहने का अभ्यास करते हुए अधिक देर ऐसी अवस्था में रहता है, जब कि अविद्या के स्थान पर विद्या जाग्रत रहती है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक संवेदना के प्रति जो प्रज्ञा जागती है, वह उस क्षण के शरीर स्कन्ध और संवेदना स्कन्ध के अनित्य लक्षण को महसूस करनेवाली होती है और इसलिए उसे अमम याने यह मेरी नही है; ऐसा पहचानती है, जिसका परिणाम यह होता है कि उसके प्रति न

राग उपजता है न द्वेष। उसका परिवर्तनशील स्वभाव ही प्रमुख रहता है। इस हालत में संस्कार स्कन्ध निर्बल हो जाता है, नया संस्कार नही बनता। नया संस्कार ही नया कर्म है। साधक जिस क्षण नए कर्म-बंधन को त्यागता है, उस क्षण चित्त-संतति पर किसी पुराने कर्म के फल-विपाक, फल-पकने से होने वाली सुखद-दुखद संवेदना के उत्पन्न होने को अवकाश, अवसर देता है। चित्त-संतति पर पुराने कर्मों के फल स्वरूप जो संवेदना होती है, सामान्यतया उसके कारण अपनी मूढ़तावश हम नई राग-द्वेषमयी प्रतिक्रियाएं याने नए कर्म-संस्कार पैदा करते हैं। परंतु विपश्यना के अभ्यास द्वारा सचेत और सम्प्रज्ञ रहते हुए जो उनके अनित्य लक्षणों को देखता है, उनके साथ ममत्वहीन रहता हुआ राग द्वेष से दूर रहता है, वह इस पुराने कर्म-विपाक का बल क्षीण कर लेता है। अब यह फल-विपाक कैंसर की तरह बढ़ नही सकता। यही **खीणं पुराणं** है।

जहां एक कर्म-विपाक का समूह उदीर्ण हुआ और प्रज्ञापूर्वक उसे क्षय कर लिया वहां दूसरे कर्म-फलों का समूह तत्क्षण प्रकट होगा। यों एक के बाद एक पुराने कर्मों के विपाक का तांता लग जाता है। विपश्यना के प्रज्ञा-यज्ञ में उनकी आहुति लगती जाती है। यह क्रम जितनी देर तक चलता है उतनी देर **खीणं पुराणं** होता रहता है। परंतु जब कोई कर्म विपाक अत्यंत घनीभूत पीड़ा के रूप में प्रकट होता है तो साधक की सारी सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती है, विद्या विलीन हो जाती है, प्रज्ञा क्षीण हो जाती है। पीड़ा के प्रति अममत्व-भाव रख ही नही पाता। बौद्धिक स्तर पर भले अनित्य-अनित्य करता रहे, परंतु वास्तविक स्तर पर ममत्वभाव आ जाने के कारण उसे दूर किया चाहता है और चाहने से वह दूर होती नही। अतः लगता है कि यह तो नित्य है, यह पीड़ा कभी समाप्त नही होगी। वास्तविक स्तर पर अनित्य तब लगे जब कि उसमें भी **उप्पादवयधम्मिनो** उत्पाद-व्यय का धर्म, स्वभाव, तरंगों के रूप में अनुभूत होने लगे। उस स्थूल संघट्ट ठोस पीड़ा की घनसंज्ञा नष्ट कर, सूक्ष्म प्रकंपन लहरियों की

अनुभूति प्रज्ञामयी विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा ही होती है। यही ग्रंथिविमोचन है। यही **धुनमानस्स पुरे कतं रजं** है। यही पुराने कर्म-रज की ग्रंथियों को धुनना है। धुनना माने प्रकम्पित करके अलग करना। जैसे कोई धुनिया कपास की ग्रंथि को अपने धुनके के तार से प्रकम्पित कर खोलता है। कपास का एक-एक तार अलग-अलग कर देता है। छोटी सी ग्रन्थि भी रह जाय, उलझन रह जाय तो धुनना पूर्ण नही हुआ।

इसी प्रकार विपश्यना साधना के अभ्यास में जबतक सघनता की अनुभूति होती रहती है तब-तक धुनना पूरा नही हुआ। घनत्व नष्ट करना ही ग्रन्थि को धुनकर खोल देना है। **पुराणकम्म विपाकजं दुक्खं तिब्बं खरं कटुकं वेदनं अधिवासेन्तो** याने पुराने कर्मों के फल पकने के कारण हुई तीव्र प्रखर, कटु, दुखद संवेदना को सहन करता है। पर कैसे सहन करता है ? यदि विवश-व्याकुल होकर सहन करता है तो यह सहन करना पुराने मैल को दूर करने वाला नही होता। परंतु स्मृति संप्रज्ञान-पूर्वक जागरूक रहते हुए सहता है तो सही माने में **अविहञ्ञमानो** यानी आकुल-व्याकुल हुए बिना सहन करता है। यही विपश्यना है। **यथाभूत ञाण दस्सनं** है। ऐसा करता है तो नए कर्म नही बांधता और इसी वजह से पुरानों को क्षय होने का अवकाश देता है। जैसे ही जरा सी व्याकुलता आयी, याने ममत्वभाव आया वैसे ही राग-द्वेषजन्य प्रतिक्रिया शुरू हुई और यही नया कर्म-संस्कार है। ऐसा होते हुए ही पुराने का धुनना, धुलना रुक गया। परंतु सतत अभ्यास करते-करते समझदार पराक्रमी साधक उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जब कि **अममस्स ठितस्स** यानी अममत्वभाव में पूरी तरह स्थित हो जाता है। अममत्वभाव में स्थित हो गया तभी तीव्र से तीव्र और प्रखर से प्रखर दुखद संवेदना को **अविहञ्ञमानो**, बिना आकुल-व्याकुल हुए सहन करता है और परिणामतः **सब्बकम्मजहस्स** हो जाता है यानी सभी नए कर्मों से बिल्कुल विरत हो जाता है। साधना का सारा समय **धुनमानस्स पुरे कतं रजं** पुराने कर्म को धुनकर साफ करने में ही

लगाता है ताकि उस अवस्था तक पहुँच जाय, जहां **विसंखारगत चित्तं** याने चित्त सारे संस्कारों से विहीन हो जाय, नितांत विमुक्त हो जाय।

ऐसे समझदार साधक को अब अभ्यास करना ही रह गया। लोगों से फजूल बात करने के लिए अवकाश कहां? अवसर कहां? मानवीय जीवन का प्रतिक्षण कितना अमूल्य है। इसे व्यर्थ नही गँवा सकता। वह **अत्थो नत्थि जनं लपेतवे** हो जाता है। जो साधना की गंभीरता को नही समझता या जो अभ्यास करता ही नही अथवा करता है तो थोड़ी बहुत अनुभूतियां प्राप्त करके फूल उठता है और आगे काम बंद कर देता है, ऐसा व्यक्ति सारा समय लोगों से लप-लप करने में, बकवास में ही बिताता है। इस कल्याणकारी साधना को वाणी-विलास और बुद्धि-विलास का विषय बनाता है। सारा जीवन आलाप-संलाप में ही खो देता है। कल्याण साधना करने में है; मात्र साधना की चर्चा करने में नही।

इसीलिए किसी साधक को अपने समीप पालथी मारे, कमर सीधी किए, बिना हिले-डुले और पूर्ण मौन साधे, पुराने कर्मों के दुःखों को स्मृति और प्रज्ञा के साथ सहन करते हुए, सभी नए कर्मों के त्याग का पराक्रम करते हुए और पुराने कर्मों की सफाई करते हुए तथा अममत्व में स्थित होते देखा तो भगवान के मुँह से यह उदान वाक्य निकलने स्वाभाविक ही थे। हमें भी इससे प्रेरणा मिले और हम भी इस प्रकार के पराक्रम में लग जायँ। इसी में हमारा कल्याण है। ●

२ / सातत्य

पिछली बार उदान की एक गाथा पर चर्चा की थी, जिसका कि विपश्यना साधना के सक्रिय अभ्यास से विशिष्ट संबंध था। आज हम ऐसी ही तीन अन्य उदान गाथाओं पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

(एक)

यह उदान उस समय कहा गया जब कि एक दिन श्रावस्ती के जेतवन विहार में :

आयस्मा महामोग्गल्लानो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय कायगताय सतिया अज्झत्तं सुपतिट्ठाय।

याने, आयुष्मान् महामोग्गल्लान पांव मोड़कर पालथी मारे काया सीधी किए भगवान से न अति दूर बैठे थे और भीतर-ही भीतर कायगतासति में सुप्रतिष्ठित थे। याने कायानुपश्यना की जागरूकता में स्थित थे।

कायानुपश्यना के अनेक प्रकार हैं। इनमें सबसे उत्तम आनापान सति याने आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूकता का अभ्यास ही माना गया है। आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूक रहना कायानुपश्यना ही है। भगवान ने कहा है — **कायेसु कायञ्ञतराहं एवं वदामि यदिदं अस्सासा पस्सासा**। याने, आश्वास-प्रश्वास को मैं काया में दूसरी काया कहता हूं। काया में आश्वास-प्रश्वास की इस दूसरी काया का दर्शन याने, अनुभूति करते हुए सिर से पांव तक और पांव से सिर तक सारे शरीर की अनुभूति होने लगती है, क्योंकि प्राणवायु का गमनागमन केवल फेफड़ों तक ही सीमित नही हैं, बल्कि रक्तवाहिनी शिराओं के जरिए शरीर के ओर-छोर तक व्याप्त है। अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर काया के अनित्य स्वभाव की अनुभूति होने लगती

है और इस प्रकार आसक्तिजन्य क्लेशों से सहज विमुक्ति होने लगती है।

कायगता सति का अभ्यास कभी-कभी-किसी किसी साधक को उसकी विशिष्ट मनस्थिति को देखते हुए आनापान की अपेक्षा अधिक स्थूल अवस्था से आरंभ करना सिखाया जाता है। जैसे कि साधक अपने उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने आदि शरीर के सभी बाह्य क्रिया-कलापों के प्रति जागरूक रहने का अभ्यास आरंभ करता है। जैसे स्थूल बाह्य अंगों के हलन-चलन का निरीक्षण कराया जाता है, वैसे ही कभी-कभी किसी-किसी साधक को शरीर के भीतर के स्थूल अंग जैसे हृदय, फेफड़ा और इससे अधिक सूक्ष्म मांस-मज्जा आदि का निरीक्षण कर उनके अशुभ-अशुचि स्वभाव की अनुभूति करायी जाती है। किसी-किसी साधक को किसी मुर्दे के सड़े-गले शव का निरीक्षण कर अपने शरीर को भी उसी स्वभाव वाला मान अशुभ-अशुचि की अनुभूति करायी जाती है। परंतु आरंभ चाहे जिस स्थूल स्थिति से करें, साधक को पहुँचना उस सूक्ष्म स्थिति तक ही पड़ता है जहां कि काया का ठोस भासमान सत्य खंडित होकर परमार्थ स्वभाव मात्र अनुभूत होने लगे। कायानुपश्यना का साधक यदि काया के ठोस स्थूल सत्य तक ही सीमित रह जाय तो संस्कारो की जड़ें नही निकाल पाता। ठोस स्थूलता में व्यक्तित्त्व का भान है। जहां व्यक्तित्व है वहां **मैं, मेरा, आत्मभाव, ममभाव** की मरीचिका है ही। इस स्थूलता को भंग करके उसे सूक्ष्म स्वभावगत परमार्थ सच्चाइयों की ओर बढ़ना होता है। जहां चाहे हाथ हो या पांव, चाहे हड्डी हो या मांस परमार्थतः धातुओं का स्वभाव मात्र ही रह जाता है। आकाश याने शून्य में पृथ्वी धातु, अग्नि धातु, जल धातु और वायुधातु का व्यक्तित्व-विहीन सम्मिश्रण मात्र महसूस होने लगता है। इन धातुओं की अपनी-अपनी अलग-अलग स्वभावगत अनुभूतियां हैं जो कि क्षण-क्षण परिवर्तनशील हैं। पृथ्वीधातु का भारीपन हल्केपन का खुरदरा और कोमलता का स्वभाव, अग्निधातु का उष्ण या शीतल तापमान का स्वभाव, जलधातु का संयोजनशील-स्वभाव और

वायुधातु का हलन-चलन का स्वभाव। इस सूक्ष्म स्वभाव-निरीक्षण में अंगों की स्थूल आकृतियां नहीं रह पाती। शरीर-रसायन की इन सूक्ष्म सच्चाइयों की अनित्यता का स्वयं साक्षात्कार करता हुआ साधक अनासक्त होता है। उसका चित्त क्लेशों से विमुक्त होता है।

अवश्य ही भिक्षु महामोग्गल्लान **कायगता सति** की अति सूक्ष्म अवस्था में ही विचरण कर रहे थे। तो ही कहा गया – **कायगतासतिया अज्झत्तं सुपतिट्ठाय** याने अभ्यंतर में कायगतानुस्मृति में सुप्रतिष्ठित हैं। काया की बाहरी हलन-चलन अथवा किसी बाहरी मुर्दे आदि को देखकर कायानुपश्यना नहीं कर रहे, बल्कि आंख मूंदे अंतर्मुखी हुए अपने भीतर सूक्ष्म स्तर पर सिर से पांव के तलुओं तक शरीर के अनित्यधर्मा, विपरिणामधर्मा, विनाशधर्मा स्वभाव की विपश्यना करने में सुप्रतिष्ठित हैं।

इस प्रकार समग्र शरीर की सूक्ष्म सच्चाइयों के प्रति जागरूक रहने वाला साधक अपनी छहों इंद्रियों के प्रति स्वभावतः जागरूक रहने लगता है। आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा के द्वारों पर विषयों का संस्पर्श होते ही काया में संवेदना होती है। इन शारीरिक इंद्रियों के अतिरिक्त मन पर भी शरीर का अथवा किसी चैतसिक विषय का संस्पर्श हो तो काया में संवेदना की तरंगें पैदा होती हैं। उनके निरीक्षण का अभ्यास करने लगे तो इंद्रियों के इन छहों द्वारों पर जागरूकता का पहरा लग जाता है और सहज ही इनका संयमन हो जाता है। इसी अभ्यास को **सम्पजञ्ञ** (संप्रज्ञान) कहते हैं। इस अभ्यास में जब साधक सातत्य लाता है याने निरंतरता लाता है तो इंद्रियातीत, लोकातीत अनुपम परम सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। अपने निर्वाण को जान लेता है।

महामोग्गल्लान को इसी प्रकार साधना में रत हुए देखकर भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े :

सतिकायगता उपट्ठिता छसु फस्सायतनेसु संवुतो।
सततं भिक्खु समाहितो जञ्ञा निब्बानमत्तनो॥

समग्र काय स्कंध पर स्मृति याने जागरूकता प्रतिष्ठित हो, छहों इंद्रियों के स्पर्श द्वार पूर्ण जागरूकता के कारण संयत हो, साधक का चित्त जागरूकता के सातत्य में समाहित हो तो वह अपने निर्वाण को जान ही लेंता है। उसका साक्षात्कार कर ही लेता है।

(दो)

इसी प्रकार श्रावस्ती के जेतवन विहार में ही एक अन्य अवसर पर :

आयस्मा महाकच्चानो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति। पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय कायगताय सतिया अज्झत्तं परिमुखं सुपतिट्ठाय।

याने, आयुष्मान महाकात्यायन भगवान से न अति दूर पांव मोड़कर पाल्थी मार कर कमर सीधी करके बैठे हैं और अंतर्मुखी होकर कायगता स्मृति में भलीभांति प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् काया में होने वाली अनुभूतियों के प्रति अभिमुख हो कर सजग हैं। यह देख भगवान के मुँह से यह उल्लास वाक्य निकल पड़े :

यस्स सिया सब्बदा सति सततं कायगता उपट्ठिता।
नो चस्स नो च मे सिया न भविस्सति न च मे भविस्सति।
अनुपुब्बविहारी तत्थ सो कालेनेव तरे विसत्तिकं।

जिसकी स्मृति कायानुपश्यना में सर्वदा प्रतिष्ठित रहती है, शरीर के प्रति जिसकी जागरूकता में सातत्य बना रहता है, वह इस तथ्य के प्रति पूर्ण

आश्वस्त हो जाता है कि इस साधना द्वारा मैंने जिन कर्म-संस्कारों की निर्जरा कर ली, जिनका इस चित्त-संतति पर अब कोई बीज नही बच रहा, वे अपना कर्मफल लेकर मुझमें पुनः उत्पन्न नही होंगे। इसी प्रकार इस सतत जागरूकता के अभ्यास के कारण जो नये संस्कार नही बनने वाले हैं, वे मेरे लिए सदा के लिए नही उत्पन्न होंगे याने, पुराने क्षीण हुए और नए बनेंगे नही। **खीणं पुराणं नवं नत्थि सम्भवं** इस स्वानुभूतिजन्य आश्वासन के कारण उसे पुराने संग्रह के प्रति चिंता उत्पन्न नही होती और न ही भविष्य में नए बना सकने का भय अथवा आशंका। इस अभ्यास से वह निश्चिंत और निर्भय हो जाता है। शरीर पर जहां-जहां एक के बाद एक जो विभिन्न अनुभूतियां होती रहती हैं, उनके प्रति विपश्यना भाव से याने साक्षीभाव से विहार करता हुआ वह साधक समय पाकर सारी आसक्तियों-विसक्तियों के पार चला जाता है याने, पूर्णतया अनासक्त हो, विमुक्त हो जाता है।

इस गाथा में **अनुपुब्बविहारी** शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें सक्रिय विपश्यना साधना की विधि समायी हुई है। अनुपुब्ब माने क्षण-प्रतिक्षण, क्रमशः एक के बाद एक जो कुछ प्रकट होता हो। इस क्रमशः उत्पन्न हुए क्षण में विहार करना याने इस प्रत्युत्पन्न क्षण में जीना, यही अनुपुब्ब विहारी का लक्षण है। शरीर और चित्त की संयुक्त धारा पर इस क्षण जो भी घटना-घटित हुई अर्थात शरीर-स्कंध पर जो भी संवेदना महसूस हुई, उसका भूतकाल की संवेदनाओं की यादों से कोई संबंध न हो, भविष्य में होने वाली संवेदनाओं की कामना-कल्पना से कोई संबंध न हो; केवल वर्तमान क्षण की संवेदना का अनित्य स्वभाव ही महसूस हो। यही इस क्षण में जीना है, यही विपश्यना साधना है। संबंध हुआ कि तुलना होगी, मूल्यांकन होगा, अच्छे बुरे का लेबल लगेगा और स्वभावतः प्रतिक्रिया स्वरूप नये राग और नये द्वेष का प्रजनन होगा। यह सब न हो और केवल इस क्षण के तथ्य को और उसके परिवर्तनशील स्वभाव को स्वीकार करके रह जायँ तो उसके प्रति न राग जागेगा न द्वेष। इस प्रकार आसक्ति-विसक्ति पर प्रहार

होगा, अभ्यास में सातत्य आने लगेगा तो आसक्ति-विसक्ति निर्मूल होती चली जाएगी।

इस गाथा के दो और शब्द साधकों के लिए विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। एक है **सब्बदा** और दूसरा है **सततं**। दोनों पर्यायवाची हैं, समानार्थी हैं। **सब्बदा सति** याने सर्वदा जागरूक रहने की बात कह कर, **सततं कायगता उपट्ठिता** में पुनः सातत्य पर याने निरंतरता पर जोर दिया गया है। सारे आस्रवों को, मैलों को काट कर मुक्त अवस्था में स्थित होने और परम पद निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए सचमुच यह **सब्बदा** और **सततं** अत्यंत अनिवार्य है। यह सातत्य ही **सम्पजञ्ञ** है जो कि भवमुक्ति प्रदायक है।

जो गृहत्यागी हैं उन पर गृही की सी जिम्मेदारियां नही हैं। वैसी अड़चनें नही हैं। अतः वे यदि साधना की गंभीरता को समझें और कर्मकांडों और बुद्धि-विलासों से मुक्त होकर अभ्यास में सातत्य लाना चाहें तो ला सकते हैं। परंतु गृहस्थों के लिए कठिन है। इसीलिए उनके लिए कुछ दिनों का अभिनिष्क्रमण याने गृहत्याग आवश्यक है। वे दस दिन के अथवा उससे लम्बी अवधि के शिविरों में सम्मिलित होकर, औरों से संबंध तोड़ कर, संपूर्ण मौन रखते हुए अभ्यास की निरंतरता की ओर बढ़ सकते हैं। बर्मा जैसे देश में तो कोई कोई गृहस्थ कुछ दिनों या महीनों के लिए सचमुच गृहत्याग कर भिक्षु हो जाते हैं जिससे कि किसी योग्य भिक्षु आचार्य के साथ रह कर, भिक्षु जीवन के कठोर नियमों का पालन करते हुए अभ्यास में सातत्य ला सकें। परंतु अधिकांश गृहस्थ साधक साधनाकाल के लिए घर छोड़कर किसी साधना केन्द्र में गृहीवेश में ही रहते हुए अष्टशील का कड़ाई से पालन कर, विपश्यना के अभ्यास में निरंतरता लाने का सत्प्रयास करते हैं। घर में रहते हुए अथवा गृहत्यागी होकर भी बहुधन्धी बने रहने से अभ्यास में सातत्य नही आ सकता।

(तीन)

इसी प्रकार श्रावस्ती के जेतवन विहार में ही पुनः एक बार आयुष्मान् सारिपुत्र भगवान के समीप, पांव मोड़कर पाल्थी मारकर काया सीधी कर बैठे साधना करते हुए — **अत्तनो उपसमं पच्चवेक्खमानो** याने अपने उपशम अर्थात् निर्वाण का प्रत्यवेक्षण कर रहे थे। इसे देख भगवान के मुँह से उदान के ये वाक्य निकल पड़े :

उपसन्त सन्तचित्तस्स नेत्तिच्छिन्नस्स भिक्खुनो।
विक्खीणो जातिसंसारो मुत्तो सो मारबंधना॥

विपश्यना साधना के सतत अभ्यास से जिस शांत चित्त साधक के सारे कर्म-संस्कार उपशांत हो गए हैं, उसने अपनी भव-रज्जु छिन्न कर ली है, संसार में उसका जन्म नष्ट हो गया है और वह मृत्युराज के बंधन से मुक्त हो गया है याने, जन्म मरण के बंधन से छुटकारा पा चुका है।

यही विपश्यना साधना की चरम उपलब्धि है।

इन मंगलमय उदान वाक्यों से हमारे मन में भी प्रेरणा जागे और इनसे मार्गदर्शन प्राप्त कर, हम भी अपनी विपश्यना साधना में सातत्य पैदा करके परम सुख निर्वाण का साक्षात्कार कर विमुक्त हों, यही मंगल कामना है!

३ / अधिष्ठान

आज उदान की ही तीन और गाथाओं पर चर्चा करेंगे, जिससे कि विपश्यना-साधना संबंधी मार्गदर्शन मिले और प्रेरणा भी।

(१) एक दिन श्रावस्ती के जेतवन विहार में,

आयस्मा सारिपुत्तो भगवतो अविदूरे निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा उजुं कायं पणिधाय परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा।

याने आयुष्मान् सारिपुत्र भगवान के समीप पांव मोड़कर पाल्थी मारे बैठे थे और काया को सीधी रखकर आंतरिक सच्चाइयों के प्रति अभिमुख होकर जागरूकता में स्थित थे।

यह देखकर भगवान के मुँह से उदान के यह बोल निकल पड़े :

यथा पि पब्बतो सेलो, अचलो सुप्पतिट्ठितो।
एवं मोहक्खया भिक्खु, पब्बतो व न वेधती॥

जैसे कोई शैल पर्वत अचल होकर सुप्रतिष्ठित होता है वैसे ही मोह का संपूर्ण क्षय कर देने वाला निर्वाणदर्शी साधक पर्वत सदृश अचल अडोल जाता है।

निर्वाणिक अवस्था में चंचलता कहां ? •

(२) इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर श्रावस्ती के जेतवन विहार में ही पुनः आयुष्मान् सारिपुत्र भगवान के समीप पाल्थी मारे कमर सीधी कर बैठे हुए :

अप्पिच्छो संतुट्ठो पविवित्तो, असंसट्ठो आरद्धवीरियो अधिचित्तमनुयुत्तो —

याने अल्पेच्छ, संतुष्ट, अनासक्त, संसर्ग-विहीन, पुरुषार्थी,

अधिचित्त में सजग हो साधना कर रहे थे। ऐसा देख भगवान के मुँह से उदान के यह शब्द निकल पड़े :

अधिचेतसो अप्पमज्जतो,
मुनिनो मोनपथेसु सिक्खतो।
सोका न भवन्ति तादिनो,
उपसंतस्स सदा सतीमतो॥

अधिचित्त याने चित्त की ऊंची अवस्थाओं में अप्रमत्त रहने वाला, मुनियों के मौन पथ की यात्रा पूरी कर लेने में सुशिक्षित, शांत चित्त, सदा स्मृतिमान याने जागरूक साधक को दुःख नही छू पाता।

स्मृति और सम्प्रज्ञान के सतत अभ्यास द्वारा जो मार्ग के अंतिम छोर निर्वाण तक पहुँच गया है, उसे भला शोक कैसा ? ●

(३) इसी प्रकार एक अन्य अवसर पर आयुष्मान् चूलपन्थक पांव मोड़े, पाल्थी मारे, कमर सीधी किए भगवान के समीप बैठे :

परिमुखं सतिं उपट्ठपेत्वा याने, अपनी चित्त धारा पर जो भी आलम्बन उपस्थित हो उसी के प्रति अभिमुख हो जागरूकता में प्रतिष्ठित हुए साधना रत थे। ऐसा देख भगवान के मुँह से उदान के यह वचन निकल पड़े :

ठितेन कायेन ठितेन चेतसा,
तिट्ठंनिसिन्नो उद वा सयानो।
एतं सतिं भिक्खू अधिट्ठहानो,
लभेथ पुब्बापरियं विसेसं॥
लद्धान पुब्बापरियं विसेसं,
अदस्सनं मच्चुराजस्स गच्छे॥

जिसका शरीर अडोल है, चित्त अडोल है, ऐसा साधक खड़े, बैठे अथवा लेटे शरीर की इन तीनों अवस्थाओं में स्मृतिमान हुआ, अधिष्ठान में स्थित

है, वह मार्ग के आरंभ से लेकर अंत तक के पूर्वा पर विशिष्ट फलों को प्राप्त कर लेता है। ऐसे परम श्रेष्ठ फल प्राप्त कर, उच्चतम निर्वाणिक अवस्था में स्थित हुआ साधक मृत्युराज की दृष्टि से ओझल हो जाता है। याने उस अवस्था में जा स्थित होता है, जहां मृत्यु नही है; अमृत है।

आओ, भगवान के इन उदान वचनों में विपश्यना साधना के अभ्यास से संबंध रखने वाले शब्दों का दर्शन करें :

'मौन' विपश्यना साधना का एक आवश्यक अंग है। विपश्यी साधक को मौन व्रत रखकर ही साधना के अभ्यास में लग जाना होता है। केवल वाणी का ही नही, बल्कि शरीर और मन के 'मौन' का भी अभ्यास करना होता है। यह आर्यमौन का अभ्यास कहलाता है। वाचाल मन अनार्य याने दुष्प्रज्ञ होता है। मन वाचाल हो, दुष्प्रज्ञ हो और केवल वाणी मौन रहे तो कोई मुनि नही बन पाता। आर्यमौन का अभ्यास ही मौन पथ की शिक्षा है जो कि हमें सही माने में मुनि बनाती है और परमपद का साक्षात्कार करवाती है। भगवान ने 'मुनि' की व्याख्या करते हुए कहा :

यो मुनाति उभो लोके मुनी तेन पवुच्चति। याने, जो इहलोक और परलोक दोनों को माप लेता है वह मुनि कहलाता है। यहां 'मुनाति' का अर्थ मापना है। याने जो साधना के अभ्यास मे पूरे पथ को माप़ लेता है; अंतिम छोर तक पहुँच जाता है। अभ्यास का पथ आंतरिक अनुभूतियों के द्वारा मापा जाता है। इहलोक और परलोक याने कामलोक और ब्रह्मलोक का सारा क्षेत्र इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर समाया हुआ है। यही साधक लोकों की उत्पत्ति और लोकों के निरोध की अनुभूति करता है और यही लोकोत्तर निर्वाण का साक्षात्कार भी। साधना के अभ्यास के दौरान निरय लोक की नारकीय यन्त्रणाओं से लेकर काम लोकों की दिव्य अनुभूतियों और तदनन्तर सरूप ब्रह्मलोक से लेकर भवाग्र तक के अरूप ब्रह्मलोक तक की ब्राह्मी अनुभूतियों का मार्ग पार करके जब साधक

भवातीत, लोकातीत, इन्द्रियातीत, नाम-रूपातीत अक्षय निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है तभी **यो मुनाति उभो लोके** होता है और तभी **मुनि तेन पवुच्चति** याने मुनि कहलाता है। सभी लोकों को मापने का काम अधिचित्त में याने ऊंची समाधियों में समाहित होते हुए अप्रमत्त बने रहने में पूरा होता है। तभी **लभेथ पुब्बापरियं** याने मार्ग के आदि से अंत तक के सभी पूर्वापर अनुभव प्राप्त करता हुआ **विसेसं** याने विशिष्ट की, लोकोत्तर निर्वाण की उपलब्धि कर लेता है। यही साधक का **मोन पथेसु सिक्खतो** होना है याने मुनियों के मौन पथ में सुशिक्षित होना है।

जो मौन पथ में सुशिक्षित होता है, उसे सदा **सतीमतो** होना नितांत आवश्यक है। **सदा सतीमतो** माने सतत स्मृतिमान, सर्वदा अप्रमत्त, जागरूक। साधक का जितना समय प्रमाद में बीतता है उतनी देर मन वाचाल या प्रसुप्त रहता है। सति (स्मृति) तभी सम्यक् होती है जब कि सम्प्रज्ञान साथ होता है और सम्प्रज्ञान तभी सही सम्प्रज्ञान होता है जब कि वह सतत बना रहे। सातत्य बना रहे तो साधक सजग मौन हो जाता है। उपशांत और वीतशोक हो जाता है।

मन वाचाल होकर क्या करता है? अनुभूत संवेदनाओं की परस्पर तुलना करता है, उनका मूल्याकन करता है और प्रतिक्रिया स्वरूप नए कर्म संस्कार उत्पन्न करता है। किन्ही संवेदनाओं को नारकीय मानकर उनसे द्वेष और किन्ही को ब्राह्मी मानकर उनसे राग करता है। मन मौन रहता है तो राग द्वेष उत्पन्न करने वाला मूल्यांकन बंद होता है। स्थितप्रज्ञ होता है। तोलता है तो प्रज्ञा की तुला पर ही। परित्याग करता है तो राग द्वेष रूपी पापों का ही और ग्रहण करता है तो समता तथा अनासक्ति रूपी धर्म सार को ही। इस प्रकार वीतराग, वीतद्वेष और वीतमोह होता हुआ सभी लोकों से परे लोकातीत तक जा पहुँचता है।

मन को पूर्ण मौन बनाने के अभ्यास के पूर्व वाणी और शरीर को मौन

करना अत्यंत आवश्यक है। वाणी वाचाल रहे और काया अस्थिर रहे तो मन चंचल रहता ही है और मन चंचल रहे तो अधिचित्त की आध्यात्मिक ऊंचाइयां प्राप्त करनी असंभव है। इसीलिए काया, वाणी और चित्त तीनों का मौन याने आर्यमौन आवश्यक है। साधक पहले वाणी के मौन का व्रत लेता है और **ठितेन कायेन में अधिट्ठानो** होता है। याने कायिक अधिष्ठान का अभ्यास करता है। निश्चित समय के लिए शरीर अचल अडोल रखता है। साथ ही साथ क्रमशः क्षण-क्षण उत्पन्न होने वाली संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहता हुआ मन को मौन बनाने का याने अचल, अडोल बनाने का अभ्यास करता है। इस प्रकार **ठितेन चेतसा** हो **एतं सतिं अधिट्ठानो** होता है। यह अधिष्ठान की साधना विपश्यी साधक के लिए अपरिहार्य है। इसी अभ्यास द्वारा मुक्ति का मार्ग शीघ्रता से मापा जाता है।

विपश्यना साधना में शैल पर्वत के समान **अचलो सुपतिट्ठितो** होने का बहुत महत्त्व है। इसीलिए अधिष्ठान का अभ्यास है। अभ्यास के दौरान जितनी देर शरीर अचल रहे उतना ही अच्छा। यही कारण है कि विपश्यना के अभ्यास में चलने फिरने आदि के स्थान पर **तिट्ठो निसिन्नो उद वा सयानो** को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है। वैसे जागरूकता का अभ्यास चलते फिरते भी किया ही जाता है और विपश्यी साधक को करना भी चाहिए। जब-जब नैसर्गिक आवश्यकताओं के लिए चलने-फिरने, खाने-पीने, नहाने-धोने आदि के शारीरिक क्रिया-कलाप हों तब-तब उन उन स्थूल क्रियाओं के प्रति तो जागरूकता रखनी ही चाहिए। साथ-साथ भीतर की सूक्ष्म संवेदनाओं की और उनके उदय-व्यय स्वभाव की भी जानकारी बनाए रखनी चाहिए। यह सच है कि अधिष्ठान में अचल बैठे रहने पर साधक अपने अंतरतम की जितनी सूक्ष्म संवेदनाओं की अनुभूति कर सकता है, उतनी हिलते-डुलते नही; फिर भी अभ्यास द्वारा चलते-फिरते, खाते-पीते भी कुछ एक संवेदनाओं का बोध हो ही सकता है। अतः बाहरी स्थूल क्रिया-कलापों के साथ साथ भीतरी संवेदनाओं को भी

जितनी बन पड़े उतनी जानते रहना चाहिए। कही ऐसा न हो कि महज स्थूल क्रियाओं के प्रति जागरूकता का लम्बा अभ्यास उन सूक्ष्म संवेदनाओं को अनुभव कर सकने की क्षमता ही लुप्त कर दे। विपश्यना साधना में सारे शरीर में होने वाली सूक्ष्मतम संवेदनाओं के प्रति सदा **सतीमतो** होना आवश्यक है। इसीलिए अधिक से अधिक समय अधिष्ठान का अभ्यास ही उपयोगी माना जाता है। अधिष्ठान बैठे, खड़े या लेटे ही हो सकता है, चलते फिरते या खाते पीते नही। क्योंकि अधिष्ठान में हलन-चलन बिल्कुल बन्द हो जाता है।

इन तीनों में भी बैठने की अवस्था अभ्यास ने लिए अधिक उपयोगी है। इसलिए जहां तक हो सके, बैठे रह कर ही अभ्यास करने पर बल दिया जाता है। प्रस्तुत तीन उदानों में ही नही, बल्कि इस तरह के जितने भी उदान उपलब्ध हैं, उन सब में हम देखते हैं कि भगवान ने किसी साधक को **निसिन्नो होति** ही देखा याने बैठे हुए ही देखा। चलते-फिरते का तो प्रश्न ही नही; खड़े या लेटे भी नहीं। और बैठना भी सब का एक ही प्रकार है। **पल्लङ्कं आभुजित्वा** याने पांव मोड़कर पाल्थी मार कर। पांव मोड़ने का अर्थ पद्मासन या अन्य कोई विशिष्ट आसन लगाना नही है। कोई साधक पद्मासन लगाकर बैठना चाहे तो भले बैठे, परंतु यह अनिवार्य नही है। प्रत्येक साधक को अपनी-अपनी सुविधानुसार पांव मोड़कर सुखपूर्वक पाल्थी मारकर बैठना चाहिए। पड़ोसी देश में विपश्यना साधना की जो परंपरा पहुँची और जो अब तक कायम है, उसमें पद्मासन अथवा अन्य किसी विशेष आसन के लिए कोई आग्रह नही है।

हम देखते हैं कि इस **निसिन्नो होति पल्लङ्कं आभुजित्वा** के साथ-साथ सर्वदा उजु **कायं** शब्द का प्रयोग हुआ है। अभ्यास की परंपरा में इसका भी बड़ा महत्व है। पाल्थी मारकर बैठने पर कमर, पीठ और गर्दन सीधी हो तो ही ऋजुकाय होती है। काया सीधी रखने का अर्थ कोई अकड़न पैदा कर लेना नही है। बिना कृत्रिम तनाव के काया सीधी रखनी चाहिए।

जैसे हैंगर पर टंगी हुई कमीज बिल्कुल सीधी होती है, पर उसमें अकड़न नही होती।

अधिट्ठानो याने अधिष्ठान का अभ्यास करते हुए साधक को **यथापि पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो** याने शैल पर्वत की तरह अचल अडोल रहना होता है। **ठितेन कायेन** की इस अधिष्ठान की अवस्था में सदा **सतिमतो** रहते हुए **लभेथ पुब्बापरियं** याने पूर्वापर की विभिन्न अनुभूतियों को **ठितेन चेतसा** अडोल चित्त से स्वीकारना होता है। याने क्षण-क्षण उत्पन्न और नष्ट होने वाली शरीर और चित्त की अवस्थाओं को महज साक्षीभाव से देखते हुए, उदय-व्यय और भंग स्वभाव वाली नश्वरता की अनुभूति करते हुए संस्कार उपेक्षा में स्थित होना होता है, जिससे कि नए संस्कार बनने बंद हो जायँ और पुराने क्षीण होने लगें। इस अभ्यास द्वारा सतत जागरूकता रखते हुए स्वतः ऐसी अवस्थां आती है, जब साधक भवाग्र से परे भवातीत, लोकाग्र से परे लोकातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है। यह अवस्था इन्द्रियातीत है। जितने क्षण निर्वाण का साक्षात्कार चलता है, उतनी देर आंख, कान, नाक, जीभ, शरीर की त्वचा और मन का पूर्णतया निरोध हुआ रहता है। यही अवस्था **मोहक्खया** पूर्ण मोह-क्षय की अवस्था है। इस अवस्था में **भिक्खू** याने साधक **पब्बतो व न वेधती** पर्वत की तरह अडोल हो जाता है। अधिष्ठान का अभ्यास करते समय तो साधक स्वयं अपने प्रयत्न द्वारा अपने शरीर को अडोल बनाता है। परंतु इस भवातीत, लोकातीत, इन्द्रियातीत अवस्था में शरीर स्वतः अडोल हो जाता है। सही माने में **पब्बतो सेलो अचलो सुपतिट्ठितो** शैल पर्वत की तरह अचल हो जाता है। अक्सर यह देखा गया है कि कोई बलिष्ठ व्यक्ति अपना पूरा बल लगाकर भी उस निर्वाणिक अवस्था में पहुँचे हुए साधक का हाथ पांव खोलना चाहे तो असफल होता है। अंग प्रत्यंग ऐसे दृढ़ हो जाते हैं जैसे वेल्डिंग द्वारा परस्पर जुड़ गए हों। और फिर भी यह जड़ समाधि नही होती, क्योंकि भीतर से साधक प्रतिक्षण जागरूक रहता है। सचेत रहता है। हां

किसी के द्वारा उसके शरीर को स्पर्श किए जाने की चेतना उसे नही रहती। क्योंकि इन्द्रियातीत अवस्था में उसकी चेतना का आलंबन कोई ऐन्द्रिय विषय नही हो सकता, बल्कि उससे परे इन्द्रियातीत निर्वाण होता है। कई घंटों तक ऐसी अचल, अडोल निर्वाणिक अवस्था में बैठे रहने के बाद जब साधक ऐन्द्रिय क्षेत्र में पुनः प्रवेश करता है तो फूल की पंखुड़ी की तरह हल्का होकर उठता है। शरीर में कही कोई पीड़ा नही, अकड़न नही, मूर्छा नही। कषायों के अपरिमित बोझ से मुक्त हुआ साधक हल्कापन ही महसूस करता है।

मृत्युराज की गति उदय-व्यय के स्वभाव वाले तरंगीय क्षेत्र तक ही सीमित है जो कि ऐन्द्रिय क्षेत्र है। इहलोक और परलोक का क्षेत्र है। परंतु विपश्यी मुनि साधक इन दोनों को मापकर आगे निकल जाता है और इससे परे अनुदय, अव्यय, तरंगातीत स्वभाव वाले **अजात अभूत अमत असंखत** निर्वाणिक क्षेत्र को प्राप्त करता है। उस क्षेत्र को, जो कि **अदस्सन मच्चुराजस्स** याने मृत्युराज के लिए अदर्शनीय है। जो मृत्युराज के लिए अदर्शनीय है, वह विपश्यी साधक के लिए दर्शनीय हो जाता है।

उदान वाणी का अर्थ यह भी है कि वह वाणी जो हमारे भीतर उदात्त भावों का प्रजनन कर हमारे उत्कर्ष में सहायक हो। इस अर्थ में उदान उद्‌बोधन शब्द का पर्यायवाची है। भगवान के यह उदान वचन हमारे लिए सही माने में उद्‌बोधन का काम करें, हम इनकी शाब्दिक व्याख्या सुन-समझकर ही न रह जायँ, बल्कि इनसे प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त कर विपश्यना के वास्तविक अभ्यास में लगें। हम भी मौन का अभ्यास करें। आर्यमौन का। समय-समय पर अधिष्ठान का अभ्यास करें और स्मृति सम्प्रज्ञान के इस अभ्यास में सातत्य बढ़ाते हुए काया और चित्त को शैल सदृश अविचल बनाकर अधिष्ठित करें, जिससे कि परम पद निर्वाण का साक्षात्कार कर सकें।

हमारा मंगल हमसे यही अपेक्षा करता है। ●

४ / आर्य-मौन

एक पुरानी कथा है।

दो हंस और एक कछुआ किसी तालाब के किनारे रहते थे। हंस समझदार थे। अक्सर चुप रहते। जब जरूरी होता तभी बोलते थे। सो भी बहुत कम। कछुआ मूर्ख था। दिन भर बक-बक करता रहता। मतलब-बेमतलब की हजार बातों में उलझा रहता।

एक दिन हंस अपने देश मानसरोवर लौटने की तैयारी करने लगे। कछुए ने जाना तो गिड़गिड़ाकर बोला, ''मुझे भी ले चलो। मानसरोवर का बड़ा नाम सुना है।''

हंस नही माने। बोले, ''हमारे देश के लोग मौन प्रिय हैं। तुम दिन भर बकवास करने वाले; वहां निभ न सकोगे।''

कछुए ने वादा किया, वह पूर्ण मौन व्रत पालेगा, उसे अवश्य ले चलें। हंस इस वादे पर राजी हुए। उन्होंने एक लकड़ी ली और कछुए से कहा कि इसे बीचोबीच अपने दांतों से कसकर पकड़ ले। इसके बाद दोनों ने उस लकड़ी के दोनों छोर अपनी-अपनी चोंच में दबाए और उड़ चले। लकड़ी के बीच झूलता हुआ कछुआ भी साथ-साथ उड़ चला। कछुए को आसमान की यह सैर बहुत भली लगी। वह हंसों को बताना चाहता था कि कितना खुश है। बोलना चाहता था, पर तभी मौन-व्रत याद आया और चुप रह गया।

तीन मित्रों की यह टोली आगे बढ़ती गई। हंस उड़ते गए, उड़ते गए। उड़त-उड़ते एक गांव पर से गुजरे। गांव के लोगों ने देखा तो आपस में बात-चीत करने लगे — ''देखो, कैसी विचित्र बात है। दो हंस एक मुर्दे कछुए को उड़ाए लिये जा रहे हैं।''

अब तक कछुआ मौन रहा। पर यह सुनकर तिलमिला उठा। बातूनी

जीव से रहा न गया। चुप्पी बरदाश्त न हो सकी। चीख कर बोला, "मैं मुर्दा नही, जिन्दा हूं, जिन्दा।" मुँह खुलते ही लकड़ी दांतों से छूट गई और वह धड़ाम से पृथ्वी पर आ गिरा। हड्डी-पसली चूर चूर हो गई। अब सचमुच जिन्दे से मुर्दा हो गया।

यह बोध-कथा बातूनी लोगों के लिए है, जिससे कि वे मौन का महत्त्व समझें। साधकों के लिए मौन पालन, साधना की सफलता के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। साधना शिविरों में जब वे अभ्यास के लिए आते हैं, तो उन्हें खूब सतर्क रहकर परस्पर बातचीत न करने का व्रत पालना चाहिए। अपने कल्याण-मित्र से भी बोलें तो वह साधना के अभ्यास संबंधी ही बात हो और वह भी इतनी ही जितनी कि नितांत आवश्यक हो, सार्थक हो। निरर्थक बातों में कदापि न लगें। अपना अमूल्य समय जरा सा भी न गवाएं।

भगवान बुद्ध अनमोल समय के सदुपयोग के पक्षधर थे। निकम्मी बातों में समय गँवाने का सदा विरोध करते थे। कोई भाई उनके पास आया है और कहता है :

"भगवन्! आप बार-बार दुख और दुख-विमुक्ति पर ही बोलते हैं। कृपया यह तो बताइये कि यह दुख होता किसे है? और दुखों से विमुक्ति होती किसकी है?"

करने वाले ने निरर्थक प्रश्न किया। पर भगवान् ऐसी निरर्थक चर्चा में उलझने वाले नही थे। बड़े प्यार से समझाते हुए बोले, "अरे भाई! तुम्हें प्रश्न करना ही नही आया। प्रश्न यह नही करना चाहिए था कि दुःख "किसे" होता है; बल्कि यह करना चाहिए था कि "क्यों" होता है? प्रश्न यह नही करना चाहिए था कि दुख से विमुक्ति "किसको" होती है; पर करना यह चाहिए था कि "कैसे" होती है?

सार्थक बात, मतलब की बात यही है कि दुख से छुटकारा पाएं और

इसके लिए जानना यह आवश्यक है कि दुख का कारण क्या है? और उसका निवारण क्या है? इसे छोड़ अन्य सभी चर्चाएं निकम्मी, निरर्थक नही तो और क्या हैं?

कभी कोई भाई उनसे पूछ बैठता, "भगवन्! बताएं इस संसार को किसने बनाया?"

तो फिर प्यार से समझाते, "अरे भाई! किसी विष बुझे तीर से घायल व्यक्ति को यह जानना कतई आवश्यक नही कि तीर किसने बनाया? उसके लिए आवश्यक यही है कि जिस तीर से वह घायल है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र निकाल बाहर करे, जिससे कि पीड़ा-मुक्त हो, दुःख-मुक्त हो।"

कितना छोटा-सा जीवन है मनुष्य का। इसे इन दार्शनिकों की तरह महज बुद्धिरंजन में, बुद्धिकिलोल में बिता दें; यह कितनी नासमझी है। विस्मय-विभोर होकर जिज्ञासा-पूर्ति में और कौतूहल मंगल के भिन्न-भिन्न खेल खेलने में बिता दे; यह कितनी नादानी है? किसी महाकारुणिक सम्यक् संबुद्ध को यह कैसे स्वीकार्य हो सकता है? मनुष्य जीवन का उचित से उचित और अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिए। यह मनुष्य की विशेषता है कि वह न केवल बौद्धिक स्तर पर अपने दुखों के कारण और उनके निवारण को समझ सकता है बल्कि साक्षात्कार के स्तर पर उनका स्वयं दर्शन कर नितांत दुख-विमुक्त भी हो सकता है, निर्वाण लाभी भी हो सकता है। पशु-पक्षी या किसी अन्य निम्न श्रेणी के प्राणी के लिए यह शक्य नही, संभव नही। इस अनूठी विशेषता का पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए। इसीलिए भगवान तथागत न स्वयं निरर्थक बातों में उलझते, न किसी साधक को उलझने देते थे। सदा मतलब की ही बात करते थे।

एक दिन भिक्षुओं के साथ जंगल के एक वृक्ष की छांह में बैठे हुए उन्होंने धरती पर पड़े मुट्ठीभर पत्ते हाथ में लिये और जंगल के पेड़ों की ओर

इशारा करते हुए कहा कि जैसे इस महावन के समस्त वृक्षों पर लगे कुल पत्ते अनगिनत हैं, वैसे ही जिस व्यक्ति को सम्यक् संबोधि प्राप्त हो जाय उसकी जानकारी अपरिमित होती है। लेकिन वह नासमझी में पड़ कर अपनी सारी जानकारी लोगों तक पहुँचाने की भूल नही करता। उनका और अपना समय व्यर्थ नष्ट नही करता। वह थोड़ी ही बात करता है, जो कि काम की होती है जैसे कि पेड़ों पर लगे अनगिनत पत्तों के मुकाबले यह मुट्ठी भर पत्ते। जो काम की बात है, उसे वह छिपाता नही और जो निकम्मी बात है, उसे ज़बान पर लाकर लोगों को उलझाता नही।

इसीलिए भगवान अपने साधना-विहारों में साधकों को भी सदा निरर्थक बातों से दूर रहने का उपदेश देते थे। जब कभी देखते कि भिक्षु साधक बैठे गप्पें लड़ा रहे हैं; राज्य-कथा, चोर-कथा, शिल्प-कथा, वाणिज्य-कथा, वैभव-कथा आदि में उलझ रहे हैं तो उन्हें प्यार से डाटते और समझाते कि श्रद्धापूर्वक घर से बेघर हो जिस काम के लिए यहां आए हो, उसमें लगो, निरर्थक बातों में नहीं। उन्होंने ऐसे बातूनी साधक भिक्षुओं को फटकारते हुए अनेक बार कहा :

सन्निपतितानं वो, भिक्खवे, द्वयं करणीयं। धम्मी वा कथा, अरियो वा तुण्ही भावो।

याने, इकट्ठे बैठने पर, भिक्षुओ! तुम्हें दो ही काम करने चाहिए। या तो धर्म-कथा अथवा आर्य-मौन।

धर्म-कथा माने मतलब की कथा। ऐसी बातें जिनसे शुद्ध धर्म जागे और अपना मतलब सधे। सही मतलब सधे। साधना के लिए आकर बेमतलब की बातों में समय न गँवा बैठें। कल्याणमित्र से भी बातचीत करनी हो तो केवल धर्म-कथा करनी चाहिए। ऐसी धर्म-कथा जैसे कि 'अल्पेच्छ-कथा, संतुष्टि-कथा, प्रविवेक-कथा, पुरुषार्थ-कथा, असंसर्ग-कथा, शील-कथा, समाधि-कथा, प्रज्ञा-कथा, विमुक्ति-कथा,

विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन-कथा'। ऐसी धर्म-कथा जो कि 'चित्त के आवरण को दूर करने वाली हो, दुख का नितांत उन्मूलन करने वाली हो, विकारों का पूर्ण विराग, निरोध उपशमन करने वाली हो, अभिज्ञा, संबोधि, निर्वाण दिलाने वाली हो' ऐसी कथा जिससे 'साधक निर्मलतालाभी हो, सुखलाभी हो, शांतिलाभी हो।'

उसी स्वस्थ परंपरा को निबाहते हुए आज भी विपश्यना शिविरों में इस बात पर जोर दिया जाता है कि जब कभी अपने कल्याणमित्र से चर्चा करनी हो तो वह सार्थक होनी चाहिए। निरर्थक नही। धर्म-कथा होनी चाहिए, बुद्धिकिलोलनी-कथा नहीं, वाद-विवादनी-कथा नहीं। बाकी सारे समय तो **अरियो वा तुण्ही भावो** याने, 'आर्य-मौन' ही पालना चाहिए।

आर्यमौन माने केवल वाणी का ही मौन नही, शरीर और मन का भी मौन। वाणी का मौन तो नितांत आवश्यक है ही। इसीलिए मौन व्रत दिया जाता है। अन्यथा निरर्थक बातें कर करके समय ही नही खो देंगें पर जाने अनजाने असत्य बोल जाएंगे तो जो पांच शील लिए हैं, उनमें से एक भंग कर लेंगे और जहां शील भंग होगा वहां साधना-भवन की नीव कमजोर पड़ जाएगी। इतना ही नही, बात करेंगे तो शिविर में सम्मिलित हुए अन्य साधकों का ध्यान भंग कर के अकुशल आसुरी कर्म के दोषी बनेंगे। औरों की हानि करेंगे। अपनी भी हानि करेंगे। विपश्यना मार्ग का नए से नया पथिक भी इस सच्चाई को शीघ्र देखने लगता है कि उसका मन कितना वाचाल है, कितना बातूनी है। भीतर ही भीतर सदैव कुछ न कुछ बोलता रहता है। कभी कोई मतलब की, पर अक्सर बेमतलब की ऊलजलूल बात बोलता ही रहता है। कुछ देर की बातचीत के बाद साधक जब ध्यान में बैठता है तो देखता है कि उसके इस बातूनी मन को और अधिक चारा मिल गया है। अब वह देर तक उसी चर्बित चबैने की जुगाली करने लगा है। मौन होने का नाम तक नही लेता।

वाणी से मौन रहते हुए साधक काया को भी मौन रखने का अभ्यास

करे। काया का मौन कैसे भंग होता है? वाणी का मौन व्रत लेकर साधक अक्सर अपने शरीर के जरिए बात चीत करता है। हाथों, आंखों अथवा शरीर के अन्य अंगों को हिला डुलाकर इशारों में बातें करता है। कभी कभी जुबान हिलाए बिना, होठ खोले बिना "ऊं - आं" की खग-भाषा में वार्तालाप करता है। कभी कभी इससे भी आगे बढ़ता है तो कागज-पेन्सिल लेकर लिख-पढ़कर बात चीत कर लेता है। यह सब शरीर द्वारा मौन भंग करना हुआ जो कि वाणी के मौन भंगसे किसी प्रकार भी कम हानिकारक नही है। शरीर के मौन का अभ्यास करने वाला साधक इन सब से बचे। शरीर के पूर्ण मौन का अभ्यास करने के लिए साधक बिना हिले-डुले बार-बार अधिष्ठान में बैठे। अधिष्ठित होकर बैठने के अतिरिक्त जब कभी नैसर्गिक आवश्यकताओं के लिए लेटने, उठने, नहाने-धोने, खाने-पीने, चलने-फिरने, की कोई शारीरिक हलन-चलन करनी पड़े तो उसके प्रति पूर्ण जागरूक रहने का अभ्यास करे। शरीर की हर हरकत सचेत रहकर करे। यही शारीरिक मौन का अभ्यास है।

मन को मौन रखने का अभ्यास भी उसे जागरूक रखकर ही किया जाता है। किसी भौतिक अथवा आध्यात्मिक नशे द्वारा उसे प्रसुप्त करके नही, बल्कि यथार्थ के प्रति सतत सचेत रखते हुए।

यही **अरियो तुण्ही भावो** है याने, आर्यमौन है, जिसका पहला कदम वाणो के मौन से आरंभ होता है। जो वाणी का मौन ही नही रख सकता याने आर्यमौन का पहला कदम ही नही उठा सकता, वह आगे के दोनों कदम कैसे उठा पाएगा? याने शरीर और मन का मौन कैसे निभा पाएगा? जो वाणी से वाचाल होगा वह शरीर से उद्धत-उद्दंड होगा ही और मन से स्मृतिविहीन तथा मोह-विमूढ़ित होगा ही।

एक बार भगवान् कुशीनगर के शालवन में विहार कर रहे थे। उस समय उन्होंने देखा कि कुछ एक भिक्षु भगवान से अति दूर अन्य कुटियों में

निवास करते हुए अत्यंत उद्धत, उद्दंड चपल हैं; क्योंकि मुखर, वाचाल, बातूनी हैं; बतरस-लोभी हैं। इधर-उधर की गप्पें हांकने वाले हैं और इसलिए प्रमत्त हैं, स्मृतिविभ्रम हैं, मोह-मूढ़ता में निमग्न हैं, बेहोश हैं, अस्थिर चित्त हैं, भ्रांतचित्त हैं और गुप्तेन्द्रिय होने के बजाय प्रगटेन्द्रिय हैं याने इंन्द्रियों के प्रति संयमित रहने के बजाय नितांत असंयमित हैं। इन बतरस चटोरों की यह दयनीय शारीरिक और मानसिक दशा देख कर ही भगवान ने उस समय उदान के यह शब्द कहे :

अरक्खितेन कायेन मिच्छादिट्ठिहतेन च।
थीनमिद्धाभिभूतेन वसं मारस्स गच्छति॥

'मूढ़ व्यक्ति कायिक संयम को खोए हुए, मिथ्या दृष्टियों में उलझे हुए, आलस्य में डूबे हुए मृत्युराज के वश में जा रहा है।'

तस्मा रक्खित चित्तस्स सम्मासङ्कप्पगोचरो,
सम्मादिट्ठि पुरेक्खारो ञत्वान उदयब्बयं,
थीनमिद्धाभिभू भिक्खू सब्बा दुग्गतियो जहे।

'इसलिए चित्त को वश में रखने वाला, सम्यक् संकल्प का अभ्यासी, सम्यक् दर्शन में श्रद्धापूर्वक लगा हुआ, अपने भीतर संवेदनाओं के उत्पाद-व्यय की सम्यक् विपश्यना करने वाला साधक निरालस अप्रमादी होकर सभी दुर्गतियों से छुटकारा ले।'

पता नही भगवान के इन प्रताड़ना-भरे उदान वचनों से उन प्रमादी भिक्षुओं पर क्या असर पड़ा? तत्संबंधी वाङ्मय इस संबंध में मौन है, परंतु हम अन्यत्र देखते हैं कि भगवान की धर्म-फटकार का साधकों पर बिजली का सा असर होता था। वे सचेत होकर सन्मार्ग में लग जाते थे।

त्रिपिटकों में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें कि शांतिप्रिय भगवान तथागत ने कोलाहल करने वाले भिक्षुओं को अपने साधना केन्द्र से निकाल बाहर

किया। एक बार तो स्वयं धर्मसेनापति सारिपुत्र को अपने अनेक साथियों सहित इस अनुशासन भरे निष्कासन का शिकार होना पड़ा था, जो कि उन सब के कल्याण का कारण बना।

एक अन्य अवसर पर हम देखते हैं कि भगवान जेतवन के अनाथपिंडिक संघाराम में विहार कर रहे हैं। तब श्रमण यशोज के नेतृत्व में पांच सौ भिक्षु भगवान से मिलने आए हैं। ये नवागत भिक्षु स्थानीय भिक्षुओं को नमस्कार करते हुए, अपने लिए सोने-बिछौने का प्रबंध करते हुए और साथ लाए हुए भिक्षा-पात्रों और चीवरों को इधर-उधर रखते हुए उच्च शब्द, महाशब्द कर रहे थे। मौन-प्रेमी भगवान तथागत ने जब मछुओं के से हल्ले-गुल्ले का यह शोर-शराबा सुना तो इन भिक्षुओं को पास बुलाकर डांटते हुए आज्ञा दी, ''निकल जाओ यहां से ! तुम लोग मेरे पास रहने योग्य नहीं हो।''

यशोज सहित सभी भिक्षु भगवान को अभिवादन कर संघाराम के बाहर आए। वे कौशल प्रदेश से चलकर वज्जिय देश की यात्रा पूरी करते हुए वग्गमूदा नदी के तीर पर पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। वहीं आयुष्मान यशोज ने अपने साथियों को एकत्र करके कहा, '' भगवान ने हमें जो दंड दिया है वह हम पर उनकी अनुकम्पा ही है। वह हमारे हित-सुख के लिए ही है। आओ, ऐसा करें जिससे भगवान हम पर प्रसन्न हों।''

और वे सब के सब, अपनी पिछली भूल से सबक लेते हुए, पूर्ण मौन का पालन करते हुए, अप्रमत्त हो साधना में लग गए। कुछ दिनों में ही वे सब कृत-कृत्य हुए, प्राप्त-प्राप्य हुए। जिसे पाने के लिए घर से बेघर हुए थे, उसे प्राप्त करने में सफल हुए। उन महामुनि के मौन- पथ का सम्यक् अनुसरण कर निहाल हुए, निर्वाणलाभी हुए। सचमुच आर्यमौन विपश्यी साधकों का अनमोल आभूषण है।

प्रकृति ने हमें दो कान दिए हैं, पर मुँह एक ही। इसका अर्थ हुआ सुनें

अधिक, बोलें कम। प्रकृति ने दोनों कान स्वभाव से खुले रखे हैं और मुँह स्वभाव से बंद। याने सुनने पर कोई रोक नही, पर बोलने पर पूरी रोक। जब बोलना अत्यंत अनिवार्य हो जाय, तो ही मुँह खोलें। अत्यंत आवश्यक हो, उतनी ही बात करें। केवल काम की बात, मतलब की बात, धर्म की बात, अन्यथा मौन। पूर्ण मौन। आर्य मौन।

धन्य हैं वे साधक, जो भगवान की चेतावनी भरी उदान वाणी को हृदयंगम कर मौन-व्रती हुए, साधनारत हुए और जीवनमुक्त हुए। आओ, हम भी उस चिर कल्याणी वाणी से लाभान्वित हों, उद्‌बोधित हों , सतत अभ्यास रत हों और मंगललाभी हों। आओ ! हम भी आर्यमौन का अभ्यास करें। मौन रहने में हमारा शरीर इतना सध जाय कि हमसे कोई कायिक दुष्कर्म हो ही न सके। मौन रहने में हमारी वाणी इतनी सध जाय कि हमसे कोई वाचिक दुष्कर्म हो ही न सके। मौन रहने में हमारा मन इतना सध जाय कि हमसे कोई मानसिक दुष्कर्म हो ही न सके।

परम मंगल की उपलब्धि का यही एकमात्र मंगल मार्ग है। ●

५ / सूक्ष्म-दर्शन

श्रमण आनंद वर्षों भगवान बुद्ध के उपस्थापक (निजी सहायक) रहे। उनसे पूर्व समय-समय पर भगवान की परिचर्या करने के लिए कई एक अन्य लोग इस पद पर नियुक्त किए जाते रहे। उनमें से एक था भिक्षु मेघिय।

एक बार जब भगवान चालिका पर्वत पर विहार कर रहे थे तब भिक्षु मेघिय भगवान की अनुज्ञा लेकर जन्तु ग्राम में भिक्षाटन के लिए गया। लौटते हुए वह किमकाळा नदी के किनारे एक मनोरम आम्रवन में से गुजरा। उसने देखा चारों ओर हरियाली ही हरियाली है। तरु-तृण, कुडमल-किसलय, विपिन-वल्लरी पर प्रकृति की नयनाभिराम सुषमा छायी हुई है। सारे वनप्रदेश में पल्लव-परिमल की, प्रफुल्ल कुसुमों की मीठी महक गमक रही है। रसीले गदराए फलों से लथपथ आम्र शाखाएं बिना चखे ही जीभ को मीठे स्वाद से और लार से भर देती हैं। भौरों के गुंजन और खगकुल के कलरव के साथ साथ किमकाळा नदिया का कर्णमधुर कल-कल निनाद सारे वातावरण को दिव्य संगीत से भर रहा है। शीतल मंद समीर शरीर का स्पर्श करती है तो उसे पुलक सिहरन से हर्ष विभोर कर देती है। सर्वत्र निसर्ग का सौन्दर्य श्रृंगार बिखरा हुआ है। सभी कुछ अत्यंत रमणीय, अत्यंत मनोज्ञ, अत्यंत मनोहारी है।

मेघिय को लगा कि यह स्थान ध्यान भावना (साधना) के लिए अत्यंत उपयुक्त है। भगवान से आज्ञा लेकर यहां अभ्यास करूं। भगवान के पास जाकर आज्ञा मांगी तो भगवान ने रोका। मेघिय को यह रोकना अच्छा न लगा।

ऊपर-ऊपर से रमणीय दिखने वाले सभी स्थान ध्यान-भावना के उपयुक्त ही हों, यह आवश्यक नहीं है। इस विषय के मर्मज्ञ अधिकारी

व्यक्ति ही इसे जान सकते हैं। इसके अतिरिक्त मेघिय जैसे नए साधक को प्रारंभिक अवस्था में उचित मार्गदर्शन के लिए किसी एक अनुभवी कल्याणमित्र के सान्निध्य की भी नितांत आवश्यकता थी। भगवान ने उसे ठीक ही रोका। परंतु भगवान की इच्छा न होने पर भी अति आतुर मेघिय उसी स्थान पर अकेले साधना करने चला गया।

वहां किसी वृक्ष के तले साधना करने बैठा तो उसे यह देखकर बेहद आश्चर्य हुआ कि साधारणतया भगवान के सान्निध्य में ध्यान करने पर उसका मन जितना शांत, स्थिर, सजग, सचेत और विमल विशुद्ध रहता है, वैसा यहां बिल्कुल नही हो रहा। अवश्य ही उस स्थान पर किन्ही दूषित तरंगों का कुत्सित प्रभाव होगा, जिसके कारण उसके मन में बार बार कलुषित पाप तरंगों के संकल्प-विकल्प, वितर्क-विचार उठने लगे। कभी प्रबल काम तृष्णाओं के ज्वार उठते तो कभी द्वेष-दौर्मनस्य और घृणा-क्रोध का झंझावात चल पड़ता। उसका समस्त मन-मानस मलीन तरंगो से उद्वेलित, आलोड़ित हो उठा। उसे समझ नही आ रहा था कि ऐसी अवस्था में क्या करे? कोई मार्ग-निर्देशक भी तो पास नही था। व्याकुल होकर सायंकाल वहां से लौटा और भगवान के पास आकर उन्हें अपनी आप-बीती कह सुनायी।

भगवान ने उस समय उसे जो उपदेश दिया, वह सभी नौसिखिए साधकों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अनुकरणीय है। भगवान ने बताया कि जो साधक अभी चित्त-विमुक्ति में परिपक्व नही हुआ है, उसके लिए यह पांच साधन अत्यंत अपेक्षित हैं :

१. उसे चाहिए कि किसी अनुभवी कल्याणमित्र का सन्निध्य और मार्गदर्शन प्राप्त करे।

२. उसे चाहिए कि अनिवार्यतः शील-पालन करे। किंचित् भी शील-भंग होने में अपना घोर अनर्थ माने। शील साधना की आधारशिला है,

नीव है। शील परिपक्व हुए बिना कोई साधना में परिपक्व हो नही सकता।

३. उसे चाहिए कि ऐसी धर्म चर्चा में ही रुचि रखे जो कि चित्त पर से मैल उतारने में, विषयों से विरक्ति विकर्षण पैदा करने में, दुखों का नितांत निरोध करने में, विकारों का पूर्ण उपशमन करने में सहायक हो। जैसे अल्पेच्छ कथा, संतुष्टि कथा, विवेक कथा, निःसंग कथा, पुरुषार्थ कथा, शील कथा, समाधि कथा, प्रज्ञा कथा और ज्ञान दर्शन अनावरणीय कथा। ऐसी धर्म कथाएं जिनसे मार्गदर्शन, प्रेरणा और उत्साह मिले, जिनसे आशंकाएं-विशंकाएं दूर हों, मन स्थिर हो, श्रद्धा बहुल हो, अध्यवसायी हो और परिणामस्वरूप अपवित्रताओं, पीड़ाओं और विकलताओं से छुटकारा पाकर विरज विमल हो।

४. उसे चाहिए कि वह दृढ़ पुरुषार्थ में लग जाय। अकुशल से मुक्त और कुशल में संपन्न होने के पुरुषार्थ में। साधना के लिए जो विधि अपने कल्याणमित्र से मिली, उसके अभ्यास में स्थिरता लाए और जबतक चित्त विशुद्धि और विमुक्ति के अंतिम लक्ष्य तक न पहुँच जाय, तबतक स्वेच्छा से धारण किए हुए अभ्यास के इस कुशल जुए को अपने कंधो पर से उतार न फेंके। दृढ़ पराक्रम में संलग्न रहे, स्थित रहे।

५. उसे चाहिए कि सुनी-सुनाई श्रुत-प्रज्ञा अथवा तर्क-वितर्क द्वारा प्राप्त चिंतन-प्रज्ञा तक ही सीमित न रह जाय, बल्कि अपने भीतर स्वानुभूतिजन्य भावनामयी प्रज्ञा जगाए। ऐसी कुशाग्र, तीक्ष्ण, बीधनेवाली प्रज्ञा जो स्थूल शरीर-स्कंध और भावावेशविहारी स्थूल चित्त-स्कंध के टुकड़े-टुकड़े करके, उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म सच्चाइयां अनावरित कर दे। क्षण-क्षण उदय और अस्त, उत्पाद और व्यय होने वाली सूक्ष्म सच्चाइयों का दर्शन कराने वाली आर्य-प्रज्ञा ऐसा आलोक जगाए, जिससे कि अज्ञान और अविद्या का सारा कुहरा दूर हो जाय और दुःख-क्षय रूपी निर्वाण का स्वतः साक्षात्कार हो जाय।

साधक अपने कल्याणमित्र के सहयोग सहकार द्वारा उपरोक्त प्रकार अभ्यास करता हुआ अपना कल्याण साधे। भगवान ने आगे कहा कि जब-जब उसकी चित्तधारा पर राग जागे, तब-तब अशुभ भावना याने शरीर की गंदगी की भावना करे। जब-जब द्वेष जागे, तब-तब मंगल मैत्री की, जब-जब विचार-वितर्क जागे तब-तब आनापान सति याने आश्वास-प्रश्वास के प्रति जागरूकता की, और जब-जब अस्मिताभाव जागे याने अहंकार जागे, तब-तब अनित्य की भावना करे।

यह 'मैं' और 'मेरे' का मिथ्या अहंभाव ही है जो कि राग और द्वेष पैदा करता है, जिनकी कि वजह से चित्तधारा पर नाना प्रकार के वितर्क-विचारों और विकृति-विकारों की रेल-पेल चलने लगती है। इसीलिए चित्त-विमुक्ति की साधना में अहंभाव को, आत्मभाव को नष्ट करने पर सबसे अधिक बल दिया जाता है। इसकी जड़ें उखड़े बिना अन्य विकारों की जड़ें उखड़ नही पाती। इसीलिए **उदयत्थगामिनिया पञ्ञाय समन्नागतो अरियाय निब्बेधिकाय** को इतना महत्त्व दिया गया है। ऐसी बीधने वाली प्रज्ञा को जो उदय-व्यय वाले अनित्य स्वभाव का साक्षात्कार करवाती है। यह अनित्य-संज्ञा प्रबोधनी-प्रज्ञा ही है जो कि साधक के आत्मभाव पर कुठाराघात करती है। अनित्य संज्ञी साधक ही अनात्म याने अहं-विहीनता की सच्चाइयों में संतिष्ठित, प्रतिष्ठित होता है और अनात्म संज्ञी ही अस्मिताभाव की सारी अविद्या का समुद्धात करता है, उसकी जड़ें उखाड़ता है और निर्वाण का साक्षात्कार करता है। यहीं इसी जीवन में।

कितने आश्वासन भरे शब्दों में इस कल्याणी **अनित्य साधना** की मंगल घोषणा की है भगवान ने :—

अनिच्चसञ्ञिनो हि, मेघिय, अनत्तसञ्ञा सण्ठाति अनत्तसञ्ञी अस्मिमानसमुग्घातं पापुणाति दिट्ठेव धम्मे निब्बानं।

हम अनित्य को अनित्य देखते ही तो नही। सारा ऐन्द्रिय जगत अनित्य है पर हम इन पांच इन्द्रिय द्वारों पर सदा विषयों का स्वागत करते रहते हैं; नित्य मानकर ही उनका उपभोग करते रहते हैं। कभी कोई मनोहारी रूप देखते हैं, कभी मनोहारी गंध सूंघते हैं, कभी मनोहारी शब्द सुनते हैं, कभी मनोहारी रस चखते हैं, कभी मनोहारी स्पर्श करते हैं, और जब कभी आंख मूंदकर साधना में बैठते हैं तो उन उन मनोहारी रूपों, गंधों, शब्दों, रसों और स्पर्शों की मीठी यादें मन में उभरती हैं। कभी किसी रूप, शब्द, रस, गंध, स्पर्श की स्वयं अनुभूति न भी की हो, परंतु केवल वर्णन पढ़ा-सुना हो तो उसकी कामना कल्पना ही चित्तधारा पर उभरने लगती है। चाहे इन मनोज्ञ विषयों की स्वानुभूतिजन्य यादें हों अथवा श्रुतिजन्य कल्पनाएं, पर इनका चिंतन-मनन विषयों के प्रत्यक्ष उपभोग जैसा ही प्रिय लगता है। कोई भी ऐन्द्रिय विषय इस क्षण उपस्थित नही है, केवल उसकी याद है अथवा कल्पना, पर फिर भी चित्तधारा पर उसके चिंतन की **खुद्दक-खुद्दक** याने क्षुद्र-क्षुद्र, नन्ही-नन्ही और **सुखुमा-सुखुमा** याने सूक्ष्म-सूक्ष्म तरंगें उठने लगती हैं। चित्तधारा पर उत्पन्न हुई यह नन्ही-नन्ही, सूक्ष्म-सूक्ष्म वितर्क-विचार की तरंगे; शरीर-स्कंध पर नन्ही-नन्ही, सूक्ष्म-सूक्ष्म संवेदनाओं की सिहरन पैदा करती हैं, जो कि हमें अत्यंत प्रिय लगती हैं। सूक्ष्म स्तर पर होने वाले इस पुलक-रोमांच का हम आनंद लेने लगते हैं, इसी से उसके प्रति अधिकाधिक नन्दी राग जागता है।

राग-रंजित होकर हम उन सूक्ष्म सुखद संवेदनाओं का अंधानुकरण करने लगते हैं। उस सुखद अनुभूति में जरा सी बाधा आए अथवा बाधा आने की जरा सी आशंका पैदा हो तो मन में बेचैनी जागने लगती है, घबराहट होने लगती है। उस सुख के विरोधी लगने वाले सारे तत्व याने सभी व्यक्ति, वस्तुएं, परिस्थितियां अत्यंत अप्रिय लगने लगती हैं। फलतः उनके प्रति द्वेष-द्रोह जागता है। इस राग-रंजन और द्वेषदूषण से चित्त भ्रांत हो उठता है। परिणाम स्वरूप इधर उधर दौड़ता है, अशांत होता है। यह सब

इसीलिए होता है कि जब-जब शरीर और चित्तधारा पर यह नन्ही-नन्ही, सूक्ष्म-सूक्ष्म तरंगें उठती हैं, तब-तब उनके प्रति हम **अविद्वा** रहते हैं याने अवेदनशील रहते हैं, अनजान रहते हैं। कैसे मन राग-रंजित होकर उन तरंगों का अनुगमन करने लगा है? कैसे **उप्पिलावा** याने उत्फुल्ल-प्रफुल्ल होने लगा है? इसका हमें जरा भी बोध नही रहता। इसी के फलस्वरूप बात बढ़ते-बढ़ते इस व्याकुलता की हद तक आ पहुँचती है।

इसे रोकने के लिए ही विपश्यना साधना है। इसीलिए बीधने वाली प्रज्ञा है जो कि हमें सूक्ष्म अवस्था में उठने वाली इन नन्ही-नन्ही तरंगों को अपने सही स्वभाव में देखने योग्य बनाती है और इन्हें अनासक्तभाव से देखना सिखाती है। क्या है इनका सही स्वभाव? यही **उदयत्थ** याने उदय-अस्त, उत्पाद-व्यय, उत्पन्न-लय। हर तरंग अस्त होने के लिए ही उदय होती है। जब हम इन नन्ही-नन्ही तरंगों को उनकी इस अनित्य धर्मा सच्चाई के बोध में देखने लगते हैं तो मिथ्या आनंद से विभोर होकर याने अंधे होकर इनका अनुगमन करने की आदत से छुटकारा पाते हैं। जब इनका अनुगमन नही करते तो इन रस-तरंगों को बल नही मिलता। ये अपने आप क्षीण होने लगती हैं। यही सही माने में मन का संवर है, जिसमें कि दमन नही है, केवल देखना है, सच्चाई के प्रति जागरूक रहना है, अनित्य स्वभाव के प्रति सचेत, अप्रमत्त रहना है। इस अभ्यास के द्वारा अंधेपन में उत्पन्न हुए सारे विकार सहज ही छूट जाते हैं। विकार संग्रह से मुक्ति मिलते ही चित्तधारा विरज विमल हो जाती है। यही विपश्यना साधना का अभ्यास है। इसी ओर संकेत करते हुए भगवान ने उस समय उदान के यह वचन कहे :

खुद्दा वितक्का, सुखुमा वितक्का,
अनुग्गता मनसो उप्पिलावा।
एते अविद्वा मनसो वितक्के,
हुराहुरं धावति भन्तचित्तो।
एते च विद्वा मनसो वितक्के,

आतापियो संवरती सतीमा।
अनुग्गते मनसो उप्पिलावे,
असेसमेते पजहासि बुद्धो॥

ये नन्हें-नन्हें वितर्क विचार पैदा होते हैं तो मन इनके पीछे लग जाता है और आनंद से फूल उठता है। इन सूक्ष्म-सूक्ष्म, नन्हें-नन्हें वितर्क-विचारों और इनसे उत्पन्न सूक्ष्म संवेदनाओं के प्रति जब कोई अविद्या याने अवेदनशील याने अनजान रहता है तो चित्त भ्रांत हो इधर-उधर प्रधावन करता है, दौड़ लगाता है।

परंतु जब कोई साधक साधनारत हो जागरूक रह कर इनके प्रति विद्या याने संवेदनशील हो जाता है तो मन का संवर कर लेता है। वह शुद्ध-बुद्ध साधक आनंद के अनुगमन करने वाले मन को पूर्णतया त्याग देता है।"

आओ, भगवान द्वारा संक्षेप में कहे हुए इस उपदेश को समझें और इसका पालन करें।

देखें, कैसे स्वभाव शिकंजे में जकड़ गए हैं हम। जब देखो तब मन के लड्डू फोड़ने लगते हैं, ख्याली पुलाव पकाने लगते हैं, हवाई महल बनाने लगते हैं और मीठे सपने सँजोने लगते हैं। ऐसा करते हुए इन नन्ही-नन्ही विचार-तरंगों में और इनसे उत्पन्न होने वाली सुखद संवेदनाओं में घंटों लोट-पलोट लगाते रहते हैं और अपनी सुध-बुध खोए रहते हैं। जब होश आता है और यथार्थ की ठोस धरती पर कदम रखते हैं तो सच्चाई कितनी अप्रिय लगती है। मीठे सपने टूटते हैं तो बेहद बेचैनियां लाते हैं। चित्त उद्भ्रांत हो जाता है। कही चैन से टिक नहीं पाता। सदा अशांत, अस्थिर, चंचल, उद्विग्न, उद्वेलित, उत्तेजित बना रहता है। दुःख ही दुःख का पिटारा। इसके पहले कि हम ऐसे भावावेश के शिकार हो जायँ, हमें चाहिए कि जब कभी हमारा मोह-मुग्ध मन इन सूक्ष्म विचार-तरंगों का अनुगमन करने लगे और इन सुखद संवेदनाओं से हर्षित पुलकित होने लगे तभी होश

में आ जायँ, स्मृतिवान हो जायँ। चित्तानुपश्यना, कायानुपश्यना और दोनों का सम्मिलित बोध कराने वाली वेदनानुपश्यना और इन वेदनाओं-संवेदनाओं के तरंगमय अनित्य स्वभाव को स्पष्ट करने वाली धम्मानुपश्यना करने लगें। बीधनेवाली प्रज्ञा जगाएं। उदय-व्यय के साक्षात्कार द्वारा अपने मन को वीतरागता की ओर, अनासक्ति की ओर उन्मुख करें और अपना कल्याण साधें।

अनित्य के प्रति सजग, सुबोध बने रहने में ही अनित्य के प्रति निसंग बनाए रखने वाली प्रज्ञा समाई हुई है। अनित्य के प्रति सर्वथा निसंग होकर ही नित्य शाश्वत ध्रुव निर्वाण का साक्षात्कार हो सकेगा और इसी में सबका मंगल समाया हुआ है। ●

६ / सुखी सुरक्षित - १

सिद्धार्थ गौतम को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई। धर्मचक्र-प्रवर्तन हुआ। थोथे कर्मकांड, निरर्थक दार्शनिक वाद-विवाद एवं जातिपांति व सम्प्रदायगत संकीर्णता से दूर सार्वजनीन, सार्वदिशिक, सार्वकालिक धर्म का सर्वमंगलकारी स्वरूप लोक में प्रसारित होने लगा। सभी वर्ग-वर्ण, कुल-गोत्र के लोग शुद्ध धर्म की चुम्बकीय शक्ति की ओर आकृष्ट होकर खिंचे आने लगे। धर्म-संघ संवर्धित होने लगा।

उन दिनों भगवान मगध की राजधानी राजगृह में मगधराज श्रेणिक बिम्बिसार द्वारा प्रदत्त वेणुवन में विहार कर रहे थे। तब पिता शुद्धोधन द्वारा बार-बार दूत भेजकर आमंत्रित किए जाने पर भगवान कपिलवस्तु गए। प्रारंभिक हिचक के बाद अनेक शाक्यवंशीय राजपुत्र प्रव्रजित हो धर्मसंघ सम्मिलित हुए। भगवान कुछ दिन कपिलवस्तु में विहार कर समग्र भिक्षुसं सहित समीपवर्ती मल्लदेश के अनूपीय आम्रवन की ओर चल दिए।

उन दिनों कपिलवस्तु में गणराज्य था। गणसभा के सभी सभासद राजा कहलाते थे। उनमें से किसी एक को निश्चित अवधि के लिए कार्यवाहक शासक चुन लिया जाता था। सभी राजा मिलजुलकर शासन के नियमों का संविधान करते और कार्यवाहक राजा उन नियमों के अनुसार प्रजा को अनुशासित करता था। उन दिनों कालीगोध का पुत्र भद्दिय कार्यवाहक राजा था। अन्य अनेक सभासद राजाओं में से एक राजा था — शाक्य महानाम जो कि खेती बाड़ी करके जीविकोपार्जन करता था। महानाम का छोटा भाई था अनिरुद्ध जो कि बड़े भाई और माता के लाड़-प्यार में पला हुआ सुख-समृद्धि का जीवन बिताता था।

एक दिन महानाम शाक्य के मन में यह आया कि सभी राज परिवारों से अनेक सदस्य शाक्यसिंह भगवान बुद्ध के संघ में सम्मिलित हो रहे हैं। क्यों

न मैं भी सारा धन-धान्य और काम-धंधा छोटे भाई अनिरुद्ध के हवाले करके स्वयं प्रव्रजित हो, उनका साथ दूं। इस संबंध में दोनों भाईयों में परस्पर बात-चीत हुई। अंततः महानाम को घर सँभालने के लिए रहना पड़ा। अनिरुद्ध प्रव्रजित होने के लिए कृतसंकल्प हुआ। इस निमित्त वह जब अपनी मां से आज्ञा लेने गया तो मां व्यथित व्याकुल हुई। पुत्र-वियोग उसके लिए असह्य था। अनिरुद्ध को अत्यंत दृढ़संकल्प देखा और उसे रोकने का अन्य उपाय नही सूझा तो उसने इस शर्त पर अनुमति दी की राजा भद्दिय तेंरे साथ प्रव्रजित हो तो भले तू भी हो जा। वह जानती थी कि एक तो शासन की जिम्मेदारियों के कारण और दूसरे शासक को मिली विशेष सत्ता व सुविधा की आसक्तियों के कारण भद्दिय कदापि प्रव्रजित नही होगा। परंतु भद्दिय अनिरुद्ध का बचपन का धूल-खेला घनिष्ट मित्र था। अतः अनिरुद्ध ने यह शर्त झट स्वीकार कर ली। उसें पूरा विश्वास था कि अंतरंग मित्र भद्दिय उसकी बात नही टालेगा। धर्मपथ पर उसका साथ देगा। मानस में सफलता की उमंग लिए हुए और कदमों में गृहत्याग की त्वरा लिए हुए वह राजमहल की ओर गया और राजा भद्दिय से मिलकर बोला, "मित्र भद्दिय, मैं प्रव्रज्या के लिए अत्यंत आतुर हूं, संवेगग्रस्त हूं। परंतु मेरी प्रव्रज्या का होना न होना तेंरे आधीन है।"

शाक्यराज भद्दिय ने कहा — "सौम्य अनिरुद्ध, यदि तेरी प्रव्रज्या मेंरे आधीन है तो मैं तुम्हें इस आधीनता से मुक्त करता हूं। प्रसन्नता से प्रव्रजित होओ।"

इस पर अनिरुद्ध ने सारी बात समझाते हुए कहा, "मैं तुम्हारे बिना प्रव्रजित नही हो सकता।"

शाक्यराज भद्दिय घर से बेघर होकर प्रव्रजित होने के लिए तैयार नही था। परंतु वचनों में बँध चुका था। बिना पूरी बात सुने-समझे ही उसने वचन दे दिया था कि "यदि तेरी प्रव्रज्या मेंरे आधीन है तो मैं तुम्हें इस आधीनता से

मुक्त करता हूं।" आधीनता से मुक्त होने का अर्थ था कि अनिरुद्ध की माता की शर्त पूरी करना याने स्वयं भी प्रव्रजित होना। उन दिनों लोग सत्यवादी होते थे। वचन निबाहने वाले होते थे। इक्ष्वाकुवंश के लोग तो इस क्षेत्र में अधिक प्रसिद्धि-प्राप्त थे। अतः प्रव्रजित होने का धर्मसंवेग न होते हुए भी शाक्यराज भद्दिय अनिरुद्ध के साथ मल्लप्रदेश के आम्रवन में जहां भगवान बुद्ध विहार कर रहे थे, वहां पहुँचकर प्रव्रजित हुआ और उनके धर्मसंघ में सम्मिलित होकर विपश्यना साधना में रत हो गया। समय पाकर अनिरुद्ध की भांति वह भी अर्हंत पद को प्राप्त हुआ, जीवनमुक्त हुआ।

स्थविर भद्दिय अरण्य के किसी खुले स्थान में, रुक्खमूल पर अथवा किसी एकांत ध्यानकक्ष में — जिसे उन दिनों की भाषा में शून्यागार कहा जाता था — ध्यान करता, विपश्यना भावना करता, अध्यात्म में याने अपने भीतर ऐन्द्रियजन्य संवेदनाओं की वेदनानुपश्यना करता; अतीन्द्रिय संवेदनाओं का प्रीतिप्रमोदपूर्ण दर्शन करता और फिर इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर **निब्बाणं परमं सुखं** का तथ्य अनुभव करता और उस निर्वाणिक स्थिति के पश्चात् देर तक भीतर ही भीतर जिस शीतल शांति से तन-मन आप्लावित रहता, उससे धर्म साधना के प्रति विह्वल होकर पुलकरोमांच से भर उठता। कभी कभी आंखों से अश्रुधारा बह चलती। आनंदातिरेक की ऐसी अवस्था में उसके मुँह से सहसा हर्षोद्गार निकल पड़ते — **अहो सुखं। अहो सुखं।**

बड़ा अंतर है ऐंद्रिय सुख और इन्द्रियातीत नैर्वाणिक सुख में। एक भ्रम, भ्रांति, आभास मात्र। दूसरा यथार्थ, वास्तविक। निर्वाण का सुख सूक्ष्म से सूक्ष्म ऐंद्रिय सुख से भी परे। अतुल, अनुत्तर, अद्वितीय, अनुपम, अप्रमेय। वर्णनातीत, व्याख्यातीत, शब्दातीत। गूंगे का गुड़। जो चखे सो ही जाने। कोई कैसे बखाने ? बखाने तो हर शब्द भ्रामक ही भ्रामक साबित हो।

तभी तो वे साधक भिक्षु जो कि अभी आर्य नहीं हो पाए थे, जो साधना

पथ के पथिक तो थे, पर ऐसे अनुपम अमृतरस का स्वयं आस्वादन नही किया था – इस **अहो सुखं ! अहो सुखं !** का क्या अर्थ करते ? उनके लिए इंद्रिय सुख ही सुख था। अतः वे जब कभी स्थविर भद्दिय को नम-नयन **अहो सुखं ! अहो सुखं !** कहते सुनते तो उन्हें लगता पूर्व समय का राजा भद्दिय, मित्र अनिरुद्ध से वार्तालाप में वचनबद्ध हो जाने के कारण, बिना मन के घर से बेघर हुआ है। अतः खिन्न मन है। कहां वह महलों का वैभव-विलास और कहां यह भिक्षु का अभावग्रस्त शुष्क जीवन ? कहां वह प्रवृत्तिमय रंगरलियां और कहां यह निवृत्तमय त्याग तप ? कहां वह नौकर-चाकर, राज्यपरिषद् और चतुरंगिनी सेना पर हुकूमत का रुआब-दबाव और कहां यह दर-दर भिक्षाटन का जीवन ? अवश्य राजा भद्दिय भीतर ही भीतर अत्यंत दुःखी है और अपने विगत वैभव को याद करके **अहो सुखं ! अहो सुखं !** का उच्चारण करता और ठंडी आहें भरता रहता है।

बात भगवान तक पहुँची। भगवान वस्तुस्थिति जानते थे। अतः शिकायत करने वाले भिक्षुओं के सामने ही स्थविर भद्दिय को बुलाकर प्रश्न किया ताकि उनकी भ्रांति दूर हो।

स्थविर भद्दिय ने उत्तर दिया, ''भन्ते भगवन ! यह सच है कि मुझे अपना पुराना जीवन स्मरण होता है और अबके जीवन से उसकी तुलना करता हूं तो स्वभावतः मुख से **अहो सुखं ! अहो सुखं !** निकल पड़ता है। भन्ते भगवन ! जब मैं कपिलवस्तु गणराज्य का कार्यवाही राजा था तो मेरे अंतःपुर के भीतर-बाहर, नगर के भीतर-बाहर, कड़ा पहरा रहता था। यह सारा पहरा मेरी आरक्षा-सुरक्षा के लिए था। परंतु वह भी कैसी सुरक्षा थी कि जिसके बने रहने पर भी सर्वदा अपने आपको असुरक्षित ही महसूस करता था। सदा भयभीत, सशंकित, सदा उद्विग्न, संत्रस्त। और अब भगवन ! अरण्य में किसी वृक्ष के मूल पर, किसी शून्यागार में सर्वथा अकेला रहकर ध्यान करता हूं तो सचमुच कितना सुरक्षित महसूस करता हूं! कितना

निर्भय! कितना निःशंक! कितना अल्पेच्छ! कितना शांत! कितना सुखी! ऐसी अवस्था में स्वभावतः हर्षवचन निकल पड़ते हैं — **अहो सुखं! अहो सुखं!**

धन्य है विपश्यनाजन्य समता का महासुख। धन्य है निर्वाण अवस्था का परमसुख।

विपश्यना समता के लिए ही तो है। निर्वाण के लिए ही तो है। महासुख, परमसुख के लिए ही तो है। जीवन में जब-जब अनचाही होती है अथवा मनचाही नही हो पाती तब-तब हम कुपित हो उठते हैं और परिणामस्वरूप दुःखी हो उठते हैं। किसी वस्तु अथवा स्थिति को प्राप्त किया चाहते हैं, उसकी चाह में तृषित-त्रसित बने रहते हैं। जब-तक प्राप्त न हो, तब-तक अभाव में असुरक्षित महसूस करते हैं। उद्विग्न, उत्तेजित रहते हैं। प्राप्त हो जाय तो उसे कायम रखने के लिए आतुर हो उठते हैं। सोचते हैं इसके बिना सुरक्षित कैसे रहेंगे? अतः इस **'मेरी'** की सुरक्षा में **'मैं'** की सुरक्षा मानकर, **'मेरी'** को कायम रखने की जी तोड़ मेहनत करते हैं और आरक्षण की बाड़ लगाते हैं। उजड़ने के भय से रात की नीद, दिन की चैन गँवाते हैं। अभाव में भी दुखी, भाव में भी दुखी। किसी मनचाही के न होने से भी दुखी, हो जाने से भी दुखी। न होने पर होने का दुःख, होने पर उसे कायम रखने के प्रयास का दुःख। कायम न रख सके तो फिर खो देने का दुःख। दुःख ही दुःख। दुःख ही दुःख। इस दुःख का निरोध ही तो विपश्यना-पथ है।

विपश्यना के अभ्यास में साधक क्या करता है? अंतर्मुखी होकर शरीर-स्कंध के भीतर-बाहर चेतना के स्तर पर अनचाही-मनचाही संवेदनाओं की अनुभूति करता है। पूर्व संस्कारों के दूषित स्वभाव के कारण अनचाही को दूर करने की, मनचाही को कायम रखने की, समेटे रखने की, बार-बार भूल करता हुआ भी बीच-बीच में दोनों के ही अनित्यधर्म को

समझता है और प्रज्ञापूर्वक समता में स्थिर होता है। इस प्रकार शनैः-शनैः उस अवस्था की ओर बढ़ता जाता है, जहां अभाव के कारण अथवा भाव के छूटने के कारण मन कुपित-कुंठित नही होता। सफलता-विफलता, उत्कर्ष-अपकर्ष आदि के भाव-अभावरूपी सुख-दुःखमय द्वंदों से पार हो जाता है और उस अवस्था पर जा पहुँचता है जहां सुरक्षा ही सुरक्षा है, निर्भयता ही निर्भयता है, शोकहीनता ही शोकहीनता है। सही अर्थ में सुख ही सुख है। ऐसे महासुख, परमसुख को कोई प्रत्यक्ष अनुभवी ही समझ सकता है। जो स्वयं इस अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं, वे बहुज्ञ देव भी इसे नही समझ सकते। शिक्षाग्राही सामान्य साधकों को तो भ्रम होना ही था।

भिक्षु भद्दिय की इस ऊंची अवस्था को देखकर ही उस समय भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकले :

यस्सन्तरतो न सन्ति कोपा,
इतिभवाभवतं च वीतिवत्तो।
तं विगतभयं सुखिं असोकं,
देवा नानुभवन्ति दस्सनाया ति॥

''जिसके अंतरतम में कही कोप नही रह गया, जो भव और अभव के सारे द्वंदों को पार कर गया, वह इस अवस्था पर पहुँच गया; जहां अभय, अशोक और सुखी ही रहता है। उस अवस्था को प्राप्त हुए मुक्त व्यक्ति को देवता भी नही समझ सकते।''

साधकों! कठिन है उस ऊंची अवस्था तक पहुँचना, जहां सही सुरक्षा प्राप्त हो जाय, सही सुख प्राप्त हो जाय; पर असंभव नही है। धैर्य धीरज के साथ **अनुपुब्बी** याने क्रमशः अभ्यास द्वारा इस मंगल-पथ पर एक-एक कदम बढ़ते चलें और अपना मंगल साधते चलें! देर सबेर अंतिम लक्ष्य तक पहुँचेंगे ही! जितने-जितने कदम चलेंगे उतना-उतना मंगल सधेगा ही! ●

७ / सुखी-सुरक्षित-२

जैसे सभी शासक वैसे ही कोसलनरेश महाराज प्रसेनजित भी सदैव अपनी सुरक्षा के लिए चिंतित रहता था। न जाने कब कोई पड़ोसी दुश्मन हमला करके राज्य छीन ले। न जाने कब कोई विद्रोही बगावत का बलवा बोल दे। न जाने कब कोई बेवफा राज्य-अधिकारी अथवा सत्तालोलुप स्वजन-परिजन षड़यंत्र करके हत्या कर दे। विलास-वैभव, धन-ऐश्वर्य, सत्ता-प्रभुता का सुख भोग सकना तो दूर, हर समय इनकी और अपनी सुरक्षा की चिंता ही मन व्यथित करती रहती थी। न रात को निश्चिंत नीद, न दिन को निश्चिंत चैन। सुरक्षा के लिए जगह-जगह बड़ी संख्या में हाथी, घोड़े, रथ-सवार और पैदल अंग-रक्षक तैनात कर रखे थे, परंतु फिर भी अंतर्मन सदा भयभीत, आशंकित, असुरक्षित ही रहता था।

बाहर से सुखी-सुरक्षित दीखने वाला पर भीतर से सदा असुखी, असुरक्षित रहनेवाला राजा प्रसेनजित भगवान के संपर्क में आया। धर्म के, विपश्यना के संपर्क में आया।

कोसलदेश की राजधानी श्रावस्ती में श्रेष्ठी सुदत्त अनाथपिंडिक ने विपुल धन-संपदा लगाकर जेतवन में एक विशाल साधना केन्द्र निर्माण कर भगवान को समर्पित किया था। भगवान के साथ रहनेवाले सहस्त्रों गृहत्यागी भिक्षु तो वहां रहते हुए विपश्यना साधना का अभ्यास करते ही थे, बहुत बड़ी संख्या में गृहस्थ भी इस साधना केन्द्र में भगवान के सान्निध्य और मार्गदर्शन से लाभान्वित होते थे। राजा प्रसेनजित ने भी विपश्यना का अभ्यास किया।

विपश्यना साधना याने आत्ममुखी होने की साधना। सत्यमुखी होने की साधना। विपश्यी साधक अंतर्मुखी होकर अपने भीतर की सच्चाई को देखता है। अपने मन की गंदगी को, विकारों को देखता है और देखते-देखते प्रज्ञा में स्थित होता हुआ विकारों से विमुक्त होने लगता है।

कोसलनरेश प्रसेनजित भी इसी प्रकार अपने भीतर अपने मनोविकारों को देखने लगा। अंतर्मन में समाए हुए भय के विकार प्रकट हुए। जो विकार सामान्यतया समस्त मनोजगत को अभिभूत कर लिया करते थे, वे ही अब विपश्यना के अभ्यास द्वारा तटस्थ भावसे देखे जाने लगे। जब व्यक्ति विकारों से अभिभूत हो जाता है तो उसे सच्चाई विकृत होकर ही दीखती है। परंतु अभिभूत न होकर असंगभाव से देखता है तो सच्चाई जैसी है वैसी दीखने लगती है। ऐसे समय जो संकल्प-विकल्प होते हैं, वे सम्यक् ही होते हैं। **'योनिसो मनसिकार'** ही होते हैं। याने सही प्रकार से चिंतन-मनन होता है। इस सम्यक् दर्शन और सम्यक् संकल्प द्वारा जो ज्ञान उपजता है वह भी सम्यक् होता है, कल्याणकारी होता है।

अनाथपिंडिक के जेतवन विहार में किसी एकांत शून्यागार याने ध्यानकुटी में विपश्यना भावना करता हुआ कोसलनरेश प्रसेनजित आध्यात्मिक सत्य-दर्शन में प्रतिसल्लीन हुआ तो अपने मन में समाए हुए असुरक्षा के भयावह विकारों के प्रति सम्यक् चिंतन-मनन करने लगा। सुरक्षा-असुरक्षा की सही बात समझ में आने लगी।

कौन सुरक्षित है? कौन अरक्षित है? हाथी, घोड़े, रथ-सवारों और पैदल अंग-रक्षकों के होते हुए भी कोई व्यक्ति तब तक सुरक्षित नही है जब तक कि वह काया, वाणी व चित्त के दुराचार से विरत नही हो जाता। अंगरक्षकों की सुरक्षा तो बाहरी-बाहरी ही है और वह भी कितनी अविश्वसनीय। परंतु आध्यात्म की सुरक्षा याने भीतर की सुरक्षा तो आचरण सुधरने पर होती है। वही है अत्यंत सुदृढ़ सुरक्षा। शरीर और वाणी का दुराचरण मन के मैल का ही दुष्परिणाम है। मन का दुराचरण तो स्पष्टतया मन का मैल है ही। शरीर, वाणी और मन से दुराचरण करने वाला व्यक्ति मन को मैला करता है और जब-जब मैला करता है, तब-तब कुदरत के कानून द्वारा तत्काल दंडित होता है और भविष्य में भी इस दंड विधान का

शिकार होता है। आंतरिक सुख शांति खो बैठता है। आकुल-व्याकुल होता है, दुखी बेचैन होता है। आचरण सुधार लेता है तो इस दंड से बच जाता है। सही माने में सुखी-सुरक्षित हो जाता है। अतः असली सुख, असली सुरक्षा आचरण सुधारने में ही है। एकांत ध्यान से उठकर जब उसने अपने मन में उठे इस सम्यक् संकल्प की बात भगवान के सामने प्रकट की तो उसके कथन का अनुमोदन करते हुए भगवान ने यह धर्मगाथा कही :-

कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।
मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो।
सब्बत्थ संवुतो लज्जी, रक्खितोति पवुच्चतीति॥

काया का संयम अच्छा है, अच्छा है वाणी का संयम। मन का संयम अच्छा है, अच्छा है सबका संयम। जो लज्जावान व्यक्ति सब प्रकार से संयमशील है, वही सुरक्षित कहा जाता है।

लज्जावान वह जिसे काया, वाणी, चित्त के दुराचरण करते हुए लज्जा आए और परिणामतः उनसे बचे। जो दुराचरण से बचता है वह सदाचरण ही करता है। सचमुच सदाचारी, सदा सुखी है, सदा सुरक्षित है।

एक व्यक्ति धन-संपदा संग्रह कर आसक्त होता है। सोचता है, इनके सहारे मेरा भविष्य सुरक्षित रहेगा। अनागतकाल में मुझे कोई कष्ट नही होगा। एक व्यक्ति पुत्र-कलत्र, बंधु-बांधव संग्रह कर आसक्त होता है। सोचता है इनके सहारे मेरा अनिष्ट नही होगा। संकट में भाई शरण देगा, पुत्र रक्षा करेगा। लेकिन जब दिन पलटते हैं तो अपने को असहाय पाता है। न संग्रहीत धन काम आता है, न पुत्र-कलत्र, बंधु-बांधव रक्षा कर पाते हैं। अपने कर्म-संस्कारों का दुःखद प्रतिफल स्वयं ही भुगतना पड़ता है। किंचित् भी सुखी नही रह पाता।

एक व्यक्ति गृह-त्याग कर अथवा गृहवासी रहते हुए भी धर्मपूर्वक

परिवार पोषण करता हुआ शील का पालन करता है, समाधि का अभ्यास करता है, प्रज्ञा में स्थित होता है। विपश्यना साधना द्वारा लोभ, द्वेष, मोह का संवर करता है और इस प्रकार धर्म संग्रह करता है, धर्म की शरण जाता है। उसके भी कभी दिन पलटते हैं, पूर्वकाल के किन्ही दूषित कर्म-संस्कारों के दुःखद प्रतिफल सामने आते हैं। न धन काम आता है, न भाई साथ देता है, न पुत्र रक्षा करता है। परंतु संग्रह किया हुआ धर्म सहायक बनता है। धारण किया हुआ धर्म धारण करता है। पालन किया हुआ धर्म पालन करता है। **धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं** – आचरण द्वारा रक्षा किया हुआ धर्म रक्षा करता है। धर्म धैर्य के साथ संकट का सामना करता है। बुरे दिन देर तक टिक नही पाते। खोया हुआ धन लौट आता है। आंखें बदले हुए भाई-बंधु पुनः मिल जाते हैं। मुँह फेरे हुए पुत्र-कलत्र पुनः आज्ञाकारी हो जाते हैं। सारा वातावरण अनुकूल हो जाता है। ऐसा व्यक्ति सही माने में सुखी-सुरक्षित रहता है... इह लोक में भी, परलोक में भी और सारे लोकों के परे भी।

साधकों, आओ लज्जावान बनें। दुराचरण करने में लज्जा आए, जिससे कि दुराचरण से विरत रह जायँ। सदाचरण में पुष्ट हों और इस प्रकार धर्म धारण करने के अभ्यास द्वारा शनैः-शनैः सही माने में सुखी और सुरक्षित होने के पथ पर बढ़ते चलें! ●

धर्मचक्र कथा

१ / सम्यक् साधना

कपिलवस्तु की शाक्य देशीय पट्टमहिषी महामाया को एक रात एक सुखद स्वप्न आया। उसने देखा कि एक अत्यंत भव्य शांत श्वेत हाथी अपनी सूंड़ में एक प्रफुल्लित श्वेत कमल लिए मधुर नाद करता हुआ शैया की तीन बार प्रदक्षिणा कर उसकी कोख में प्रवेश कर गया है। प्रातः महाराज शुद्धोधन ने यह बात सुनी तो स्वप्न का अर्थ जानने के लिए चौंसठ लक्षणशास्त्रीय वेदज्ञ ब्राह्मणों को आमंत्रित किया। उनमें से आठ ब्राह्मणों ने अत्यंत निश्चयपूर्वक कहा कि महारानी ने गर्भ धारण किया है और उसके गर्भ में किसी महापुरुष ने प्रवेश किया है। इन आठों में एक था कौंडण्य जो कि इनमें सब से कम उम्र का युवा ब्राह्मण था। पर बड़ा मेधावी था। स्वप्नलक्षण और शरीरलक्षण विद्या में पारंगत था।

दस महीने पर जब महारानी ने पुत्र जन्मा तो महाराज शुद्धोधन ने फिर एक सौ आठ वेदज्ञ ब्राह्मणों को आमंत्रित किया। बालक का भविष्य जानने की तीव्र उत्कंठा थी उनके मन में। उन्ही आठ ब्राह्मणों ने अपनी विद्या के बल पर भविष्यवाणी की। उनमें से सात ने दो उँगलियां उठाईं और कहा कि यह बालक बड़ा होकर यदि गृहस्थ रहा तो समग्र देश का चक्रवर्ती सम्राट होगा और गृहत्यागी हुआ तो सम्यक् संबुद्ध होगा। युवा कौंडण्य ने बालक में महापुरुष की शरीर-लक्षण संपदा देखी। उसने केवल एक उँगली उठाई और दृढ़तापूर्वक कहा कि इस बालक का केवल एक ही भविष्य है। यह गृहत्यागी होगा और सम्यक संबुद्ध बनेगा। दूसरा कोई विकल्प नही।

कौंडण्य अब प्रौढ़ हो चला। अपनी भविष्यवाणी सिद्ध होने की उसने उनतीस वर्ष तक उत्कट प्रतीक्षा की। जब उसने सुना कि राजकुमार सिद्धार्थ गौतम राजमहलों के वैभव-विलास त्यागकर संन्यासी हो गया है तो उसके मन में तीव्र धर्मसंवेग जागा। राजकुमार बत्तीस शरीर-लक्षणों का धनी है। समय पाकर वह अवश्य ही मुक्ति का मार्ग खोज निकालेगा और विवृत

कपाट सम्यक् संबुद्ध बनेगा। क्यों न मैं भी अपना जीवन सार्थक कर लूं। इस महापुरुष के साथ तपूंगा तो जिस विद्या से वह जीवनमुक्त होगा उसी को अपनाकर मैं भी अपना जीवन सफल कर लूंगा।

कौंडण्य ने गृह त्यागने का निर्णय किया और उस समय उसे अपने सात अन्य ब्राह्मण साथी याद आये, जिन्होंने गर्भ-प्रवेश और जन्म पर उसके समान भविष्यवाणी की थी। वे सातों उस समय भी बहुत वृद्ध थे। इन उनतीस वर्षों में आयु पकने पर एक-एक करके सभी काल-कवलित हो गए। वह उनके पुत्रों से मिला। सातों के एक-एक पुत्र थे। प्रत्येक को उनके पिता द्वारा की गई भविष्यवाणी की याद दिलाई, जिसके अनुसार गृहत्यागने पर राजकुमार सम्यक् संबुद्ध होगा ही। क्यों न इसका लाभ उठाया जाय ? उन सातों में से केवल चार ही कौंडण्य का साथ देने के लिए तैयार हुए। तीन ने कोई उत्साह नही दिखाया। कौंडण्य इन चारों के साथ तपस्वी राजकुमार की खोज में निकल पड़ा। कुछ दिनों के बाद ही उरुवेला क्षेत्र में बोधिसत्व सिद्धार्थ से इनकी भेंट हो गई। कौंडण्य और उसके साथी वप्प, भद्दिय, महानाम और अश्वजित, पांचों ब्राह्मण-कुमार बुद्ध-अंकुर का साथ देने लगे। बड़े मनोयोग से उसकी सेवा करने लगे।

इसके पूर्व सिद्धार्थ तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध ध्यानयोगी आलारकलाम तथा उद्दकरामपुत्र के यहां एक-एक सप्ताह रुक कर आठों ध्यान समापत्तियां सीख चुका था। ये गहरी समाधियां उस समय के भारत के साधना-क्षेत्र की उच्चतम उपलब्धियां थी। इन्हें प्राप्त करके भी बोधिसत्व ने देखा कि वह पूर्ण मुक्त नही हो सका है। अभी अंतर्मन की गहराइयों में अनेक जन्मों की संचित जड़ें संग्रहीत हैं। भवंग चित्त में विकारों की ये सुषुप्त जड़ें, ये अनुशय क्लेश, अनुकूल समय और पर्यावरण पाकर फिर अंकुरित हो सकती हैं। इस आलय चित्त के निरालय बने बिना, भव-मुक्ति नही। चित्त अपनी तल स्पर्शी-गहराइयों तक विकार-विमुक्त हुए बिना भवनेती नही कटती। इन आठों ध्यानों की साधना से, मरने पर भवाग्र अरूप

ब्रह्मलोक में जन्म होगा, जहां असंख्य कल्पों का सुदीर्घ आयुष्य प्राप्त होगा; पर अंततः उसकी भी अवधि पूरी होने पर किसी न किसी सुषुप्त विकार की उदीरणा होने पर, किसी न किसी लोक में फिर जन्म लेना होगा और यह भवचक्र चलता ही रहेगा। सुषुप्त चित्त में विकारों के रहते जन्म-मरण के चक्र से नितांत छुटकारा नहीं हो सकता। अतः कोई और ऐसा रास्ता अपनाना चाहिए, जिससे कि चित्त नितांत विमुक्त हो सके।

उन दिनों की एक बहुप्रचलित मान्यता थी कि देह दंडन से विकार-विमुक्ति होती है। बोधिसत्व ने इसे भी आजमाकर देखना चाहा। वह काय-क्लेश की घोर दुष्कर तपश्चर्या में लग गया। कौंडण्य आदि पांच साथियों ने लगभग छः वर्षों तक उसका साथ दिया; उसकी सेवा परिचर्या की। बोधिसत्व का काय-कष्टीय तप पराकाष्ठा तक पहुँच चुका। उसने अपने शरीर को तीक्ष्ण कांटो की शय्या पर सुलाया। शीतकाल में अत्यंत शीत और उष्णकाल में अत्यंत उष्ण पर्यावरण में ठिठुराया और झुलसाया। ऐसे कृत्रिम कुंभक किये कि दृढ़तापूर्वक दीर्घकाल तक दम घुटा-घुटाकर, शरीर में शूल चुभनेवाली असह्य उदर-पीड़ा और शिरोपीड़ाएं पैदा की। उपवास किए तो ऐसे कि छः वर्षों में अपने सुवर्ण वर्ण सुंदर शरीर को जर्जरित कर लिया। सारा शरीर हड्डियों का कंकाल मात्र बन गया; पर आध्यात्म लाभ कुछ नही हुआ। अनुशय चित्त-विकार कायम ही रहे। उनकी निर्जरा न हुई। उनका क्षय न हुआ। सारा श्रम निरर्थक साबित हुआ।

अब क्या करे? कोई अन्य रास्ता ढूंढ़ना चाहिए। बोधिसत्व को बचपन की एक घटना याद आयी। उस दिन खेत जोतने और बोने का मंगल महोत्सव था। प्रजा के साथ राजा भी खेत जुताई करता था। वही आंरभ करता था, इस महोत्सव को। बड़े धूम धाम के साथ, सजधज कर लोग इस आयोजन में सम्मिलित होते थे। राजा शुद्धोधन ने हल पकड़ा और जोतने का मंगल कार्य आरंभ किया। पुरुष वर्ग उसके साथ जुड़ गया। महिलाएं दर्शकों की तरह चारों ओर एकत्र हो गईं। शिशु राजकुमार की सेवा

पर अनेक कुशल सेविकाएं नियुक्त थी। वे भी इस मंगल उत्सव में राजकुमार को लेकर खेत के समीप पहुँची। शिशु राजकुमार को एक घने जम्बु वृक्ष के तले मुलायम गद्दे पर सुलाकर उसकी देखभाल करने लगी। परंतु उत्सव के आकर्षण ने उन्हें सेवाच्युत किया। वे सभी खेत के किनारे राजा द्वारा हल जोतने का उत्सव मंगल देखने में तल्लीन हो गयी। इधर शिशु राजकुमार जागा। किसी को समीप न देखकर पालथी मारकर बैठ गया और शीघ्र ही ध्यानावस्थित हो गया। अब उसे याद आया कि जिस प्रकार उस समय वह केवल सांस को ही देखने लगा था। सहज स्वाभाविक सांस जैसे भी आ रहा था, जैसे भी जा रहा था, बस उसकी जानकारी पर मन लग गया था। सांस की कोई कसरत नही थी। सांस पर कोई नियंत्रण नहीं था। हठपूर्वक सांस रोकने का जरा भी आग्रह नहीं था। अनायास आते-जाते सांस को तटस्थ भाव से देखते-देखते किस प्रकार स्वतः कुंभक लग गया था। जरा भी घुटन नहीं थी। वह घंटों इसी प्रकार ध्यानावस्थित बैठा रहा।

उस ओर खेत पर महोत्सव का कार्यक्रम निर्बाध गति से चलता रहा। लोग उत्सव मंगल मनाते रहे। दासियां खेत की मेंड़ पर बैठी आमोद-प्रमोद में लीन रही। मध्यान्ह का सूरज ढल कर दूर पश्चिम की ओर लुढ़कने लगा, तब उन्हें होश आया। राजकुमार पेड़ के नीचे अकेला सो रहा है। ढलते हुए सूरज की तिरछी धूप उसे अवश्य कष्ट पहुँचाती होगी। वह दौड़ी-दौड़ी जंबुवृक्ष के पास आयी। देखा, तो आश्चर्यचकित रह गईं। शिशु राजकुमार पालथी मारे समाधिस्थ बैठा है और स्वयं प्रकृति उसकी देखभाल कर रही है। सूरज ढलने के कारण सभी पेड़ों की छाया पूरब की ओर लंबी फैल गयी थी, परंतु महान आश्चर्य। इस अकेले जंबुवृक्ष की छाया वैसे ही गोलाकर छायी हुई थी। शिशु योगी पर चँदुवा सा तना हुआ है। कही धूप का नामोनिशान नही। पिता शुद्धोधन ने जब यह चमत्कार देखा तो दूसरी बार श्रद्धा विभोर हो, अपने पुत्र को नमस्कार किया।

चमत्कार की बात, चमत्कार की बात। बोधिसत्व के लिये इस समय

इसका कोई महत्व नही था। महत्व था साधना-विधि का। इस साधना-विधि को भी अपनाकर देखना चाहिए जो कि उसे अनायास ही शैशव अवस्था में सध गई थी। मैं फिर एक बार सहज स्वाभाविक सांस के आवगमन को निष्प्रयास साक्षीभाव से देखने का काम शुरू करूं; कौन जाने इसी से आगे का रास्ता खुल जाय और मुक्ति का मार्ग हाथ लग जाय।

परंतु उसने सोचा इस सहज मार्ग के लिए अतियों की साधना छोड़नी होगी। मृतप्राय कृशकाय अवस्था में ऐसी सम्यक् साधना नहीं हुआ करती। शरीर यथाआवश्यक स्वस्थ हो, सबल हो तो ही यह साधना सिद्ध होगी। युक्ताहार-विहार से काम शुरू करना होगा। उपवास की अतियों भरी साधना छोड़कर यथोचित आहार ग्रहण करना होगा। अतः भिक्षाटन द्वारा प्राप्त आहार ग्रहण किया और नया प्रयोग आरंभ किया।

यह देखकर कौंडण्य सहित पांचों साथी विचलित हो उठे। उनकी दृष्टि में राजकुमार योग-च्युत हुआ; तप-भ्रष्ट हुआ। दुष्कर तपश्चर्या सहन न कर सका, अतः कष्ट त्याग कर आहार ग्रहण करने लगा। ऐसा व्यक्ति भला कैसे सम्यक् संबुद्ध बन सकता है? कौंडण्य को अपने लक्षणशास्त्र के ज्ञान पर बहुत आस्था थी और इस व्यक्ति में महापुरुष होने के बत्तीस शरीर-लक्षण विद्यमान हैं, सम्यक् संबुद्ध होने की पूरी संभावना है। इसी विश्वास के सहारे जीवन के उनतीस वर्ष प्रतीक्षा में गुजारे और पिछले छह वर्ष इसके सान्निध्य में; इसकी सेवा में गुजारे। पर अब तो आस्था की धरती हिल गई। यह व्यक्ति मुक्त अवस्था प्राप्त नही कर सकता। जब कौंडण्य का विश्वास डगमगा गया और उसी का मानस विचिकित्सा से, शंका-संदेह से भर उठा तो बाकी चार साथियों का तो कहना ही क्या। वे तो अपने-अपने पिता की भविष्यवाणी के बल पर ही साथ हुए थे। उनकी आस्था सहज ही डगमगा उठी।

पांचों ब्राह्मण-कुमारों को अपनी-अपनी परंपराजन्य दार्शनिक

मान्यता की आसक्ति तो थी ही; साथ ही साथ शीलव्रत परामर्श यानें अतियों की ओर ले जानेवाले शील तथा अतियों की ओर ले जानेवाले कठोर व्रतों के प्रति भी गहरी आसक्ति थी। अब मन में घोर विचिकित्सा भी पैदा हो गई। इस युवा योगी के प्रति, इसकी सफलता के प्रति, इसके द्वारा चुने गए नये मार्ग के प्रति शंका संदेह पैदा हो गए और परिणाम स्वरूप पांचों के पांचों बोधिसत्व को अकेला छोड़कर वाराणसी की ओर चल दिये। यह व्यक्ति मुक्ति पथ का पथिक नही। हम कोई अन्य रास्ता देखेंगे।

इधर बोधिसत्व निष्ठापूर्वक सम्यक् साधना में लग गया। सम्यक् आहार से शरीर सबल हुआ, सम्यक् साधना के अनुकूल हुआ तो वैशाख पूर्णिमा की रात बोधिवृक्ष के तले दृढ़तापूर्वक पालथी मारकर बैठ गया और आनापान की साधना शुरू कर दी। शुद्ध सांस के प्रति जागरूक रहते-रहते चित्त एकाग्र होने लगा! रात्रि के प्रथम प्रहर में ही असंख्य पूर्वजन्मों की स्मृतियां जाग उठी और देखा कि न जाने कितनी बार विपश्यना साधना की है, परंतु सम्यक् संबुद्ध बनने का संकल्प होने के कारण, सारी पारमिताओं की परिपूर्णता न होने के कारण, इन्द्रियातीत अवस्था का साक्षात्कार न हो सका। अब समय पका है। सारी पारमिताएं पूर्णता को प्राप्त हो चुकी हैं। अंतर में जागी हुई पुरानी विपश्यना साधना के सहारे काम करते-करते रात्रि के अंतिम प्रहर में सारे अनुशय क्लेशों का, सुषुप्त-आश्रवों का क्षय हुआ। आलय-चित्त निरालय हुआ, विकार-विमुक्त हुआ। सम्यक् संबोधि जागी। आश्रव-विहीन वीतराग योगी सम्यक् संबुद्ध बन गया। भवनेत्री टूटी। यह अंतिम भव है। अब और जन्म नही होगा।

संबोधि पाने के बाद सात सप्ताह बोधिवृक्ष के तले अथवा उसके आसपास विमुक्ति के परम सुख में बिताए। फिर जब सरसरी तौरपर संसार का चिंतन किया तो एक बार यूं लगा कि नाना प्रकार के मतमतान्तरों, दार्शनिक मान्यताओं, थोथे कर्मकांडों और सांप्रदायिक जंजालों की आसक्तियों में डूबे हुए लोग, इस सूक्ष्म गंभीर धर्म को समझ ही नही पाएंगे।

ग्रहण कैसे करेंगे ? परंतु फिर देखा कुछ लोग पके हुए हैं, उनके मानस पर बहुत क्षीण आवरण हैं, उनकी पुण्य पारमिताएं प्रबल हैं; ऐसे लोग धर्म का लाभ लेंगे। ऐसे लोगों को धर्म-रत्न प्रदान करना ही चाहिए। जो धर्मचक्र मेरे भीतर चला और जिसने मेरा भवचक्र ध्वंस किया वही धर्मचक्र अन्य लोगों के भीतर भी चलना चाहिए। सभी योग्य लोगों के भीतर चलना चाहिए। उन सब के भवचक्र विध्वंस होने चाहिए। बहुजन का हित-सुख सधना चाहिए।

इन लोकमंगल के भावों से भगवान सम्यक् संबुद्ध का मन आप्लावित हो उठा। धर्मचक्र प्रवर्तन का समय समीप आया। ●

२ / धर्मचक्र-प्रवर्तन

धर्मचक्र प्रवर्तन किससे आरंभ करे? पहले किसे धर्म बांटे? कौन योग्य पात्र है?

तथागत के अंतर में करुणा के साथ कृतज्ञता का भाव जागा। गृह त्यागने के बाद आचार्य आलार कलाम और उद्दक रामपुत्र से क्रमशः सातवां एवं आठवां ध्यान सीखा था। वे दोनों ही योग्य हैं। इस गंभीर धर्म को खूब समझेंगे और इस कल्याणकारी विधि को अपनाकर अपना कल्याण साध लेंगे। फिर बोधिनेत्र से देखा तो पता चला कि पहले की सात दिवस पूर्व और दूसरे की एक दिवस पूर्व शरीर-च्युति हो गयी है। दोनों सातवी और आठवी ध्यान समापत्तियों के साधक होने के कारण अब अरूप ब्रह्मलोक में जन्में हैं। अरूप ब्रह्मलोक में उन्हें विपश्यना कैसे सिखायी जाय? सिखानेवाले में क्षमता की कमी नही। भवाग्र ब्रह्मलोक में सम्यक् संबुद्ध की गति भी अशक्य नही। वहां जाकर उनसे संपर्क किया जा सकता है। परंतु अरूप ब्रह्मलोक के प्राणी विपश्यना कर नही सकते। उनका जीवन बिना रूप के याने बिना शरीर के होता है। केवल नाम याने केवल चित्त। और विपश्यना की साधना अपने ही नाम और रूप दोनों के मिले जुले प्रपंच-दर्शन की साधना है ताकि, इन दोनों से और इनसे संबंधित इंद्रियों के प्रपंचों से छुटकारा पाया जा सके। अरूप ब्रह्मलोक के प्राणी विपश्यना के अधिकारी नही। अतः किसी और से शुरू करना होगा।

फिर करुणा के साथ कृतज्ञता का भाव जागा। स्मरण हो आए कौंडिण्य, भद्दिय, कप्प, महानाम और अश्वजित। वे पांच ब्राह्मण जो लगभग छह वर्ष तक सेवा में रत रहे। दुष्कर तपश्चर्या में साथ रहे। भले नासमझी के कारण रुष्ट होकर छोड़ गए, पर हैं योग्य पात्र। अवश्य ही सद्धर्म को समझ कर और उसे धारण कर मुक्त हो सकेंगें। उनसे ही आरंभ

करना चाहिए। बोधिनेत्रों से देखा तो पता चला कि वे इस समय वाराणसी के समीप ऋषिपत्तन मृगदाय प्रदेश में टिके हुए हैं।

प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन करने के लिए भगवान उरुवेला (बोधगया) से ऋषिपत्तन मृगदाय (आधुनिक सारनाथ) की ओर चल दिए। पांचों संन्यासियों ने भगवान को दूर से आते देखा। उनका मानस पूर्वाग्रहों से ग्रसित था। देखो, यह भ्रष्ट योगी चला आ रहा है। उपवास त्यागकर भरपेट खाने पीने लगा। दुर्बल चित्त व्यक्ति है। अधिक कष्ट न सह सकने के कारण तप त्याग बैठा। सुख आराम तथा लाभ सत्कार की ओर झुक गया। त्याग तपस्या करते हुए जो सम्यक् संबुद्ध न बन सका, वह तप-च्युत होकर कैसे बनेगा भला ? यह तो ऐसे ही असंभव है जैसे कि हवा में गांठें बांधना, जैसे कि हवा को जाल में बांधना।

यह हमारी ही ओर बढ़ा आ रहा है। भले आए। पर हम इसका कोई आदर सत्कार नहीं करेंगे। आवभगत नही करेंगे। न उठकर नमस्कार करेंगे, न आगे बढ़कर इसका पात्र चीवर लेंगे। इक्ष्वाकु क्षत्रिय वंश में जन्मा है। इसलिए आसन का अधिकारी है। अतः हम इसके लिए एक आसन अवश्य देंगे। चाहे तो बैठे। इससे अधिक और कुछ नही।

भगवान समीप आते गए। न केवल मुखमंडल पर प्रत्युत उनके सारे शरीर पर प्रभामंडल प्रकीर्ण हो रहा था। पांचों उनसे आकर्षित हुए बिना न रह सके। उनके अणु-अणु से मैत्री की तरंगे प्रवाहित हो रही थीं। पांचों उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। वे यकायक अपने संकल्प को भूल बैठे। भगवान के समीप आते ही सबने उठकर उनका अभिवादन किया। एक ने आगे बढ़कर उनके हाथ से पात्र-चीवर ले लिया। एक ने आदरपूर्वक आसन बिछाया। एक ने पांव धोने के लिए पानी का पात्र पास रखा। एक ने पैर रखने का पीढ़ा पास रखा और एक ने पांव रगड़ने की लकड़ी पास रखी। भगवान बिछे हुए आसन पर बैठे। अपने पांव धोए। बात चीत शुरू हुई।

पांचों के मन में अभी संदेह का कुहरा छाया हुआ था। वे भगवान को आयुष्मान कहकर संबोधन कर रहे थे। जैसे आज भी अपने से छोटे को चिरंजीव कहा जाता है और बड़े को पूज्य। वैसे ही उन दिनों भी अपने से छोटे को आयुष्मान कहते थे अथवा उसका नाम लेकर संबोधन करते थे। उनकी नजरों में तथागत उनसे उम्र में ही नहीं, बल्कि ज्ञान की उपलब्धि में भी छोटे थे। क्योंकि तपच्युत जो हो गए थे।

भगवान ने उनकी भूल सुधारते हुए समझाया कि तथागत को नाम लेकर अथवा आयुष्मान कहकर न पुकारना चाहिए। वे अब अमृतदर्शी सम्यक् संबुद्ध हो गए हैं। परंतु उन्हें विश्वास नही हो रहा था। व्रत उपवासों से ही मुक्ति मिलने की मान्यता के प्रति उनका अभिनिवेश इतना गहरा था कि वे भगवान की बात सुनने को तैयार नही थे। आखिर भगवान ने कहा कि मैंने सम्यक् संबुद्ध होने का दावा इसके पहले कभी नही किया। अब हुआ हूं तो ही कह रहा हूं। यह सुनकर कौंडिण्य ने सोचा शायद यह व्यक्ति झूठ नही बोल रहा। राजमहलों में राजकुमार का जीवन जीते हुए भी सत्यवादिता के बारे में इसकी बड़ी प्रसिद्धि थी। हमारे साथ छह वर्ष रहते हुए भी इसने कभी मिथ्या वचन नही कहा। कौन जाने सम्यक् संबुद्ध हो ही गया हो। और फिर भगवान के दैदीप्यमान चेहरे की ओर देखा। उस पर छायी हुई करुणा और मैत्री की आभा की ओर देखा तो और आश्वस्त हुआ। फिर महापुरुषों के बत्तीस शरीर-लक्षणों की ओर ध्यान गया। शरीर-लक्षण शास्त्रों पर किए अपने गहरे अध्ययन पर ध्यान गया तो श्रद्धा जागी, विश्वास बढ़ा। भगवान का उपदेश सुनने के लिए मानस तैयार हुआ।

बाकी चारों के मन में अभी भी गहरा शक था, संदेह था, विचिकित्सा थी। अतः मानस धर्म ग्रहण करने योग्य नही था। इसीलिए भगवान बुद्ध का उपदेश सुना तो पांचों ने, परंतु कौंडिण्य को जो तत्काल लाभ हुआ, वह अन्य चारों को नही। कौंडिण्य धर्मदेशना सुनते-सुनते ही अपने भीतर उदय-व्यय की सच्चाई अनुभव करने लगा और अपने पूर्व-जन्मों में संचित

पुण्य-पारमिताओं के कारण अनुभूति के स्तर पर इस सच्चाई को जान गया कि जो कुछ समुदय धर्मा है, वह निरुद्ध धर्मा भी है। ऐंद्रिय जगत की सारी अनुभूतियां समुदय धर्मा हैं। उसने देखा कारणों से उनका समुदय होता है। उसने देखा विपश्यना करते-करते उन सबका निरुद्ध हो गया है। नाम और रूप पर आधारित छहों इंद्रियां और छहों इंद्रियों के विषय साक्षीभाव से देखते देखते निरुद्ध हो गए। इंद्रियातीत परम सत्य का पहली बार साक्षात्कार हुआ। कौंडिण्य धन्य हुआ। उसका गोत्र बदला। वह अनार्य से आर्य-गोत्र में प्रतिष्ठित हुआ, स्रोतापन्न हुआ। बाकी चारो स्रोतापन्न नही हो सके, परंतु उनकी विचिकित्सा दूर हुई। सद्धर्म के प्रति, कुदरत की सच्चाइयों के प्रति उनमें श्रद्धा जागी, आस्था जागी और वे भी अपनी-अपनी संग्रहीत पुरानी पारमिताओं के आधार पर मुक्तिपथ पर आगे बढ़ सकने योग्य हुए। दूसरे दिन भगवान ने विपश्यना का मार्गदर्शन देकर वप्प स्थविर को स्रोतापन्न अवस्था तक पहुँचने में सहायता की, तीसरे दिन भद्दिय को, चौथे दिन महानाम को और पांचवे दिन अश्वजित को। इस प्रकार जब पांचों स्रोतापन्न हुए तो दूसरे धर्मोपदेश ''अनात्म लक्षण सूत्र'' की देशना की, जिसे सुनकर पांचों की विपश्यना गहराइयों से जागी और पांचों के पांचों सगदागामी और अनागामी अवस्थाओं में से गुजरते हुए नितांत विमुक्त हुए। पंचवर्गीय भिक्षु अर्हंत हुए।

क्या था सम्यक् संबुद्ध का वह प्रथम उपदेश जिसने लोकचक्र में पिसते हुए लोगों में धर्मचक्र जगाने का शुभारंभ किया और इसीलिए धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र कहलाया ? वैसे तो यह अपने पांच साथी संन्यासियों को दिया गया था, परंतु वस्तुतः समस्त मानव जाति को दुःखविमुक्ति हेतु भगवान बुद्ध का यह प्रथम मार्ग-निर्देशन था, जिसके व्याख्यान-व्याकरण में, विवरण-विश्लेषण में ४५ वर्षों तक उनके हजारों उपदेश हुए। यह प्रथम उपदेश ही उनकी समस्त शिक्षा का आधार बना।

आओ, समझें क्या था यह उपदेश ? कैसा था यह धर्मचक्र प्रवर्तन ?

पांचों श्रोताओं के मन में कमोवेश यह संदेह था कि कठोर तप का मार्ग त्यागकर सिद्धार्थ गौतम ने उचित नही किया। अतः उपदेश आरंभ करते हुए उनकी तथा उन जैसे अनेकों की शंकाओं का निवारण करते हुए सही मार्ग प्रशस्त किया।

कोई व्यक्ति प्रव्रजित होता है तो सुखद परंतु काम-भोग और विषय वासनाओं में उलझाए रखनेवाले मार्ग का परित्याग करता है। लेकिन प्रतिक्रिया स्वरूप देह-दंडन के ऐसे दुखद मार्ग पर चलने लगता है जो कि आध्यात्म की प्रगति में बाधक बन जाता है। दोनों ही अतियों के मार्ग हैं। दोनों से बचना चाहिए।

एक को कहा — **कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो**

याने काम-सुखों की गंदगी के चिपकाव में चिपके रहना यह एक चरम सीमा वाला मार्ग है जो कि —

हीनो — याने हीन है, घटिया है, हल्का है।

गम्मो — याने गँवारू है। यद्यपि सुख भोग की सारी सामग्रियां हर युग में नगर वालों को ही सुलभ होती है। फिर भी यह मार्ग नागर नहीं, गँवारू है याने समझदारों का नही, गँवारों का है।

पोत्थुज्जनिको — याने ऐसे लोगों का मार्ग है जो शुद्ध धर्म के मार्ग से पृथक हो गए हैं, इसीलिए पुथुजन याने पृथकजन कहलाते हैं।

अनरियो — याने अनार्य लोगों का मार्ग है। ऐसा मार्ग है, जिस पर चलकर कोई व्यक्ति आर्य बन ही नही सकता। अनार्य ही बना रहता है। याने मुक्ति के प्रथम सोपान स्रोतापन्न अवस्था तक भी नही पहुँच पाता।

अनत्थसंहितो — अनर्थों से युक्त है। ऐसे मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति कभी अपना भला नही कर सकता। अर्थ सिद्ध नही कर सकता। अनर्थ ही संग्रह करता है।

इसी प्रकार अतियों वाले दूसरे मार्ग को कहा गया :

अत्तकिलमथानुयोगो — याने आत्मक्लेश का मार्ग। अपने आप को एक न एक शारीरिक क्लेश में लगाए रखने का मार्ग।

यह दूसरी चरमसीमावाला मार्ग है जो कि :

दुक्खो — याने दुखमय है। दुःखों से छुटकारा देनेवाला नही। एक के बाद एक नए दुःखों का उत्पाद करते रहनेवाला है।

अनरियो — याने यह भी पहले की तरह ऐसा मार्ग है, जिस पर चलनेवाला कभी आर्य नही बन सकेगा, सदा अनार्य ही बना रहेगा।

अनत्थसंहितो — याने यह भी पहले की भांति अनर्थकारी है।

अतियों के इन दोनों अनर्थकारी मार्गों को त्यागकर तथागत ने ऐसी मज्झिमा पटिपदा (मध्यमा प्रतिपदा) अपनायी जो कि, **चक्खुकरणी** है याने भासमान सत्य का भेदन कर परमार्थ सत्य का साक्षात्कार करा देनेवाले प्रज्ञाचक्षु प्राप्त करने के लिए है।

ञाणकरणी — याने प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेने के लिए है।

उपसमाय — याने क्लेश-कषायों का उपशमन कर लेने के लिए है, उनका क्षय कर लेने के लिए है।

अभिञ्ञाय — याने समस्त आश्रवों के क्षय की स्थिति को स्वयं अनुभव करा देनेवाले अभिज्ञान को प्राप्त करने के लिए है।

सम्बोधाय — याने स्वयं बोधि प्राप्त करने के लिए है।

निब्बानाय — याने सउपाधिशेष निर्वाण का दर्शन करते हुए,

निरुपाधिशेष निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिए है, जिससे कि भवचक्र पूरी तरह नष्ट हो जाता है। पुनर्भव होता ही नही।

कैसी है यह मध्यमा प्रतिपदा ? कैसा है यह मध्यम मार्ग ?

इसे आर्य आष्टांगिक मार्ग कहते है याने आठ अंगवाला ऐसा मार्ग जिस पर चलनेवाला हर व्यक्ति देर सबेर आर्य बन ही जाता है; हर बंदी मुक्त हो ही जाता है, हर दुखियारा दुखमुक्त हो ही जाता है।

ये हैं इसके आठ अंग :

सम्यक् दर्शन — याने सभी भ्रम-भ्रांतियों से छुटकारा पाकर भिक्षु शरीर और चित्त के यथार्थ स्वभाव को स्वानुभूतियों के स्तर पर सम्यक् रूप से; साक्षीभाव से देखते हुए, उनके परे इंद्रियातीत, भवातीत, लोकातीत परम सत्य का साक्षात्कार कर सके।

इसके लिए आवश्यक है —

सम्यक् संकल्प — याने संकल्प-विकल्प, चिंतन-मनन शुद्ध हो। मानस राग-द्वेष और हिंसा के भावों से दूर हटे, इसके लिए साधक दृढ़ निश्चय हो।

सम्यक् वाणी — झूठ, कटुता, परनिंदा और निरर्थकता से साधक की वाणी विरत रहे, सम्यक् बनें।

सम्यक् कर्मांत — हत्या, चोरी, मैथुन जैसे शारीरिक दुष्कर्मों से साधक विरत रहे।

सम्यक् आजीविका — लाभ सत्कार पाने के लिए भिक्षु गृहस्थों की सेवा चापलूसी अथवा उन्हें चमत्कार दिखाने आदि के गलत कामों से विरत रहे। गृहस्थ अन्य प्राणियों को हानि पहुँचाने वाली आजीविकाओं से विरत रहे।

सम्यक् व्यायाम — दुर्गुणों को निकालने और न आने देने तथा सद्गुणों को लाने और बढ़ाने में साधक सम्यक् प्रयत्नशील रहे।

सम्यक् स्मृति — अपने नाम और रूप (चित्त और शरीर) के प्रपंच के प्रति साधक सतत सजग रहे।

सम्यक् समाधि — यों सजग रहते हुए साधक सम्यक् रूप से समाधिस्थ हो।

यह मध्यमा प्रतिपदा सम्यक् है क्योंकि संयमित है, संतुलित है। अतियों की ओर नहीं झुकती, न काम भोग के सुखों में लोट-पलोट लगाने की ओर झुकती है और न देह-दंडन के निरर्थक दुखों से पीड़ित होने की ओर।

परम कल्याणकारिणी है यह, दोनों, चरम अंतों को त्यागनेवाली, मध्यमा प्रतिपदा। ●

३ / मूल उपदेश

अतियों की अंतिम पराकाष्ठा के दोनों छोर छोड़, मध्यमा प्रतिपदा का महत्त्व बताकर भगवान बुद्ध ने धर्मचक्र का मूल उपदेश प्रकाशित किया।

१. दुःख है।
२. दुःख-समुदय तृष्णा से होता है।
३. दुःख का निवारण है।
४. दुःख का निवारण मध्यमा प्रतिपदा से होता है।

जीवन जगत की ठोस सच्चाइयां। न कोई कल्पना प्रसूत दार्शनिक मान्यता को स्वीकारने का आग्रह, न कोई निष्प्राण कर्मकांड का बंधन, न किसी अंधभक्ति का भावावेशीय घटाटोप, न किसी जातीयता व सांप्रदायिकता की उलझन में जकड़े जाने का जंजाल। सीधी, सच्ची, वैज्ञानिक बात; सार्वजनीन, सर्वहितैषी बात। काम की, सार की बात। रोगी के लिए इससे बढ़कर काम की बात और क्या होगी कि वह जाने कि यह रोग है और इस रोग का यह मूल कारण है। यह रोग का निवारण है और रोग के निवारण का यह सही उपाय है। इसी प्रकार भवरोगी के लिए भी यही चार काम की बाते हैं, कल्याण की बाते हैं।

किसी भी भवरोगी दुखियारे के लिए इन चार सच्चाइयों को हृदय से स्वीकार कर लेना अच्छा है। पर केवल स्वीकार करके ही रह जाय तो फिर किसी मान्यता मात्र में अटक कर रह जाएगा। अतः चिंतन-प्रज्ञा का अगला कदम उठाए। चिंतन करे कि इस अवस्था में मुझे क्या करना चाहिए? मेरे लिए क्या कृत्य हैं? क्या करणीय है? 'योनिसोमनसिकार' याने सही ढंग से चिंतन करेगा तो ये चार बातें प्रकाश में आएंगी :

१. जो दुःख सत्य है इसका परिज्ञान हो याने इसके बारे में संपूर्ण जानकारी हो। अंतिम परिधि पर्यंत इसकी परियवेषणा हो याने इसका पूरा

पूरा अनुसंधान हो। इससे संबंध रखनेवाली कोई भी स्थिति अंधेरे में न रह जाय।

२. जो समुदय सत्य है याने तृष्णा है, उसको जड़ से उखाड़ लेना चाहिए।

३. जो दुःख निवारण की याने दुःख निरोध सत्य की निर्वाणिक अवस्था है, उसका स्वयं साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

४. दुःख निवारण के लिए यह जो आठ अंगवाला मार्ग सत्य है, जो मध्यमा प्रतिपदा है, उस पर अंतिम लक्ष्य तक चल लेना चाहिए।

चिंतन मनन के स्तर पर यह चारों कृत्य करणीय समझ में आ जायँ तो भी वह लाभ नही हुआ, जो कि किसी भवरोगी को इन चारों सच्चाइयों से प्राप्त हो सकता है। वह लाभ तब होता है, जब कि कोई व्यक्ति इन चारों कृत्य; करणीय को कृत बना ले, याने सचमुच कर ले। भावनामयी प्रज्ञा द्वारा भावित कर ले। उस अवस्था पर पहुँच जाय, जहां निश्चयपूर्वक कह सके कि :

१. **दुःख-सत्य** का परिज्ञान कर लिया।
२. **समुदयसत्य** याने तृष्णा का पूर्ण उच्छेद कर लिया।
३. **निरोधसत्य** याने निर्वाणिक अवस्था का स्वयं साक्षात्कार कर लिया।

४. **मार्गसत्य** याने अष्टांगिक मार्ग पर पूरी तरह चल लिया।

ये चारों कर लिए तो ही कृत-कृत्य हुआ। प्राप्त-प्राप्तव्य हुआ। भारमुक्त, बंधनमुक्त, दुःखमुक्त हुआ। तभी यह चारों सत्य आर्य-सत्य हुए। इन्हें धारण करनेवाला भवरोगी, अनार्य; भवमुक्त, आर्य हुआ।

इन आर्य-सत्यों को तिहरे रूप में याने बारह प्रकार से संपूर्ण आत्मसात करे तो ही कोई व्यक्ति सही माने में दुःख-मुक्त होता है, अर्हंत

होता है। अन्यथा मुक्ति के नाम पर धोखा ही चलता है।

अनेक लोग तब भी रहे और आज भी हैं ही, जो बुद्धि के स्तर पर खूब स्वीकार करते हैं कि दुःख का कारण राग द्वेष मयी तृष्णा ही है और यह भी कि तृष्णा को दूर करके दुःख से मुक्ति पायी जा सकती है। पर तृष्णा को वस्तुतः दूर करते नही, तो दुःख से मुक्त होते नहीं। बहुत से तो यही नही समझते कि तृष्णा को कैसे दूर करें? परंतु अनेक ऐसे भी हैं, जो बुद्धि के स्तर पर खूब अच्छी तरह समझते हैं कि शील, समाधि, प्रज्ञा के अष्टांगिक मार्ग पर चलकर तृष्णा की जड़ें उखाड़ी जा सकती हैं, परंतु मार्ग पर चलते नही। चारों आर्य-सत्यों को स्वयं अनुभव करते नही और अनुभव करने का कोई प्रयत्न भी करते नही, तो अभागे ही हैं। दुःख-मुक्त नही हो पाते।

भगवान ने अपने पांचों शिष्यों को दुःख-विमुक्ति का यह उपदेश देते हुए कहा कि जबतक इन चार सत्यों को ठीक प्रकार से, द्वादसाकार स्वयं अनुभूत न कर लिया याने, 'यथाभूत ज्ञानदर्शन सुविशुद्ध' न कर लिया, तबतक मैंने यह घोषणा नही की कि मैंने सर्वोच्च सम्यक् सम्बोधि का साक्षात्कार कर लिया है। मुझमें सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन सुपुष्ट हो गया है। मेरा चित्त सदा के लिए विकार-विमुक्त हो गया है। यह मेरा अंतिम जन्म है। अब मेरा पुनर्जन्म नही होगा। जब ऐसा कर लिया तभी यह दावा किया। यह करने का ही फल है। बिना किए कुछ होता नही। पर कैसे करें? इसका उत्तर इन चार शब्दों में समाया हुआ है :

यथाभूतं ञाणदस्सनं सुविसुद्धं अहोसि।

यही इस उपदेश का सार है। यथाभूत ज्ञान दर्शन विशुद्ध हुआ। अथवा यूं कहें विपश्यना विशुद्ध हुई। शुद्ध विपश्यना द्वारा यथाभूत का दर्शन करते-करते ही दर्शन सम्यक् दर्शन हुआ। ज्ञान सम्यक् ज्ञान हुआ। विमुक्ति सम्यक् विमुक्ति हुई। चारों आर्य सत्यों का यथाभूत दर्शन शुद्ध रूप में न करे तो विमुक्त नहीं हो सकते।

भगवान ने जब इसका व्याकरण व्याख्यान किया याने स्पष्टीकरण किया तो पांचों में से एक कौण्डण्य को विरज विमल धर्मचक्षु जागे। उसे सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान प्राप्त हुआ। याने विपश्यना द्वारा यह बोध हुआ कि जो कुछ समुदय स्वभाव का है, वह निरोध स्वभाव का है। याने नाम-रूप के सारे क्षेत्र का समुदय-व्यय देखते-देखते उसने उसके निरोध अवस्था का भी साक्षात्कार कर लिया, वह अवस्था जो नाम और रूप (चित्त और शरीर) के परे की अवस्था है, उसका भी साक्षात्कार कर लिया। पहली बार निर्वाणिक अवस्था की अनुभूति हुई तो स्रोतापन्न हो गया, अनार्य से आर्य हो गया।

आओ, हम भी इस महत्त्वपूर्ण उपदेश के सार स्वरूप इन शब्दों को जरा विस्तार से समझें।

यथाभूत ज्ञान-दर्शन याने, दर्शन और ज्ञान यथाभूत का हो। जिस क्षण जो घटना अपने आप; कुदरतन घटी, उसे ही उस क्षण साक्षीभाव से देखा और उसे समझा, तो ही सम्यक् दर्शन हुआ, तो ही सम्यक् ज्ञान हुआ।

यथाकृत नहीं। याने कुछ गढ़कर, निर्माण करके; किसी कृत्रिम, बनावटी आलंबन का दर्शन-ज्ञान नहीं करना है।

यथाकल्पित नहीं। यथाभूत यथार्थ को कहते हैं। अपनी परंपरागत दार्शनिक मान्यता के आधार पर किसी बात की कल्पना करें और फिर उसका दर्शन-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करें, ऐसा नहीं।

यथासंकल्पित नहीं। याने संकल्प-विकल्प द्वारा, चिंतन-मनन द्वारा किसी मान्यता को आधार मानकर, उसका दर्शन-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं।

यथावांछित नहीं। याने अपनी कामना के लक्ष्य का ध्यान करके उसके दर्शन-ज्ञान का प्रयत्न नहीं।

यथाआरोपित नही। याने किसी मिथ्या बात का आरोपण करके उसके दर्शन-ज्ञान का प्रयत्न नही।

जो यथार्थ प्रकट हुआ, केवल उसीका दर्शन ज्ञान।

यह यथाभूत दर्शन ज्ञान किसमें हो? विपश्यना कहां करे? उसका विषय क्या हो? इस संबंध में भगवान ने कहा, **इमेसु चतूसु अरियसच्चेसु** याने, इन चार आर्यसत्यों में यथाभूत दर्शन-ज्ञान हो।

दुःख में दुःख के कारण, तृष्णा में दुःख के निरोध में, निरोध के उपाय, अष्टांगिक मार्ग में।

और ये चारों शरीर की सीमा के भीतर हैं। शरीर की सीमा के भीतर ही एक रूप स्कंध और चार चित्त स्कंध हैं। और इन पांचों स्कंधों के क्षेत्र में ही दुःख समाया हुआ है। दुःख का यथाभूत ज्ञान दर्शन यही करना होगा। इन पांच स्कंधों के भीतर ही समुदय याने तृष्णा समायी हुई है। यही राग और द्वेष जागते हैं। प्रिय-मनचाही को प्राप्त करने और रोके रखनेवाली रागमयी तृष्णा और अप्रिय-अनचाही को दूर धकलनेवाली द्वेषमयी तृष्णा। शरीर की सीमा के भीतर इनका यथाभूत ज्ञान-दर्शन करके, इन्हें दुर्बल बना कर समाप्त किया जा सकता है। और यों दुःख का समापन किया जा सकता है। दुःख-निरोध की निर्वाणिक अवस्था का भी इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही साक्षात्कार किया जा सकता है, बाहर नहीं। और दुःख-निवारण के अष्टांगिक मार्ग का दर्शन भी नाम-रूप पर ही किया जा सकता है, बाहर नही। अष्टांगिक मार्ग काया, वाणी, चित्त के सभी कर्मों को सुधारने का मार्ग है और सभी कर्मों की चेतना भीतर जागती है, उनका उद्गम शरीर की सीमा के भीतर ही होता है, बाहर नही। अष्टांगिक मार्ग शील समाधि, प्रज्ञा का मार्ग है और इन तीनों का उद्गम भीतर है, बाहर नही।

अतः यथाभूत ज्ञान दर्शन करनेवाले व्यक्ति को काया और चित्त पर प्रकट होनेवाली क्षण-क्षण की सच्चाइयों का ज्ञानपूर्वक दर्शन करना होता

है। दर्शन याने उस सच्चाई के प्रति तटस्थभाव रखे; भोक्ताभाव नही, कर्ताभाव भी नही। ज्ञान याने उसके सही स्वभाव का ज्ञान। अनित्य को अनित्य स्वभाववाला, दुःख को दुःख स्वभाववाला, अनात्म (अहं-मम-विहीन) को अनात्म स्वभाववाला ही समझे। यह सब कुछ अनुभूतिजन्य ज्ञान द्वारा समझे और जब नाम रूप के प्रपंच का ज्ञान-दर्शन करता हुआ, उसका भी अतिक्रमण कर ले तो इंद्रियातीत, लोकातीत, नित्य, शाश्वत निर्वाण का साक्षात्कार कर ले। दुःख-निरोध का भी यथाभूत ज्ञान-दर्शन कर ले। यह भी साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही करना होता है। अतः चारों आर्य-सत्यों का ज्ञान-दर्शन भीतर ही करना होता है।

साधक आरंभ कैसे करे ? पहले प्रथम आर्यसत्य याने दुःख के परिज्ञा के लिए उसी का दर्शन करना शुरू करे। नाम-रूप का प्रपंच जिस क्षण जै प्रकट हुआ उसका वैसे ही दर्शन शुरू कर दे। अभी परिज्ञान पूरा नही हुअ पर अष्टांगिक मार्ग का पहला कदम तो उठ ही गया। सम्यक् दर्शन का काम आरंभ हो गया। ऐसी अवस्था में साधक देखेगा कि संकल्प को सम्यक् करना आवश्यक है। जब ऐसा करना शुरू कर देता है तब देखता है कि सम्यक् संकल्प तभी संभव है जब कि शील शुद्ध हो याने वाणी सम्यक् हो, शारीरिक कर्म सम्यक् हों, आजीविका सम्यक् हो। अतः इन्हें शुद्ध रखता है और देखता है कि यह भी तभी संभव है जब कि व्यायाम सम्यक् हो, जागरूकता सम्यक् हो और जागरूकतावाली समाधि सम्यक् हो। तो इन तीनों के लिए भी प्रयत्न शुरू करता है। यों सम्यक् दर्शन करता हुआ पूरे अष्टांगिक मार्ग को भावित करने लगता है, पुष्ट करने लगता है। मध्यमा प्रतिपदा के एक-एक अंग को जीवन में उतारता है और यथाभूत देखता है, यों चौथे आर्य सत्य को भावित करने का काम शुरू हो जाता है।

मार्ग के अष्टांगों का ध्यान करता हुआ दुःख-दर्शन करता है। नाम-रूप का दर्शन करता है तो अनुभूतियों के स्तर पर यह भी स्पष्ट होने लगता है कि जब-जब मानस में राग या द्वेष जागता है, तब-तब दुःख ही

पैदा होता है। यों दुःख समुदय रूपी द्वितीय आर्यसत्य का बोध होने लगता है। उसका यथाभूत दर्शन करता है तो यह भी स्पष्ट होने लगता है कि अज्ञान के कारण ही राग-द्वेष जागता है। जो अनित्य है, दुःख है, अनात्म है, उसे यथाभूत देखता हुआ उस पर नित्य, सुख और आत्म का मिथ्या आरोपण नही होने देता तो मोह मूढ़ता से छुटकारा पाता है। परिणामतः तृष्णा अपने आप क्षीण होती जाती है। तटस्थभाव से सारे प्रपंच को देखता जाता है तो राग-द्वेष के पूर्व संचित संस्कारों का निरोध होने पर पहली बार दुःख-निरोध याने निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है। साधक स्रोतापन्न अवस्था तक पहुँच जाता है। इसी अवस्था को और आगे बढ़ाता है तो सगदागामी, अनागामी की अवस्थाओं में से गुजरता हुआ३ हँत अवस्था तक हुँच जाता है। यों दूसरे आर्य-सत्य 'तृष्णा' का समूल उच्छेद कर लेता है। यम आर्य सत्य पूर्ण परिज्ञात हो जाता है। चतुर्थ आर्यसत्य अष्टांगिक मार्ग भावित हो जाता है। तृतीय-आर्य सत्य 'निरोध' का साक्षात्कार हो जाता है। यथाभूत ज्ञान-दर्शन विशुद्ध हुआ। क्योंकि उसमें कही कोई कृत्रिम, कल्पित, संकल्पित अथवा मनोवांछित मिथ्या बातों का आरोपण नही होने दिया। जिस-जिस समय, जो-जो यथार्थतः हुआ केवल उसी का ज्ञानपूर्वक दर्शन किया। ज्ञान याने बुद्धिवाला ज्ञान नही, अनुभूतिवाला ज्ञान। तो ही यथाभूत ज्ञान दर्शन संपन्न हुआ। तो ही विपश्यना सफल हुई। साधक कृतकृत्य हुआ।

आओ, साधको, हम भी इन चारों सत्यों का विशुद्ध, वास्तविक ज्ञान-दर्शन करें। कही इन्हें किसी सांप्रदायिक मान्यता का दर्शन मात्र बनाकर, किसी संप्रदाय की उलझन में न उलझ जायँ। जो बात हमारी मुक्ति के लिए समझायी गयी, उसका उपयोग अपनी मुक्ति के लिए ही करें; भक्ति भावावेश के लिए नही, बुद्धि किलोल के लिए नही, सांप्रदायिक मान्यताओं में बँधन के लिए नही।

सत्य धर्म धारण करने में ही हमारा सही कल्याण समाया हुआ है।

४ / लोकचक्र : धर्मचक्र

पच्चीस-छब्बीस सदियों पूर्व आषाढ़ पूर्णिमा के दिन भगवान गौतम बुद्धने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था। लोकचक्र में पिसी जाती हुई जनता धर्मचक्र से वंचित हो गयी थी। धर्म के नाम पर जो कुछ प्रचलित था वह अधिकांशतः लोकचक्र था। विवेकहीन रूढ़ियों और परंपराओं की लकीरों पर अंधे फकीरों की तरह चलने वाले लोग धर्म का सत्य स्वरूप भूल बैठे थे। यथार्थ ज्ञान दर्शन से वंचित हो चुके थे। इसीलिए नाना प्रकार के दुखों में उलझे हुए थे।

दुनिया में जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो वह यथार्थ ज्ञानदर्शन ही करता है। परमार्थ सत्य का स्वयं दर्शन करना ही सम्यक् सम्बोधि है। समस्त मिथ्या दृष्टियों से, भ्रम-भ्रांतियों से, माया-मरीचिकाओं से, धोखे-विपर्यासों से बाहर निकलकर आर्यसत्यों का स्वयं साक्षात्कार कर लेना ही विमुक्ति है। जब कोई व्यक्ति इस प्रकार स्वयं आर्य-सत्यों का दर्शन करके औरों को भी उनका दर्शन कर सकने के लिए मार्ग निर्देशन करता है, तो इसी को धर्मचक्र-प्रवर्तन करना कहते हैं।

यह आर्य सत्य क्या है ? आर्य सत्य प्रकृति की वह सच्चाइयां हैं, जिन्हें कि हम अंतर्मुखी होकर स्वानुभूतियों के बल पर स्वयं देख समझ लेते हैं और आर्य बन जाते हैं, याने पवित्र बन जाते हैं, निर्मल हृदय बन जाते हैं। आओ, देखें यह कौन सी सच्चाइयां हैं, जो कि हमें मिथ्या भ्रांतियों से दूर करती हैं और आर्य बनने में सहायक होती हैं। ये हैं जीवन और जगत की ठोस सच्चाइयां, यथार्थ सच्चाइयां; थोथी कपोल-कल्पनाओं से परे, निकम्मी निस्सार अटकल-पच्चियों से दूर। यह सच्चाइयां चार प्रकार की होती हैं।

हम भलीभांति जान लेते हैं कि — (१) यह दुख है। (२) यह दुख का

मूलभूत कारण है। (३) यह दुख का निवारण है। (४) यह दुख निवारण का तरीका है।

अन्य शब्दों में कहें तो हम भलीभांति जान लेते हैं कि यह हमारा रोग है, यह रोग का निदान है, यह रोग का निवारण है और यह है निवारण की दवा। यह मैल है, यह मैल का चिपकना है, यह मैल का छूटना है और यह है मैल छुड़ाने की साबुन। यह आग है, यह आग का जलावन है, यह आग का बुझना है और यह है उसका उपाय। यह विष-वृक्ष है, यह वृक्ष-मूल है, यह मूलोच्छेदन है और यह है कुल्हाड़ा। यह दुर्भिक्ष है, यह दुर्वृष्टि है, यह सुभिक्ष है और यह सुवृष्टि। यह उरला तीर है, यह बीच की नदिया है, यह परला तीर है और यह है पार होने की नौका। यह कुफल है, यह कुबीज है; यह सुफल है और यह है सुबीज। यह दुर्गति है, यह दुर्मार्ग है, यह लोकचक्र है, यह लोकचक्र की गति है; यह उस गति का निरोध है और यह है गति निरोध कर देनेवाला धर्मचक्र।

वस्तुतः लोकचक्र ही दुःख है, रोग है, बंधन है, मैल है, आग है, भय है, दुष्फल है, दुर्गति है और धर्मचक्र ही सुख है, स्वस्थता है, शांति है, मुक्ति है, निर्मलता है, योगक्षेम है, सुफल है, सुगति है। चारों आर्य-सत्यों को देख समझ लेना धर्मचक्र है और न देखना समझना ही लोकचक्र।

साधारणतया हम दुख के सत्य स्वरूप को नहीं देख-समझ पाते। इसी से उसमें उलझे रहते हैं, लोकचक्र में पिसते रहते हैं। जीवन के मोटे-मोटे दुख तो हम खूब समझ लेते हैं, परंतु सांसारिक सुखों में छिपे हुए सूक्ष्म, परंतु तीव्र दुखों को हम कहां समझ पाते हैं? छोटे-बड़े ऐंद्रिय सुख हमें इस कदर लुब्ध रखते हैं कि इनमें भी कोई दुख समाया हुआ है, यह बात हमारी समझ में ही नहीं आती। यदा-कदा आने वाले इन भौतिक सुखों की वजह से हमारे भीतर जो उत्तेजनाएं उमड़ती रहती हैं और हमारा मानसिक संतुलन बिगड़ता रहता है, उस दुख को हम देख ही नहीं पाते। प्रिय या अप्रिय सभी

स्थितियों में हमारे भीतर ही भीतर जो गहरी अतृप्ति, असंतुष्टि समायी रहती है, उसके दुख को हम समझ ही नहीं पाते। जो कुछ प्राप्त है उसकी सुरक्षा के लिए और जो कुछ अप्राप्त है उसकी प्राप्ति के लिए, हमारे अंतर्मन में जो निरंतर बेचैनियां बनी रहती हैं, उन्हें हम देख ही नही पाते। इन्हें देख-समझ लेना ही अपने सच्चे रोग को पहचान लेना है। यही पहला मंगलकारी सत्य है।

दूसरा मंगलकारी सत्य उस दुख के असली कारण को देख-पहचान लेना है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की विभिन्न अनवांछित घटनाएं परिस्थितियां हमें दुखी बनाती रहती हैं, यह सच है, परंतु यह ऊपरी-ऊपरी सच है। इससे गहरा सच यह है कि भीतर ही भीतर अनजाने हमने अपने मन को एक ऐसे स्वभाव-शिकंजे में जकड़ लिया है जिससे वह अप्राप्य को प्राप्य करने के लिए सदा लालायित रहता है, उत्तप्त रहता है। जो कुछ है, उससे इसे संतुष्टि नही, तृप्ति नही। जो नही है, उसके लिए छटपटाहट है। अतृप्ति और असंतुष्टि की यह छटपटाहट ही दुख है। यह जान लेने पर यह भी स्पष्ट समझमें आ जाता है कि सदा सतृष्ण रहनेवाला हमारा यह आंतरिक स्वभाव ही इसका मूल कारण है। इच्छा की पूर्ति हो जाने पर भी तृष्णा बनी रहती है। एक इच्छा पूरी हुई कि दूसरी के प्रति तृष्णा जागी। जब तक तृष्णा बनी रहती है, तथा उस तृष्णा के प्रति गहरी आसक्ति बनी रहती है तब-तक दुख बना ही रहता है।

दुखों के मूलभूत सही कारण को नही जानने की वजह से ही दुख-विमुक्ति के सारे उपक्रम व्यर्थ साबित होते हैं। ऐन्द्रिय सुखों के अभाव को ही दुख का कारण मानकर उनके पीछे पागलों की तरह दौड़ लगानेवाला व्यक्ति अधिक्र दुखों में ही उलझता है। किसी सर्वशक्तिमान अदृष्य प्राणी को दुखों का कारण मानकर उसे खुश करने के चक्कर में पड़नेवाला व्यक्ति दुखों में ही अधिक उलझता है। अतः दुख के सही कारण को जान लेना ही वास्तविक मंगलमयी सच्चाई है।

यह दुख है, यह दुख का कारण है। इन दोनों सच्चाइयों को जान लेना नितांत आवश्यक है। परंतु इतना जानकर यदि हम हताश हो बैठें कि यह तो दुनिया का स्वभाव है, यह दुखचक्र तो सदा चलता ही रहेगा, इसके बाहर कोई निकल नही सकता तो इस निराशा के कारण सचमुच दुखचक्र में पड़े ही रह जाएंगे। धर्मचक्र दुख और दुख के सही कारण को जानकर उसके निवारण के प्रति आस्था पैदा करता है। जिसका कोई कारण है, उसका निवारण भी है ही। कारण के दूर होते ही परिणाम अपने आप दूर हो जाएगा। आशाओं से परिपूर्ण यह तीसरी सच्चाई है।

कारण के निवारण से दुख दूर होगा, यह सच्चाई जान लेने के बाद उस निवारण का सही उपाय पकड़ में आ जाय तो चौथी मंगलकारी सच्चाई पकड़में आ जाय। तीसरी सचाई ने जो आशा उत्पन्न की थी, उसे क्रियान्वित करने की विधि पकड़ में आ जाय। क्या है यह विधि ? यह विधि है शील, समाधि और प्रज्ञा। याने काया और वाणी के दुराचरण से बचना, चित्त को वश में रखना और चित्त पर छाए हुए समस्त दूषित विकारों को दूर कर उसे मैत्री, करुणा आदि सद्गुणों से भरना। दुख निरोध का यही सही उपाय है। हमारे समस्त रोगों की यही रामबाण औषधि है। यही वह मार्ग है जिस पर चलकर हम अपने भीतर समाए हुए समस्त दुःखों की जननी स्वरूपा इस तृष्णाजन्य आसक्ति को समूल नष्ट करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। यही मंगलकारी चौथी सच्चाई है।

इन चारों मंगलकारी सच्चाइयों को जान लेना, चिंतन-मनन द्वारा भलीभांति समझ लेना अच्छा है। क्योंकि जानना समझना ही तो पहला कदम है। परंतु यदि हम बौद्धिक स्तर पर जानने समझने को ही सब कुछ मान बैठें तो एक और पागलपन के शिकार हो जायँ। यह तो कोरा बुद्धिविलास ही होगा जो कि हमारे किसी लाभ का नही। जान समझकर उसे क्रियान्वित कर लेना ही हमारे मंगल का विधायक है। रोग जान लिया, उसे

दूर करने की दवा भी जान ली, परंतु उस दवा का सेवन नही किया तो यह सारा जानना निरर्थक हुआ।

अतः इन चारों आर्य-सत्यों का सही साक्षात्कार वही करता है जो कि बुद्धिविलास के चक्कर से बाहर निकलता है। अन्यथा तो लोकचक्र में ही उलझा रहता है। धर्मचक्र से लाभान्वित नहीं हो पाता। दुख को जानकर उससे मुक्त हो जाना ही धर्मचक्र है। दुख के सही कारण को जानकर उसे जड़ से उखाड़ फेंकना ही धर्मचक्र है। दुख-निरोध की सच्चाई को जानकर यथार्थतः उस स्थिति को प्राप्त कर लेना ही धर्मचक्र है। दुख-निरोध के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा की सरल विधि को जानकर उसका पूरी तरह अभ्यास कर लेना ही धर्मचक्र है। यही मंगल मूल है। यह न हो तो हम लोकचक्र ही लोकचक्र में उलझे रह जाएंगे। दुखचक्र ही दुखचक्र में पिसते रह जाएंगे। हमारा सौभाग्य है कि हमें यह कल्याणकारी विधि उपलब्ध हुई है। हम इसके अभ्यास के द्वारा लोकचक्र के दुखों से बाहर निकलें और धर्मचक्र पर स्थापित होकर अपना कल्याण साधें, अपना मंगल साधें।

जागे मंगल धरम का, लोक लोक आलोक।
दूर होंय भव-भव-भ्रमण, दूर होंय भव-शोक॥

सही दर्शन

दर्शन

दर्शन, भक्ति, पूजन, वंदन, अभिवादन आदि सभी दो प्रकार के होते हैं—आमिष और निरामिष।

आमिष वह जो हमें भवचक्र में बांधे रखे और निरामिष वह जो भवचक्र से छुटकारा दिलाए। विपश्यी साधक जब सतिपट्ठान के शिविर में भाग लेता है तो वेदनानुपश्यना के भेद समझाते हुए इन दोनों शब्दों से उसका संपर्क होता है। सुखद, दुखद अथवा असुखद, अदुखद संवेदनाएं जब राग, द्वेष, मोह पैदा करती हुईं लोक चक्र प्रवर्तन करती हैं तो सामिष कहलाती हैं और वही संवेदनाएं अनित्यबोध के आधार पर जब राग-द्वेष और मोह-विहीन बने रहने में सहायक होती हैं और धर्म-चक्र प्रवर्तन करती हैं तो निरामिष कहलाती हैं। संवेदनाएं तो वही हैं, परंतु हम उनका प्रयोग जिस प्रकार करें, उसी के अनुसार वह सामिष या निरामिष होती हैं, यानी बंधन का कारण बनती हैं या मुक्ति का उपाय बनती हैं। यही नियम दर्शन, भक्ति, पूजन, वंदन, अभिवादन आदि पर भी लागू होता है।

भक्ति के क्षेत्र में भगवान के दर्शन को बड़ा महत्व दिया जाता है। एक मान्यता चली आ रही है कि भगवान के दर्शन हो जायँ, तो भक्त मुक्त हो जाय। यह मान्यता बिल्कुल सही भी है और सर्वथा गलत भी। दर्शन निरामिष हो तो भक्त अवश्य मुक्त हो जाएगा। निरामिष आमुख हो तो भी मुक्ति आमुख हो जाएगा। परंतु सामिष हो तो मुक्ति से दूर, बल्कि भव बंधनों में ही बँधता जाएगा।

जब कोई व्यक्ति भगवान के साकार शरीर का दर्शन करता है और उसकी रूपमाधुरी पर मोहित होता है तो दर्शन सामिष होता है। जब शरीर का दर्शन कर भगवान के गुणों को याद करता है और वैसे गुण स्वयं धारण करने की प्रेरणा प्राप्त करता है तो निरामिष आमुख हो जाता है यानी मुक्ति

की ओर बढ़ने का कदम उठाता है। परंतु जब कोई व्यक्ति साधना के बल पर भगवान की धर्म तरंगों के अनुरूप स्वयं भी धर्म तरंगे उत्पन्न करके, उनसे समरस हो जाता है तो वह निरामिष दर्शन होता है। भक्त भवबंधन से मुक्त हो जाता है, क्योंकि ऐसा करते हुए अपने सारे भव-संस्कार निर्जरित कर लेता है।

भगवान के जीवनकाल की कुछ एक घटनाओं से इसे स्पष्टतया समझें।

(एक)

आदमी अपने पूर्व कर्मों के अनुसार खूबसूरत या बदसूरत शरीर प्राप्त करता है। पूर्व कर्म पुण्यमय हों तो खूबसूरत माता-पिता के संसर्ग में आता है और गर्भावस्था अथवा जन्म के समय विघ्न-विमुक्त होकर सर्वांग सुंदर देह पाता है। बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम अनगिनित जन्मों में असीम पुण्य-पारमिताओं का संचय लेकर जन्मा तो अत्यंत सुंदर देहधारी हुआ। अत्यंत आकर्षक बड़ी-बड़ी नीली आंखें, मनमोहक धनुषाकार भौंहें, भौंहों के बीच में श्वेत कोमल कपास सी रोम-राशि, लंबी नाक, पतले गुलाबी होठ, शुभ्र श्वेत सुगठित दन्तावली, लंबी जिह्वा, सिंह की सी ठोडी, सिंह की सी कटि, काले चिकने मुलायम केश, सीधे खड़े होने पर घुटनों को छू जानेवाले लंबे आजानु बाहु, लंबी पतली खूबसूरत अँगुलियां, उन्नत भव्य ललाट, मृग की सी पिंडलियां और तपे स्वर्ण सी चमकीली त्वचा। सब मिलाकर ऐसा नयनाभिराम व्यक्तित्व जो किसी को भी हठात् अपनी ओर खैंच ले।

ऐसे मनोमुग्धकारी रूप-माधुर्य का धनी राजकुमार सिद्धार्थ सारथी छन्द के रथ पर सवार होकर नगर-भ्रमणकर राज उद्यान में लौटा। सेवकों ने उसे स्नान करवाकर बहुत सुंदर वस्त्राभूषणों से सजाया। यह उसके जीवन की आखिरी शरीर-सजावट थी। वह रथ पर सवार हो, राजपथ से गुज़रता

हुआ अपने महलों की ओर चला। राजमार्ग पर एक बड़ी हवेली के बरामदे में खड़ी युवती किसा गौतमी (चुटकी भर सरसोंवाली नहीं) खड़ी थी। राजकुमार की रूपश्री देखकर वह विमुग्ध हो उठी और इस मुग्ध अवस्था में उसने यह गीत गाया :

निब्बुता नून सा माता, निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी, यस्सायं ई दिस्सो पती ति॥

उस माता की सारी इच्छाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, उस पिता की सारी इच्छाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, जिसे ऐसा पुत्र प्राप्त हुआ। उस पत्नी की सारी इच्छाएं पूर्ण हो चित्त शांत हुआ, जिसे ऐसा पति मिला।

कुमारी किसा गौतमी राजकुमार सिद्धार्थ के भौतिक शरीर की रूप-माधुरी का रसपान कर मुग्ध हुई। परंतु राजकुमार उसी दिन वृद्ध, रुग्ण, मृत और परिव्राजक को देखकर संसार के प्रति सर्वथा निर्वेद के भाव से भरा हुआ था। उसने **निब्बुता** शब्द सुना तो कानों में धर्म- गंभीर **निर्वाण** शब्द की वीणा झंकृत हो उठी। सारा तन-मन झनझना उठा। मानस में बिजली सी कौंधी। **निब्बुता** तो वही होगा, जिसके भीतर राग, द्वेष, मोह की अग्नि पूर्णतया बुझ जाए। यह कुमारी मुझे निर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित कर रही है। मुक्ति के मार्ग पर उत्तेजित करनेवाली मानो यह मेरी आचार्या है। कृतज्ञता-विभोर राजकुमार ने अपने गले में पहना हुआ मोतियों का बहुमूल्य हार गुरुदक्षिणा के रूप में किसा गौतमी को भेजा; यह समझता हुआ कि यह शरीर जीर्ण होनेवाला है। समय रहते इसका सही उपयोग कर राग, द्वेष, मोह से मुक्त होकर, निर्वाण अवस्था का साक्षात्कार कर लूं और जीवन सफल बना लूं। उसी रात परम सत्य की खोज में सिद्धार्थ राजकुनार ने घर त्यागा। अनोमा नदी पार करके बेहद खूबसूरत केशराशि काट फेंकी। वेशकीमती वस्त्राभूषण उतारकर, भिक्षु के गेरुये वस्त्र धारण कर लिये और मुक्ति की खोज में आगे बढ़ चला। इस ओर वह किसा गोतमी

राजकुमार का भेजा हुआ बहुमूल्य हार पाकर यह समझ बैठी कि कुमार ने मेरा प्रणय-निवेदन स्वीकार किया है और उपहार-स्वरूप यह हार भेजा है। उसने **योनिसोमनसिकार** चिंतन ही नही किया याने, ठीक दिशा में चिंतन ही नही किया; निरामिष दर्शन तो बहुत दूर की बात हुई। रूप-माधुरी का सामिष दर्शन करके उस कामातुरी कामिनी के अंग-अंग में वासना की सिहरन फूट पड़ी। उसे इस दर्शन से क्या मिला भला? भवबंधन बांधनेवाला मुक्ताहार ही मिला, बंधनमुक्ति नही। ●

(दो)

युवा योगी सिद्धार्थ गौतम ने छह वर्षों तक विभिन्न प्रकार की साधनाएं आजमाईं। असीम कायाकष्ट का मार्ग भी अपनाकर देखा। पर उनसे उसे भवमुक्ति प्राप्त नही हुई; तो स्वयं अपने प्रयत्नों से मुक्तिदायिनी विपश्यना साधना ढूंढ़ निकाली। इसी के अभ्यास द्वारा निरंजना नदी के तीर पर बोधिवृक्ष के तले परम सत्य निर्वाण का साक्षात्कार कर लिया। सम्यक् संबोधि प्राप्त कर ली। जन्म-जन्म के भवबंधनों से मुक्त हो गया। इस निर्वाणिक सुख की अवस्था में बोधिवृक्ष के तले और उसके आसपास सात सप्ताह बिताकर उसने यह कल्याणकारी विद्या भव-संतापित जगत को बांटने का निर्णय किया। अपने पांच पुराने साथियों को यह रतन बांटने के लिए ऋषिपत्तन, वाराणसी की ओर चल पड़ा।

जब वह शरीर को दंड देने वाली निरर्थक साधना में लगा था तो उसका शरीर कृशकाय हो गया था। स्वर्णवर्णा त्वचा दुःवर्ण हो गयी थी। चेहरे की आभा बिल्कुल नष्ट हो गयी थी। परंतु मध्यम मार्ग अपनाकर विपश्यना साधना करने लगा तो शरीर की शोभा पुनः लौट आयी। सम्यक् संबोधि प्राप्त होने पर तो यह शोभा कई गुना बढ़ गयी। केवल चेहरे से ही नही, बल्कि अंग अंग से अलौकिक अपूर्व कांतिप्रभा प्रस्फुटित हो उठी। ऋषिपत्तन की ओर यात्रा करते हुए मार्ग में उन्हें उपक नाम का एक नग्न आजीवक संन्यासी

मिला। उसने भगवान के चेहरे की कांति और शांति देखी तो बहुत प्रभावित हुआ। उनकी ओर आकर्षित हुआ और कौतूहलतावश पूछ बैठा :

"श्रमण! तुम्हारे नयन-मुख बहुत शांत और प्रभापूर्ण है। तुम्हें क्या प्राप्त हो गया है? तुम्हारा आचार्य कौन है?"

भगवान ने कहा, "मुझे सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई है। मैं स्वयं अपना आचार्य हूं।"

उपक ने फिर उत्सुकतावश पूछा, "तो क्या तुम अर्हंत हो गए हो? अनंत जिन हो गए हो?"

भगवान ने सहजभाव से स्वीकृति दी, "हां, भाई! मैं अर्हंत हो गया हूं। अनंत जिन हो गया हूं।"

उपक को लगा कि आज के युग में कोई अनंत जिन कैसे हो सकता है? वह अविश्वास से भरा मुँह बिचकाकर बोला, "होगा" और उपेक्षा के भाव से एक ओर चल दिया।

आजीवक उपक ने उस समय भगवान बुद्ध का दर्शन तो किया, पर यह दर्शन निरामिष नही था। इसलिए जो लाभ मिलना चाहिए था, वह नही मिला।

आगे चलकर उपक मार्गभ्रष्ट हुआ। परिव्राजक जीवन त्यागकर एक शिकारी की सुंदरी पुत्री चंपा के प्रेम-पाश में फँस गया और उससे विवाह कर लिया। स्वयं भी शिकारी का घृणित जीवन जीने लगा। समय पाकर उसे एक पुत्र भी हुआ। परंतु पत्नी चंपा परिव्राजक का जीवन छोड़ने वाले पति को बराबर ताने मारा करती थी। उसके कटु वचनों से आहत होकर वह एक दिन घर छोड़कर निकल पड़ा। वर्षों पूर्व जिन अनंत जिन को मिला था, अब उन्ही की शरण गया और उनसे विपश्यना साधना सीखी। भगवान का दर्शन

निरामिष होता है, विपश्यना के आधार पर धर्मतरंगों के स्तर पर होता है, तो ही सार्थक होता है। उपक शीघ्र ही अनागामी अवस्था पाकर कालांतर में अर्हंत हुआ। साकार भौतिक शरीर का दर्शन उपक को पहले भी हुआ था, पर मुक्ति तो निराकार आध्यात्मिक दर्शन से ही हुई। ●

(तीन)

धर्मचक्र प्रवर्तन करने के लिए और अपने बिछड़े हुए पांचों साथियों को करुणचित्त से शुद्ध धर्मरत्न बांटने के लिए भगवान ऋषिपत्तन पहुँचे। पांचों ने उन्हें दूर से आता हुआ देखा और देखा कि उनका शरीर पहले जैसा कृशकाय नही है। अस्थि-पिंजर नही है। अस्थियों के कील-कांटें शरीर पर नही उभर रहे, तो उन्होंने समझा कि यह साधनाच्युत गौतम हमारे पास आ रहा है। राजकुल में जन्मा है, अतः आनेपर बैठने के लिए आसन तो देना होगा, परंतु इसका अन्य कोई मान-सन्मान, आदर-सत्कार, नही करेंगे। उन दिनों भारत में एक बहुत बड़ा समुदाय ऐसी मान्यता माननेवाला था कि देह-दंडन से ही मुक्ति प्राप्त होती है। और इन पांच साथियों ने देखा कि यह देह-दंडन का तप छोड़ चुका है, अतः मुक्ति का अधिकारी नही है। इस मिथ्या धारणा से यह पांचों प्रभावित थे। परंतु असीम करुणा और मैत्री की किरणें विकीर्ण करते हुए भगवान बुद्ध जैसे-जैसे समीप आते गए, वैसें-वैसे यह पांचों अधिकाधिक प्रभावित होते गए। वे अपने पूर्व निर्णयों को भूल गए और उनके सम्मान सत्कार में लग गए। बहुत आदर और श्रद्धापूर्वक उनका उपदेश सुना। देह-मंडन और देह-दंडन की अतियों के बीच की मध्यमा प्रतिपदा का अभ्यास करके देखा और पहले दिन के प्रशिक्षण से ही कोंडिण्य स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हुआ। दूसरे, तीसरे, चौथे और पांचवें दिन भगवान ने तप्प, भद्दिय, महानाम और अश्वजित के साथ बैठ-बैठकर उन्हें विपश्यना साधना करवायी और एक-एक करके वे भी स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हुए। छठें दिन भगवान ने पांचों को विपश्यना का आगे का पाठ

सिखाया और पांचों अर्हंत अवस्था को प्राप्त हुए।

उनके लिए भगवान का प्रथम दर्शन निरामिष नही बना, परंतु ज्यों-ज्यों निरामिष बनता गया, त्यों-त्यों पांचों के पांचों विशुद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ते हुए इसी जीवन में मुक्त हो गए। ●

(चार)

गृह त्यागने के सात वर्ष बाद भगवान कपिलवस्तु लौटे। सारा नगर अपने पूर्वकाल के राजकुमार के दर्शन के लिए उमड़ पड़ा। कुमार राहुल भी अपने पिता के दर्शन के लिए उत्सुक था। सिद्धार्थ ने जब घर छोड़ा था, तो शिशु राहुल पूरे एक दिन का भी नही हुआ था। महल के छज्जे पर खड़ी माता यशोधरा पुत्र राहुल को उसके पिता की पहचान करवाती है। यह जो भिक्षु संघ के साथ आगे बढ़ते चले आ रहे हैं, उनका रूप ऐसा है जैसे कि नील गगन-पथ पर तारागण से घिरे चंद्रमा का होता है।

गच्छति नीलपथे विय चन्दो।
तारागण परिवेठ्ठित रूपो।
सावक मज्झ गतो समणिन्दो।
एसहि तुय्ह पिता नरसीहो॥

यह जो नरेन्द्र सिंह सदृश हैं, यह तेरे पिता हैं। सात वर्ष के बालक को साकार शरीर की रूपश्री के स्तर पर ही तो पहचान करवाई जा सकती थी।

''अंजन वर्ण सुनील केश हैं जिनके, कंचनपट्ट की तरह दीप्त शुद्ध ललाट है जिनका, सिंह हनु, सुगठित गर्दन, सुंदर नासिका, इन्द्रधनुष सदृश नीली भौहें हैं जिनकी, पूर्णिमा के चांद जैसी मुख छटा है जिनकी। उत्तम वर्ण, कंचन छबिवाला शरीर है जिनका। ऐसे यह नरेन्द्र सिंह तेरे पिता है।''

शरीर-श्री का यह शोभा वर्णन अध्यात्म-दर्शन नही करा सकता। असंख्य पूर्व जन्मों में यशोधारा भगवान की जीवनसंगिनी रह चुकी थी। उनके साथ-साथ प्रभूत पुण्य पारमिताओं का संचय-संग्रह किया था। ऐसी धर्म-विहारिणी द्वारा बुद्ध का केवल सामिष वर्णन उचित नहीं था। अतः पुत्र को समझाते हुए उनके अध्यात्म-गुणों की ओर भी संकेत करती है।

सील समाधि पतिट्ठित चित्तो।...
लोक हिताय गतो नरवीरो।...

आदि-आदि। कुमार राहुल के पास भी अनेक जन्मों की पुण्य पारमिताओं का विपुल संग्रह था। अतः पहली बार जब पिता के समीप जाता है, तो उनके शारीरिक रूप-सौंदर्य से प्रभावित नही होता, बल्कि उनके आध्यात्मिक सौंदर्य की ओर आकर्षित होता है। और इसीलिए कहता है :

''स्रमण! तुम्हारी छाया बहुत शीतल है, सुखद है।''

और यह शीतल, सुखद छाया उसे शरण देती है। अपने अंक में भर लेती है। वह अपने पिता से अपना दायाद (उत्तराधिकार) यानी विरासत मांगता है। धर्मराज के पास शुद्ध धर्म के सिवाय विरासत में देने को और क्या था भला? वे उसे भिक्षु संघ में सम्मिलित कर लेते हैं। बालक राहुल धर्मसेनापति सारिपुत्र और महामोग्गलायन की देखरेख में धर्मपथ पर आगे बढ़ता है। किशोर और युवावस्था पर पहुँचते पहुँचते भगवान का निरामिष दर्शन करने लगता है। विपश्यना की सीढ़ियों पर चढ़कर वह अर्हंत अवस्था प्राप्त कर लेता है। जीवन सार्थक कर लेता है।

माता के द्वारा पिता का दर्शन कराया गया, उससे वास्तविक परिचय नही हुआ, परंतु जब विपश्यना साधना द्वारा धर्म-दर्शन किया तो सचमुच पहचान लिया अपने पिता को, ठीक वैसे ही जैसे कि दादी महाप्रजापति गौतमी ने अपने पुत्र को पहचाना —

परिचिण्णो मया सत्था, कतं बुद्धस्स सासनं।

"बुद्ध का शासन पूरा करके यानी बुद्ध की बतायी हुई साधना पूरी करके, मैंने अपने शास्ता को पहचान लिया।" ●

(पांच)

कुरु प्रदेश का कम्मासधम्म निगम। यहां का निवासी ब्राह्मण गृहस्थ मागन्दीय। उसकी देवकन्या सदृश सर्वांग सुंदरी सुंवर्ण-वर्णा मागन्दीया। अनेक लोग उस रूपवती को अपनी जीवन-संगिनी बनाने के लिए आतुर थे। परंतु ब्राह्मण का हठ था कि वह अपनी रूपसी कन्या का हाथ उसी को देगा जो कि उसी की तरह सुवर्ण-वर्ण हो और अद्वितीय रूपवान हो। अपने इस हठ को पूरा करने के लिए; वह योग्य वर की खोज में लगा रहा, पर बहुत समय तक सफलता नही मिली।

एक दिन वह समीप के वनखण्ड में से गुजरता हुआ ब्राह्मण भारद्वाज के आश्रम के पास से निकला। वहां किसी वृक्ष की छाया में भगवान बुद्ध ध्यानावस्थित बैठे थे। उनके सुवर्ण-वर्ण सुंदर शरीर से अनुपम प्रभा प्रस्फुटित हो रही थी। ऐसा रूप-शोभायुक्त व्यक्ति उसने कभी नही देखा था। वह अत्यंत प्रभावित हुआ। भगवान में उसे अपनी सलोनी कन्या के मनोवांछित वर के दर्शन हुए। यह व्यक्ति कही विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा न दे, इसलिए ब्राह्मण ने यही उचित समझा कि अपनी रूपवती कन्या को यही ले आए। उस मोहिनी की रूप-माधुरी देखकर, यह अवश्य स्वीकृति दे देगा। उसने भगवान से कहा, "श्रमण! यही ठहरें। मैं अपनी पुत्री को ला रहा हूं, जो कि तुम्हारी जीवन-संगिनी बनने योग्य है।" इतना कहकर वह दौड़ा-दौड़ा घर गया। अपनी पत्नी से बोला, "भद्रे! रूपवती कन्या के लिए मैंने बहुत उपयुक्त वर खोज लिया है। तू मागन्दीया को सजा-धजाकर साथ ले चल। आज हमारी मंशा अवश्य पूरी होगी।"

मां ने बेटी को सुगंधित जल से स्नान करवाया। बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया। कुमारी मागन्दीया का रूप और अधिक निखर आया। दोनों उसे लेकर भारद्वाज के आश्रम की ओर गए। देखा भगवान वहां नही थे। ब्राह्मण की निकम्मी बात सुनकर, वह वहां से उठकर आगे चले गए थे। ब्राह्मण को बड़ी निराशा हुई। उसने पथ पर भगवान के पद-चिन्ह देखे और बोला, ''श्रमण इसी रास्ते गया है। चलो उसे ढूंढ लें।'' ब्राह्मण की पत्नी बहुत विदुषी थी। वेद-वेदांगों में पारंगत थी। शरीर-लक्षण-शास्त्र की परम ज्ञाता थी। भगवान जिस तृण बिछे स्थान पर बैठे थे, उसे ध्यान से देखा। वे जिस रास्ते गए, उस पर पड़े पद-चिन्हों को बड़े ध्यान से देखा और अपने पति से बोली, ''प्रिय! हमारी मनोकामना पूर्ण होनेवाली नही है। इस आसन पर बैठनेवाला व्यक्ति वीतकाम है। इन पद-चिन्होंवाला व्यक्ति राग, द्वेष, मोह से सर्वथा विमुक्त है। यह किसी नारी को स्वीकार नही कर सकता।'' ब्राह्मण को बुरा लगा। मंगल की बेला कैसी अमंगल वाणी बोल रही है? उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति का पूरा विश्वास था। वह भगवान को ढूंढते हुए आगे बढ़ा।

कुछ दूरी पर उसे भगवान के दर्शन हुए। मागन्दीय ब्राह्मण ने आतुरतावश अपनी बेटी का हाथ पकड़कर भगवान की ओर बढ़ाते हुए कहा, ''महाश्रमण! मेरी इस रूपवती कन्या को स्वीकार करें। आप दोनों का रूप-सौंदर्य एक-दूसरे के सर्वथा उपयुक्त है। इसके साथ सुखी गृहस्थ जीवन बिताइए।''

भगवान ने कहा, ''ब्राह्मण! मैं गृहस्थ जीवन से मुक्त हो चुका हूं। मैं वीतकाम हूं। वीतराग हूं। अपनी कन्या का विवाह कही और करो।''

जब ब्राह्मण बार-बार जिद्द करता रहा तो भगवान ने कहा, ''ब्राह्मण मैं अर्हंत हूं। सम्यक् संबुद्ध हूं। संबोधि प्राप्त करते हुए बोधिवृक्ष के तले जब मारदेव मुझे नही हरा सका तो मुझे साधनाच्युत करने के लिए उसने अपनी

तीन सुंदरी पुत्रियों को भेजा। तृष्णा, रती और रागणी। उन परम मोहिनी देवकन्याओं के प्रति भी मेरे मन में रंच मात्र वासना नही जागी। यह तो मानवी शरीर, भिन्न भिन्न प्रकार की गंदगियों से भरा हुआ। ब्राह्मण! मैं समस्त वासनाओं से सर्वथा मुक्त हो चुका हूं।''

ब्राह्मणी भगवान की वाणी से अत्यंत प्रभावित हुई। उनके प्रभामंडल मंडित शांतिकांतियुक्त चेहरे ने उसे आश्वस्त किया कि यह व्यक्ति सचमुच सम्यक् संबुद्ध है। अर्हंत है। उसने अपने पति को बहुत समझाया कि वह इस व्यक्ति से पुत्री के संबंध की आशा त्याग दे। हमारा सौभाग्य है कि पुत्री के लिए वर खोजने के प्रयत्न में हम सम्यक् संबुद्ध के संपर्क में आए। हम इनसे मुक्ति का मार्ग सीखकर मानव-जीवन सार्थक करें। ब्राह्मण ने पत्नी की बात मानी। पुत्री को अपने छोटे भाई चुल्ल मागन्दीय के हवाले करते हुए कहा कि उचित वर खोज कर इसके हाथ पीले कर देना। और स्वयं अपनी पत्नी सहित भगवान के पास रुक गया। उनसे विपश्यना साधना सीखकर दोनों पति-पत्नी पुरुषार्थ करते हुए अर्हंत अवस्था को प्राप्त हुए।

ब्राह्मण-पुत्री मागन्दीया को अपने रूप का बड़ा अभिमान था। उसे लगा कि भगवान ने उसके रूप का घोर अनादर किया है। कुछ समय पश्चात् वह कौशांबी नरेश उदयन से ब्याही गयी और उनकी तीन पटरानियों में से एक हुई। परंतु उसके मन में भगवान से बदला लेने की द्वेषभावना प्रज्वलित ही रही। वहां उसने देखा की रानी श्यामावती भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु है। उनके उपदेशों का पालन करती है। मागन्दीया ने अनेक षड्यंत्र रचे। उदयन के मन में श्यामावती के प्रति संदेह पैदा कर दिया। उसे लांछित किया और अंततः उसकी मृत्यु करवा दी। समय पाकर सच्चाई प्रकट हुई तो उदयन ने मागन्दीया को घोर दण्ड दिया।

मागन्दीया के माता-पिता भगवान का निरामिष दर्शन कर सके और जीवन मुक्त हो गए, परंतु मागन्दीया ने भगवान का सामिष दर्शन ही किया और अपना अमंगल कर बैठी। ●

(छह)

वक्कलि नाम का एक विद्वान उपासक भगवान बुद्ध के आश्रम में गया। महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से परिपूर्ण तथागत के सुंदर तेजस्वी शरीर ने, उनके प्रभावशाली ओजस्वी व्यक्तित्व ने उस भावुक उपासक को सहज ही आकर्षित कर लिया। उन भगवान अंगिरस के अंग अंग से जो प्रभा-रश्मियां प्रस्फुटित हो रहीं थीं, उन्होंने वक्कलि को भावाभिभूत कर दिया। उनके अंतर से उमड़नेवाली अपरिमित मैत्री और करुण-तरंगों का गहरा प्रभाव था ही। वक्कलि ने चाहा कि वह भगवान की इस अनुपम रूप-राशि का सदैव दर्शन करता रहे। अतः घर से बेघर हो, दाढ़ी मूंछ मुँडाकर प्रव्रजित हुआ और भिक्षु संघ में सम्मिलित हो गया। केवल इसीलिए कि उसे भगवान का सान्निध्य-सुख अधिक से अधिक प्राप्त हो सके। अब वह भक्ति के आवेश में अन्य सारे काम छोड़कर रस लोलुप भौंरे की तरह भगवान की रूप-माधुरी के चारों ओर मँडराने लगा। न समाधि द्वारा चित्त एकाग्रता का कोई अभ्यास और न ही विपश्यना द्वारा प्रज्ञा जाग्रत करने का कोई प्रयास। जब देखो तब भगवान के सामने बैठा हुआ, उनके प्रभामंडित चेहरे को अपलक, निर्निमेष देखता रहे। करुणामय भगवान ने देखा कि यह नया भिक्षु भक्ति-भावावेश में इतना अंधा हो गया है कि धर्म का सत्य स्वरूप समझ ही नही पा रहा। उन्होंने फटकारते हुए कहा, ''अरे नादान भिक्षु! मेरे इस शरीर को पागलों की तरह क्या देख रहा है? मेरी इस रूप-काया में क्या रखा है? यह भीतरसे उतनी ही गंदी है, जितनी कि किसी भी अन्य की काया। रूप का दर्शन मूर्खों को आनंदित करनेवाला होता है। यदि मुझे देखना है तो मेरे भीतर समाए हुए धर्म को देख। जो धर्म को देखता है, वही मेरे सच्चे स्वरूप को देख पाता है। जो सही माने में मुझे देखता है, वह मेरे भीतर समाए हुए सत्य-धर्म को ही देखता है, बाह्य शरीर को नही।''

यो खो धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति।
यो मं पस्सति, सो धम्मं पस्सति।।°

और फिर कहा,

अपस्समानो सद्धम्मं, मं पस्सपि न पस्सति।

''यदि सद्धर्म को नही देखता है तो मुझे देखते हुए भी नही देख रहा है।''

महाकारुणिक की इस धर्म फटाकर से अंधभक्ति के भावावेश में डूबे हुए वक्कलि भिक्षु के प्रज्ञा-चक्षु खुले। उसे भगवान की यह बात समझ में आई कि वस्तुतः वे धर्म के मूर्त स्वरूप हैं। अतः उनका दर्शन यदि काया-दर्शन तक ही सीमित रहे तो यह पागलपन होगा। उनके दर्शन में सत्यधर्म का दर्शन होना ही चाहिए। और यह सांदृष्टिक निर्वाण धर्म तो अंतर्मुखी होकर स्वयं अपने ही भीतर देखने के लिए है, बाहर नही। बात उसकी समझ में आ गई। विपश्यना प्रज्ञा द्वारा अपने भीतर का सत्य-धर्म-दर्शन किए बिना जीवन भर बुद्ध के चीवर को पकड़े हुए उनके पीछे लगे रहनेवाला भी उनसे कोसों दूर है। परंतु उनसे हजार योजन दूर कही किसी एकांत में अंतर्मुखी होकर सत्यधर्म का अपने भीतर साक्षात्कार कर लेनेवाला बुद्ध के अत्यंत समीप है। धर्म का साक्षात्कार ही बुद्ध का साक्षात्कार है। धर्म का सान्निध्य ही बुद्ध का सान्निध्य है। आखिर बुद्ध क्या है? सम्यक् संबोधि का जीता जागता स्वरूप ही बुद्ध है। इसीलिए तो तथागत को धर्मकाय और ब्रह्मकाय कहते हैं। धर्मभूत और ब्रह्मभूत कहते हैं।

तथागतस्स अधिवचनं धम्मकायो इतिपि, ब्रह्मकायो इतिपि, धम्मभूतो इतिपि, ब्रह्मभूतो इतिपि।

यह बात समझ में आते ही वक्कलि पर छाया हुआ भक्तिभावावेश का अंध घटाटोप दूर हुआ। सत्य धर्म का आलोक प्रकाशित हुआ। उसने भगवान से अंतर्मुखी होने की सरल विधि सीखी, विपश्यना साधना का कर्मस्थान सीखा और दूर एकांत में जाकर अभ्यास करने लगा। पुराने

भक्ति-भावावेश ने बीच-बीच में कुछ अड़चने पैदा की, परंतु अंततः वह सच्चा साधक निर्वाण का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हुआ। सभी आश्रवों, क्लेशों, संयोजनों और बंधनों को दूर कर, मृत्यु के पूर्व इसी जीवन में विमुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ। जबतक साकार देह की रूप-माधुरी का दर्शन करता रहा, तबतक उलझा ही रहा। ज्यो ही धर्मतरंगों के आधार पर भगवान का दर्शन किया याने, सत्य की अनुभूति की, तो सचमुच मुक्त हो गया। ●

(सात)

स्वयं बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम भी जब धर्म-दर्शन कर सके तो ही बुद्ध बन सके। वैशाख पूर्णिमा की रात, निरंजरा नदी के तट पर, बोधिवृक्ष के तले जब विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा अनेक पूर्व जन्मों का साक्षात्कार हुआ तो जाना कि इस भवसंसार में बार-बार जन्म दिलानेवाला, हर मृत्यु पर एक नए शरीर रूपी घर का निर्माण कर देनेवाला गृहकारक कौन है ? इसकी खोज में न जाने कितने जन्म गँवाए, पर सफलता नही मिली। बार-बार किसी न किसी लोक में दुःखमय जीवन मिलता ही गया। क्योंकि किसी देहधारी साकार सृजनकर्ता की गवेषणा चल रही थी। जब विपश्यना द्वारा सत्य-धर्म का याने ऋत का दर्शन हुआ तो बात समझ में आ गयी। सत्य ही तो ईश्वर है। परम सत्य ही तो परमेश्वर है। अनुभूति के स्तर पर कुदरत का सारा कानून स्पष्ट हो गया। कैसे भव-संसार बनता है ? बढ़ता है ? कैसे घटता है ? समाप्त हो जाता है ? यों सत्य का दर्शन करके सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई, भवचक्र से सर्वथा विमुक्ति प्राप्त हुई।

विपश्यना-शिविरों के दौरान ध्यान की अवस्था में कभी किसी साधक को भ्रामक साकार रूप-दर्शन की घटना घट जाती है, जो कि अंतर्मन पर पड़ी अपनी परंपरागत मान्यता का बाह्य प्रक्षेपण मात्र होता है। अतः सच्चाई से सर्वथा दूर होता है। जैसे किसी को ध्यान के समय ऐसी 'आत्मा' के दर्शन हो जाते हैं, जो कि अपने शरीर के आकार और माप की होती है।

किसी को हृदय की अंधेरी गुफा में 'अंगुष्ठ प्रमाण' 'आत्मा' के, किसी को 'तिल' के समान और किसी को 'बाल' के समान 'आत्मा' के दर्शन हो जाते हैं। भारतीयों को बहुधा किसी भक्तिमार्गी पुस्तक के चित्रकार की उर्वर कल्पना के अनुरूप शरीर के नग्न उर्ध्व भाग पर औरतों की तरह गहने लादे हुए, बिना दाढ़ी-मूंछ वाले ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं तो पश्चिम के किसी साधक को लंबा चोगा पहने हुए सफेद लंबी दाढ़ी-मूंछवाले ईश्वर के। इनमें से किसी के भी दर्शन द्वारा साधक के मनोविकार जरा भी दूर नही होते। यही इसकी भ्रामकता को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। दूसरी ओर जब साधक इस शरीर-चित्त-प्रपंच का यथाभूत ज्ञानदर्शन करता हुआ, उसके अनित्य स्वभाव का स्वानुभव करता हुआ, अपने विकारों से प्रत्यक्ष छुटकारा पाता है और इंद्रियातीत, नित्य, शाश्वत परम सत्य का दर्शन करके अपनी चित्त-निर्मलता को पुष्ट कर लेता है, तो इसी से स्पष्ट हो जाता है कि किसी काल्पनिक रूप-दर्शन में नही, बल्कि अंतर्मुखी हो स्वानुभूति द्वारा निराकार धर्म के, सत्य के दर्शन करने में ही हमारी स्वस्ति-मुक्ति समायी हुई है। इसी में हमारा सही मंगल है, सही कल्याण है। ●

धूप दीप नैवेद्य से, वन्दन छिछला होय।
जीवन जीएं धरम का, सही वन्दना सोय॥

उदान कथा

वंदना

धीरे-धीरे लोगों में, विशेषकर साधकों में यह बात फैलने लगी कि भगवान किस प्रकार की वंदना को सही वंदना मानते हैं। कैसी वंदना उन्हें प्रिय है? कैसी वंदना साधकों के लिए मंगलदायिनी है? विपश्यना साधना द्वारा दृढ़ पराक्रम करते हुए अपने मन के कषाय काटे याने, मैल दूर करे तो ही शास्ता का सही सम्मान होता है, उनकी सही वंदना होती है। यह बुद्ध मंतव्य स्पष्ट होने लगा। फिर भी अनेक लोग भगवान को साधारण औपचारिकता के रूप में वंदना करते ही रहे। परंतु ऐसे भी अनेक प्रसंग हैं, जो इस सच्चाई को प्रमाणित करते हैं कि कई साधक ऐसे थे, जो सही ढंग से ही वंदना करते थे।

(एक)

राजगिरि के धनश्रेष्ठि की पुत्री। युवावस्था में पांव फिसला तो घर से भाग निकली। भगोड़ी कन्या के एक-एक करके दो पुत्र हुए। दोनों ही सड़क के किनारे हुए। अतः दोनों का ही नाम पंथक रखा गया। बड़े का महापंथक और छोटे का चुल्ल पंथक। उम्र बढ़ने पर दोनों ने मां से अपने नाना-नानी के बारे में जानने की जिद्द की, तो उसने बता दिया। तब वे ननिहाल जाने के लिए मचलने लगे। वह बहुत दिनों तक टालती रही, पर जब उनका बहुत आग्रह देखा तो दोनों को साथ लेकर राजगिरि पहुँची। पिता ने बेटी को स्वीकार नही किया, पर नातियों पर प्यार उमड़ा और दोनों को घर पर रख लिया। वे वही पलने लगे।

सेठ धनश्रेष्ठि भगवान बुद्ध के विहार में धर्म-श्रवण करने जाया करता था। महापंथक भी साथ जाने लगा। उसके मन पर भगवान के उपदेशों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

महापंथक अपने हृदय के उद्गार इन शब्दों में प्रकट करता है :

"जब मैंने निर्भय शास्ता के पहले-पहल दर्शन किए तो मेरे मन में बहुत बड़ा धर्म संवेग जागा, पुलक रोमांच जागा, पर साथ ही यह बात भी समझ में आयी कि कोई व्यक्ति दोनों हाथ, दोनों पांव और सिर धरती पर लगाकर इस महापुरुष को पंचांग प्रणाम करे, अथवा आठों अंग धरती पर लगाकर साष्टांग प्रणाम करे, तो भी अपने उद्देश्य की पूर्ति नही कर सकता। बुद्ध की सही वंदना तो उनकी बताई हुई विधि का उपयोग कर चित्त निर्मल कर लेने से ही होगी। कल्याण तभी सधेगा।"

इसलिए सिर, दाढ़ी और मूंछ मुड़वाकर, घर से बेघर हो, वह प्रव्रजित हुआ और उनकी शिक्षा के मुताबिक शुद्ध शील का पालन करते हुए, शुद्ध आजीविका धारण करते हुए, इंद्रियों को वश में रखते हुए, सम्यक् संबुद्ध को नमस्कार करते हुए, मानसिक दूषणों से अपराजित रह, विपश्यी साधक का जीवन जीने लगा।

वह जान गया था कि संबुद्ध को सही ढंग से नमस्कार कैसे किया जाना चाहिए। **आरद्ध विरिये पहितत्ते निच्चं दळ्ह परक्कमे**— आत्मभाव याने अहंभाव को सर्वथा त्यागकर नित्य दृढ़ पराक्रम करते हुए मुक्तिहित पुरुषार्थ में लग जाना चाहिए। **एतं बुद्धान वन्दनं**— यही बुद्धों की सही वंदना है और इसी वंदना में वह लगनपूर्वक लग गया। उसने यह दृढ़ निश्चय किया कि तृष्णा के तीर को हृदय से पूर्णतया निकाले बिना वह तनिक भी विश्राम नही करेगा। सारी रात पराक्रम करते हुए अर्हंत पद प्राप्त करके ही वह विश्राम करने बैठा। सचमुच महापंथक ने बुद्ध वंदना को खूब समझा और खूब ही सार्थक वंदना भी की उसने। ●

(दो)

तीन सौ शिष्यों के साथ नित्य कर्मकांडों में रत रहनेवाला संन्यासी नदीकाश्यप। जब वह भगवान के संपर्क में आया तो उनकी अमृतमयी

धर्मवाणी सुनकर मिथ्या कर्मकांडों से मुक्ति पाकर भगवान से विपश्यना सीखी। उसका पराक्रम पूर्वक अभ्यास कर जब अर्हंत पद को प्राप्त हुआ तो अपनी मुक्ति का गान-गाते हुए उसने यह हर्ष उद्घोषणा की —

"मैं अंधा था, अभिमानी था, अग्निपूजन के कर्मकांडों में पड़ा हुआ मिथ्या दृष्टियों में उलझा था। आसक्तियों में बँधा था। अब मैं सभी बंधनों से मुक्त हुआ। भवचक्र टूटा। मोह दूर हुआ और तृष्णा विदीर्ण हुई। जन्म-मरण का चक्र छूट गया। अब मेरा कोई पुनर्जन्म नही होनेवाला। सही माने में जो पूजनीय अग्नि है, अब मैं उसी की उपासना करता हूं। पूजनीय अग्नि यह विपश्यना है, जो हमारे भीतर संग्रहीत समस्त पाप कर्मों को जलाकर भस्मीभूत कर देती है। ऐसी पूजनीय अग्नि जो बुद्ध में जागी, वही मुझ में भी जागी। उसी की उपासना करता हूं। उसी के सान्निध्य में रहता हूं। पहले बाहरी अग्नि को नमस्कार करता था, पर अब इस भीतरी विपश्यना-अग्नि के रूप में बुद्ध को नमस्कार करता हूं।" सचमुच यही तो बुद्ध-वंदना है।

धन्य हुआ मुनि नदीकाश्यप और धन्य हुई नदीकाश्यप की सही बुद्ध-वंदना। ●

(तीन)

कोशलनरेश के राजपुरोहित का पुत्र जयंत। उच्च जाति के गर्व-घमंड में, धन-संपदा के अहंकार अभिमान में, रूप-यौवन के मदमत्त नशे में वह इस प्रकार अंधा हुआ कि न अपने माता-पिता को नमन करे, न गुरूजनों को, न शीलवान श्रमण-ब्राह्मणों को। अहंकार का पुतला अभिमान के दर्प में प्रमत्त हो उठा। लेकिन अपने किसी पुण्य कर्म के कारण भगवान के संपर्क में आया याने शुद्ध धर्म के संपर्क में आया तो होश जागा। भगवान की अमृतवाणी सुनकर साधना में प्रवृत्त हुआ। जब अर्हंत अवस्था को जा पहुँचा तब कहता है :

"अब मेरा अभिमान, अवमान क्षीण हुआ, पूर्ण विनष्ट हुआ। अहंभाव विगलित हुआ, जड़ से उखड़ गया।" और कहता है :

"मैंने सही रूप में भगवान का दर्शन किया याने उनके गुणों का दर्शन किया कि वह विशिष्ट नायक हैं, विनायक हैं। प्राणियों में अग्र हैं, सारथियों में उत्तम सारथी हैं याने, बिगड़ैल घोड़ों जैसे गलत रास्ते पड़े उद्धत लोगों को सही रास्ते ले जाने में कुशल हैं। भिक्षु संघ द्वारा पूजित प्रकाशमान सूर्य जैसे हैं।

सिरसा अभिवादेसिं सब्बसत्तानमुत्तमं

सब प्राणियों में श्रेष्ठ उन भगवान बुद्ध को मैंने सिरसे नमस्कार किया।

यों सिर झुका कर नमस्कार करने के पूर्व अंततप करते हुए, जो सही वन्दना की, उसी से अहं-विमुक्त हुआ, उसी से अर्हंत हुआ। ●

(चार)

मगध के धनी संभ्रांत कुल में उत्पन्न गोशाल। अपने पूर्व परिचित महाधनी सोण आदि को भगवान से प्रव्रज्या लेने और अध्यात्म की ऊंची अवस्थाएं प्राप्त कर लेने के संवाद ने उसके मन में साधना के प्रति धर्म संवेग जगाया। वह भी घर से बेघर हो, भिक्षु हो, भगवान से साधना-विधि सीख, समीप के पहाड़ी प्रदेश में ध्यान करने चला गया।

शरीर-स्कंध और चित्त के चारों स्कंध, ये पाचों किस प्रकार प्रतिक्षण उत्पन्न और नष्ट हो रहे हैं, विपश्यना द्वारा इंद्रिय जगत के इस उदय-व्यय स्वभाव को स्वानुभूति पर उतारने लगा। यही उसकी बुद्ध और बुद्ध की शिक्षा के प्रति सही प्रदक्षिणा हुई याने वंदना हुई और उसी वंदना के आधारपर वह भवचक्र से मुक्त हुआ; अर्हंत पद पर आसीन हुआ। वंदना, प्रदक्षिणा सफल हुई; धन्य हुई। ●

(पांच)

राज़गृह के ब्राह्मण कुल में जन्मा उज्जय। अनेक शास्त्रों का अध्ययन और कर्मकांडों का संपादन किया, पर उनमें सार नही पाया। वेणुवन में भगवान के संपर्क में आया। उनकी अमृतवाणी सुन प्रव्रजित हो, उनसे विपश्यना साधना की विधि सीखकर पराक्रमपूर्वक प्रयास करते हुए परम मुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ।

अर्हंत उज्जय हर्ष-उदान की वाणी में कहता है,

"हे वीर! हे बुद्ध! तुम्हें नमस्कार करता हूं। आप सभी प्रकार की उपाधियों से सर्वथा विमुक्त हो चुके हैं। आप के मंगल उपदेशों का अनुसरण कर मैं भी अनास्रव याने, आस्रवों से पूर्णतया विमुक्त होकर विहार करता हूं।"

यही तो उस वीर बुद्ध की सही वंदना है।

आओ! साधको, पूर्व काल के इन संतों-अरहन्तों की भांति और इन्ही जैसे हजारों अन्य साधक-साधिकाओं की भांति हम भी सही दर्शन और सही वंदना करना सीखें और सचमुच अपना कल्याण साध लें। ●

(छह)

समय बीतता है। किसी बुद्ध के सिखाए हुए पुरातन शुद्ध धर्म में नाना प्रकार की अशुद्धियां आ जाती हैं। लोग मुक्तिदायिनी शुद्ध साधना करनी भूल जाते हैं। धर्म के नाम पर किसी न किसी सांप्रदायिक जंजाल को अपने गले का हार बना लेते हैं। कर्मकांड प्रमुख हो जाते हैं। बाह्य आडम्बर प्रधान हो जाते हैं और फिर भिन्न-भिन्न थोथी काल्पनिक दार्शनिक मान्यताओं का घटाटोप सच्चाई के मुक्तिपथ को आंखों से ओझल कर देता है।

ऐसे समय कोई व्यक्ति सत्य की खोज करता हुआ फिर शुद्ध मार्ग ढूंढ

निकालता है। स्वयं उस पर आरूढ़ होकर परम सत्य के अंतिम लक्ष्य तक पहुँचता है और शुद्ध बुद्ध हो जाता है। भव-संस्कारों की बेड़ियां तोड़कर भवबंधन से पूर्णतया उन्मुक्त हो जाता है। लोकीय और लोकोत्तर सभी सच्चाइयों से पूर्णतया अभिज्ञ हो जाता है। ऐसा व्यक्ति जगत-जंजाल में उलझे हुए लोगों की दयनीय दशा देखकर असीम करुणा से भर उठता है। जानता है कि सारे लोग मुक्ति के इस कठिन मार्ग पर चलकर अंतिम लक्ष्य तक नही पहुँच पायेंगे, पर जितने इसके योग्य हैं, उन्हें तो यह विमुक्ति पथ मिले। अन्य लोग भी जितने-जितने चल पायेंगे उतने तो लाभान्वित होंगे ही। इस जन्म में नही तो किसी भावी जन्म में मुक्त हो जायेंगे। कोई इस मुक्ति मार्ग पर एक कदम भी नही चलना चाहेगा तो क्या किया जाय ? ऐसा व्यक्ति अपने ही मंगल से वंचित रह जायेगा। समीप ही गंगा बहती हो तो भी प्यासा का प्यासा रह जायेगा। पर जो जितना लाभ उठा पायेंगे, उतना तो उठाएं। उन्हें वंचित क्यों रखा जाय? इस अत्यंत करुण चित्त से मार्ग प्रकाशित करने के लिए कृतसंकल्प होता है। आरंभ में कुछ कठिनाइयां आती हैं। भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों में उलझे हुए लोग मन में शंकाएं जगाते हैं। क्या यह व्यक्ति सचमुच बुद्ध हो गया है ? यह जो बताता है क्या यह सचमुच मुक्ति का मार्ग है ? हमारी परंपरागत मान्यता से तो मेल नहीं खाता, सही मार्ग कैसे होगा? आदि-आदि शंकाएं, कुशंकाएं मन में जगाते हैं। पर उसकी अमृत वाणी सुनकर धीरे-धीरे आश्वस्त होते हैं। स्वानुभूति द्वारा उनके प्रति और मुक्तिदायिनी साधना-विधि के प्रति सर्वथा निशंक हो जाते हैं।

भगवान गौतम बुद्ध सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर जब अपने पांच तपस्वी साथियों को विमल विमुक्ति का मार्ग दिखाने ऋषिपत्तन मृगदाय गए तो यही हुआ। उनकी जन्मभूमि शाक्य प्रदेश से आए हुए ये पांचों साथी जो लगभग छह वर्ष तक उनके साथ रहकर भिन्न-भिन्न साधनाओं में उनका साथ देते रहे, वे ही उनके प्रति इस प्रकार शंकालु बन गए थे। अपनी अंधी मान्यता

का आवरण उन्हें यह स्वीकार ही नही करने देता था कि यह व्यक्ति सम्यक् सम्बुद्ध बन गया होगा। उन्होंने इसे कायदंडन की घोर तपस्या करते हुए देखा था। ऐसी दुर्द्धर्ष दुष्कर चर्या, जो कि सामान्य व्यक्ति के लिए बिल्कुल असंभव थी। परन्तु उससे किंचित् मात्र भी लाभ न देखकर जब उसे त्याग दिया और मध्यम मार्ग अपनाया तो ये पांचों के पांचों बड़े निरुत्साहित हुए। अन्ध मान्यताओं के गुलाम! वे यह स्वीकारने को ही तैयार नही कि काय-दंडन के अतिरिक्त और भी कोई मुक्ति का मार्ग हो सकता है। उनकी दृष्टि में तो जिसने देह-दंडन का मार्ग छोड़ दिया, उसने मुक्ति का मार्ग छोड़ दिया। ऐसा व्यक्ति बुद्ध कैसे हो सकता है? शंकाएं ही शंकाएं। अश्रद्धा ही अश्रद्धा। यहां तक कि उसे दूर से आता देखकर सामान्य शिष्टाचारजन्य स्वागत-सत्कार करने को भी तैयार नहीं थे।

परन्तु भगवान की सत्य-निष्ठ वाणी से कुछ प्रभावित होकर उनका उपदेश सुना। जब भगवान ने कहा कि मैंने जीवन-जगत की चारों सच्चाइयों को केवल बुद्धि के स्तर पर चिंतन मनन करके ही नही स्वीकारा है, मैंने अपने भीतर उनका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। जो कुछ कहता हूं, स्वानुभव के आधार पर कहता हूं। मैंने केवल दुख और दुख के मूलभूत कारण का सारा क्षेत्र ही अनुभूति के स्तर पर नही जान लिया, बल्कि दुःख का नितांत निरोध और निरोध के उपाय को भी स्वयं अनुभव करके जान लिया है।

कायाकष्ट की कठोर दुष्कर दुश्चर्या को त्याग कर भी कोई व्यक्ति दुःखविमुक्ति के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच सकता है, इसका पूरा विश्वास नही हो रहा था। परन्तु उन्होंने जब भगवान की वाणी को अनुभव पर उतारा तो एक के बाद एक श्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त करते हुए नितांत विमुक्त अर्हंत अवस्था उपलब्ध कर ली। अब शंका-संदेह के लिए स्थान ही नही रह गया। प्रत्यक्ष से बढ़कर प्रमाण ही क्या?

भगवान के यह पांचो पुराने सहयोगी अपने अन्य अर्हंत साथियों

सहित धर्मचारिका के उस प्रथम अभियान में सम्मिलित हुए जिसके अन्तर्गत एक-एक अर्हंत ने अलग-अलग मार्ग पर जाकर नगर-नगर, गांव-गांव और घर-घर में शुद्ध धर्म का संदेश पहुँचाया और असीम अनुकम्पापूर्वक बहुजन हितसुख में लग गए। कृतज्ञता-विभोर हो लोकसेवा में लग गए। अपने शास्ता के प्रति उनकी यही सही वन्दना हुई। ●

(सात)

कोई भाग्यशाली व्यक्ति स्वयं भगवान तथागत के संपर्क में आता है। उनकी अमृतवाणी सुनकर समुत्साहित होता है। जीवन-मरण के भवचक्र से छुटकारा पाने के लिए कृतसंकल्प होता है। भगवान से साधना की विधि सीख कर किसी एकांत स्थान में जाकर तपता है। शील का पालन करते हुए समाधि को सम्पुष्ट करता है और भावनामयी प्रज्ञा जगाकर विपश्यना का अभ्यास करता है और यों अपने एक-एक पूर्व संचित कर्म-संस्कारों का प्रहाण करता हुआ चित्त को संस्कार-विहीन कर लेता है। भवनेत्री काट लेता है। समस्त आस्रवों का क्षय करके अनास्रव हो जाता है। कृतकृत्य हो जाता है, भारमुक्त हो जाता है, पुर्नजन्म से छुटकारा पा लेता है तो स्वभावतः भगवान के प्रति असीम कृतज्ञता से विभोर हो उठता है।

ऐसा ही एक शाक्य राजकुमार। नाम भगु। सद्धर्म के संपर्क में आया तो श्रद्धापूर्वक प्रव्रजित हो विपश्यना साधना में जुट गया। परन्तु बार-बार आलस्य सिर पर सवार होने लगा। अपने मार्गदर्शक का आदेश याद आया– 'बहुत आलस्य आए तो कुछ देर चंक्रमण करो याने चलते हुए साधना करो।' तो ऊंचे बने हुए चंक्रमण स्थान पर चलते हुए साधना करने लगा। परन्तु निद्रा इतनी प्रबल थी कि चंक्रमण भूमि से नीचे गिर पड़ा। इससे हतोत्साहित होने के बजाय घुटने झाड़कर उठा और दुगुने पराक्रम से चंक्रमण करने लगा। निद्रा-आलस्य के इस आवरण को दूर करके साधना में लीन हो गया। यों चलते-चलते साधना करते हुए मन को सजग भी कर

लिया और समाहित भी। यों करते हुए,

ततो मे मनसीकारो योनिसो उदपज्जथ

मेरे मन में योनिसोमनसिकार जागा यानी सम्यक् संकल्प जागा।

आदिनवो पातुरहु

इस चित्त और शरीर प्रपंच के प्रति जो आसक्ति है वह कितनी खतरनाक है, यह बोध जागा। परिणाम स्वरूप,

निब्बिदा समतिट्ठथ

इस प्रपंच के प्रति निर्वेद जागा और मन स्थिर हुआ।

ततो चित्तं विमुच्चि मे

इससे मेरा चित्त विमुक्त हुआ। सभी संस्कारों से छुटकारा पा लिया।

पस्स धम्मसुधम्मतं

देखो, धर्म की इस सुधर्मता को देखो, महिमा को देखो, महत्ता को देखो।

तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता

मैंने तीनों विद्याएं प्राप्त कर ली।

कतं बुद्धस्स सासनं

और बुद्ध के शासन को याने शिक्षा को पूरा कर लिया।

यों धर्म की महिमा गाता हुआ विमुक्त साधक बुद्ध की ही महिमा गाता है। धर्म की वन्दना करता हुआ बुद्ध की ही वंदना करता है। ●

(आठ)

श्रावस्ती के धनी ब्राह्मण कुल में जन्मा सुगन्ध नामक युवक।

विपश्यना साधना सीखकर घर से बेघर हो, एकांत में जाकर अभ्यास करने लगा। पूर्व जन्मों की संचित पारमिताओं के कारण सात दिनों की तपस्या से ही अर्हंत अवस्था प्राप्त कर ली और मुक्ति के हर्ष में, उसने यह मोद-भरे शब्द कहे :

अनुवस्सिको पब्बजितो

वर्षा के बाद ही तो मैं प्रव्रजित हुआ।

पस्स धम्मसुधम्मतं

देखो धर्म की सुधर्मता को। देखो धर्म की महिमा को।

तिस्सो विज्जा अनुपत्ता

इतनी शीघ्र तीनों विद्याओं (दिव्य दृष्टि, पूर्व जन्मों की स्मृति और आस्रव-क्षययुक्त अवस्था) का साक्षात्कार कर,

कतं बुद्धस्स सासनं

मैंने बुद्ध का सासन पूरा किया। उनकी शिक्षा के अनुसार जो कुछ करना था, सारा पूरा कर लिया। शील, समाधि, प्रज्ञा में प्रतिष्ठित हो; निर्वाण का साक्षात्कार कर लिया।

धन्य है धर्म की धर्मता, धन्य है धर्मपालक की महत्ता। •

(नौ)

मगध के एक ब्राह्मणकुल में उत्पन्न मेत्तजि नामक युवक। अपने पूर्व जीवन के कुशल कर्मों के कारण तरुण अवस्था में ही काम-भोग के जीवन से विरक्ति उत्पन्न हुई और वन में रहता हुआ तापस का जीवन जीने लगा। परन्तु सही मार्ग न मिलने के कारण भटकता रहा। कालांतर में बुद्ध के बारे में प्रशंसा के शब्द सुने तो उनसे मिलने आया। लगता है उन दिनों मुक्ति के

दो ही रास्ते लोकमान्य थे। एक तो गृहस्थ आश्रम के सभी कामभोगों में लिप्त रहते हुए किसी पुरोहित द्वारा यज्ञादि का काम करवाकर किसी देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म को प्रसन्न कर मुक्त होने की मान्यता। दूसरा निवृत्ति का मार्ग याने गृहत्याग कर शरीर को घोर कष्ट देकर मुक्त होने की मान्यता। प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों के विषय में उसने भगवान से अनेक प्रश्न किए और भगवान ने इन दोनों को छोड़कर मध्यम मार्ग के औचित्य को समझाया। इससे संतुष्ट होकर, श्रद्धाबहुल होकर उसने शुद्ध धर्म की साधना शुरू की। अरण्य में जाकर कठिन परिश्रम करते हुए विपश्यना विधि से अपने समस्त संचित कर्मसंस्कारों का उत्खनन कर मुक्त अवस्था प्राप्त की। अपने अन्तर्मन की आस्रव-विमुक्ति का साक्षात्कार कर कृतज्ञता के भावों से अभिभूत हुआ और भगवान के प्रति वंदना की गाथा गायी।

नमो हि तस्स भगवतो

नमस्कार है उन भगवान को।

सक्यपुत्तस्स सिरीमतो

उन शाक्यपुत्र को जो धर्मकाया के श्रीवैभव से संपन्न हैं।

तेना'यं अग्गपत्तेन

जिन्होंने स्वयं निर्वाण की अग्र अवस्था प्राप्त करके,

अग्गधम्मो सुदेसितो

अग्रधर्म का अच्छा उपदेश दिया।

ऐसे अग्रधर्म का पालन करता हुआ मेत्तजित स्वयं अग्र अवस्था प्राप्त कर, जब बुद्ध की वंदना करता है तो सही वंदना करता है। अग्रधर्म की ही वंदना करता है।

साधको आओ ! हम भी इसी प्रकार अग्रधर्म को धारण कर, अग्र प्राप्त सम्यक् सम्बुद्ध की सही वंदना करें और अपना कल्याण साध लें। •

(दस)

अहं सुगत ते माता त्वं च वीर पिता मम !

"हे सुगत (बुद्ध) ! मैं तुम्हारी माता हूं। और हे वीर (बुद्ध) तुम मेरे पिता हो।"

एकसौ बीस वर्ष की पूर्ण पकी हुई अवस्था। देह त्यागने और परिनिर्वाण प्राप्त करने की ओर आमुख। ऐसे समय महाप्रजावती गौतमी द्वारा भगवान बुद्ध के प्रति प्रकट किए गए यह हृदयोद्गार कितने अटपटे हैं। लेकिन साथ ही कितने सार्थक भी।

शिशु सिद्धार्थ गौतम जन्म के सात वें दिन मातृ-विहीन हो गए। जन्मदायिनी माता महामाया स्वर्ग सिधार गयी। महाप्रजावती गौतमी महामाया की ही सगी छोटी बहन। दोनों बहनें कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन को एक साथ ब्याही गयी। जन्मदायिनी माता महामाया के स्वर्ग सिधारने पर शिशु सिद्धार्थ की मौसी मां प्रजावती ही उनकी क्षीरदायिनी ममतामयी माता हुई। स्वयं अपने जन्मे पुत्र नंद को दूध देनेवाली किसी धाय को सौंपकर उसने शिशु सिद्धार्थ को अपने अंक से लगाया और अपना दूध पिलाकर बड़े प्यार से पाला। इसीलिए कहती है, **अहं सुगत ते माता** — हे बुद्ध ! मैं तुम्हारी माता हूं।

माता गौतमी ने वृद्धावस्था में अत्यंत आग्रहपूर्वक भगवान से प्रव्रज्या ली, उपसंपदा ली, भिक्षुणी बनी और विपश्यना साधना की कल्याणकारिणी विधि सीखकर सारे कर्म-क्लेशों से मुक्त हो अर्हंत अवस्था प्राप्त की। जिन्होंने भी भगवान से सद्धर्म प्राप्त कर मुक्ति का मार्ग पाया वे सभी पुरुष भगवान के औरस पुत्र, वे सभी नारियां भगवान की औरस पुत्रियां कहलायी। उम्र और सांसारिक संबंधों के कारण कोई व्यवधान बाधा नही मानी गयी। इसलिए कहा, **त्वं च वीर पिता मम** —हे बुद्ध ! तुम मेरे पिता हो।

परम साध्वी महाप्रजावती अत्यंत प्रसन्न चित्त है। थोड़े समय बाद ही वह अपना शरीर छोड़ेगी। यह उसकी अंतिम मृत्यु होगी। आगे जन्म होनेवाला नही है। अतः भविष्य में कोई मृत्यु भी नही है। सदाके लिए भव चक्र से मुक्ति मिलेगी। अपने परम उपकारक पुत्र और साथ ही पिता भगवान गौतम बुद्ध के प्रति कृतज्ञता के उद्गार प्रकट करती हुई महाप्रजावती कहती है:

"हे पिता! तुमने मुझे सद्धर्म में जन्म दिया।

हे पुत्र! मैंने तुम्हें अपने स्तनों का दूध पिलाकर थोड़ी-थोड़ी देर के लिए तुम्हारी क्षुधा-पिपासा बुझायी।

परंतु हे पिता! तुमने मुझे सद्धर्म का परम शांतिदायी अमृतरस पिलाकर मेरी जन्म-जन्म की तृष्णा बुझायी।

हे पुत्र! मैंने तुम्हारे भौतिक शरीर के संवर्धन के लिए तुम्हें दुग्धपान कराया।

बदलेमें, हे पिता! तुमने मेरी निर्मल धर्मकाया के संवर्धन के लिए मुझे अमृत-पान कराया।

इस संसार में किसी नारी के लिए राजमहिषि और राजमाता कहलाना भले सुलभ हो, परंतु बुद्धमाता कहलाना सचमुच अत्यंत दुर्लभ है। हे पुत्र! तेरे कारण ही मुझे यह गौरवशाली पद सुलभ हुआ।"

निष्काम सेवाभाव और कृतज्ञता, यह दोनों बड़े अनमोल सद्गुण हैं। इसीलिए दुर्लभ हैं। धर्मनिष्ठ व्यक्ति स्वभाव से ही इन दोनों सद्गुणों से संपन्न होता है। इसी कारण साध्वी प्रमुखा महाप्रजावती का हृदय कृतज्ञता के भावों से सराबोर है। उस धर्ममयी की वाणी के एक-एक शब्द से कृतज्ञता का धर्मरस चूता है।

वह अपने अभिज्ञान धर्मबल से अपने अनेक पूर्व जन्मों का स्मरण

करती है और कहती है, "इस संसार में मैं कितनी बार कही किसी की माता, किसी का पुत्र, किसी का पिता, किसी का भाई, किसी की दादी, नानी बनी। परंतु प्रत्युत्पन्न सत्य को यथाभूत देख सकने की विपश्यना-विधि न जानने के कारण इस भव-चक्र में, बिना कुछ पाए, बिना रुके संसरण ही करती रही।

इस बार मैंने मार्गदर्शक शास्ता भगवान बुद्ध को पहचान लिया –

परिचिण्णो मया सत्था।

इस बार मैंने भगवान के दर्शन (जिस प्रकार करना चाहिए वैसे) कर लिये –

दिट्ठोहि मे सो भगवा।

और परिणामस्वरूप मैं मुक्त हो गयी हूं। अब यह मेरा अंतिम शरीर है। भव-संसार में अब मेरा जन्म क्षीण हो गया है। आवागमन बंद हो गया है। अब मेरा पुनर्भव नही है।

मैंने सारे दुःखों का परिज्ञान प्राप्त कर लिया है। याने उनकी उत्पत्ति से लेकर पूर्ण क्षय तक की सभी अवस्थाओं का साक्षात्कार कर लिया है। फलस्वरूप दुःखों के मूल कारण तृष्णा के स्रोत को सुखा लिया है। आर्य अष्टांगिक मार्ग की भावना करके मैंने इंद्रियातीत निर्वाणिक परम सत्य का अनुभव कर लिया है।

जिस प्रकार मेरे दुःख कटे हैं, उसी प्रकार भगवान बुद्ध से प्राप्त प्रशिक्षण के कारण जन्म, जरा, व्याधि और मरण के बंधनो में बँधे हुए अनेक लोगों के दुःख-पुंज कटे हैं।"

ऐसे अवसर पर प्रजावती अपनी स्वर्गीया बहन महामाया का स्मरण करती है और कृतज्ञता विभोर होकर कहती है :

बहूनं वत अत्थाय माया जनयि गोतमं।

'हे माया! तूने सचमुच बहुतों के कल्याण के लिए ही गौतम को जना।'

और भगवान के प्रति असीम श्रद्धा प्रकट करते हुए कहती है:

''हे भगवन्! आपने मुझे और मेरी तरह अनेकों को दुःखों से उबारा है। प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हे बुद्ध! हे वीर! तुम्हें नमस्कार है।''

वह सही प्रकार के बुद्ध-नमस्कार को खूब समझती है। सही ढंग से किए गए नमस्कार के परिणाम-स्वरूप ही तो वह स्वयं मुक्त हुई थी। उसे कैसे भूलती भला? अतः औरों को भी वैसा ही नमस्कार करने का उपदेश देती है।

उस महा वत्सला के शीघ्र परिनिर्वाण की घोषणा सुनकर साध्वी संघ की वे भिक्षुणियां जो अभी मुक्त अवस्था को नहीं प्राप्त हुई थी, उस ममतामयी के बिछोह का दुःख न सह सकने के कारण करुणक्रन्दन करने लगी। धर्ममयी साध्वी प्रमुखा महाप्रजावती गौतमी ने उन्हें समझाते हुए कहा,

''अरे! यह तो आनंद-भेरी बजने की मंगल-बेला है। जन्म-मृत्यु के दुःखों से सदा के लिए छुटकारा पाने का पावन उत्सव है। मेरी प्यारी पुत्रियों! ऐसे समय तुम्हारी आंखें गीली क्यों हैं?''

और फिर कहा:

सचे मयि दया अत्थि यदिचत्थि कतञ्ञुता।
सद्धम्मट्ठितिया सब्बा करोथ विरियं दळ्हं॥

''यदि सचमुच तुम्हारे मन में मेरे प्रति करुणा के भाव अथवा कृतज्ञता के भाव जागे हैं तो उन्हें प्रकट करने का एक मात्र तरीका यही है कि तुम सद्धर्म में प्रतिष्ठित होने के लिए दृढ़ पुरुषार्थ करो।''

यही सच्ची वंदना है। यही सच्चा सम्मान है।

इसी प्रकार भिक्षुओं में जो मुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं हुए थे वे भी इस प्रसंग से शोक-विह्वल हो उठे। भगवान बुद्ध का चचेरा भाई याने महाप्रजावती का भतीजा भिक्षु आनंद भी शोक-संतप्त हो उठा। उसे समझाते हुए इस धर्ममयी की मंगलवाणी फूटी —

''गंभीर ज्ञानसागर भगवान बुद्ध की सेवा में निरंतर तत्पर रहनेवाले आनंद! इस हर्ष की बेला में तुम्हारा शोक प्रगट करना शोभनीय नही है। तुम्हारे ही सत्प्रयत्नों से मुझे भगवान से प्रव्रज्या मिली और यह कल्याणकारी साधना मिली, जिससे कि निर्वाण का साक्षात्कार हुआ, मुक्ति का साक्षात्कार हुआ।

मा पुत्त विमनो होहि

''हे पुत्र! तू दुर्मन, दुःखी मत हो।''

मुझसे स्नेह है तो मुक्ति के मार्ग पर परिश्रम ही कर।

सफलो ते परिस्समो।

तेरा परिश्रम सफल होगा।

यही सच्ची वंदना है। यही सच्चा सम्मान है।

और फिर इसी अवसर पर एक पूर्व प्रसंग की प्रेरणादायक घटना कह सुनाई। तब प्रव्रजित हुए थोड़े ही दिन हुए थे। अभी निर्वाण का साक्षात्कार नही हुआ था। एक दिन धर्मसभा में धर्म सिखाते हुए भगवान को छीक आ गयी। साध्वी गौतमी ने अपने पूर्व मातृ-स्वभाव के अनुसार अपने पुत्र के प्रति मंगल कामना के ये शब्द कहे,

चिरंजीव महावीर कप्पंतिट्ठ महामुने।
सब्बलोकस्स अत्थाय भवस्सु अजरामरो॥

''हे महावीर! तुम चिरकाल तक जीओ। हे महामुनि! तुम कल्प भर

प्रतिष्ठित रहो। सकल लोक के भले के लिए तुम अजर रहो, अमर रहो।''

भगवान को यह वंदना, यह मंगल कामना उचित नहीं लगी। उन्होंने कहा, ''प्रजावती ने इस समय मेरी जैसी वंदना की, वह अनुचित है। उचित नहीं।''

प्रजावती ने उत्सुकतावश पूछा,

''भगवन्! आप सर्वज्ञ हैं। हमें किस प्रकार आप की वंदना करनी चाहिए और किस प्रकार नहीं करनी चाहिए? कृपया इसे समझाइए।''

समीप ही सामूहिक साधना में लगे हुए साधक संघ की ओर संकेत करते हुए भगवान ने कहा :

आरद्ध विरिये पहितत्ते निच्चं दळ्ह परक्कमे।
समग्गे सावके पस्स एतं बुद्धान वन्दनं॥

एतं बुद्धान वन्दनं।

यह है बुद्धों की वंदना।

देखो! ये स्रावक संघ किस प्रकार एकत्र होकर समग्र रूपसे साधना में लगे हैं। चित्त-शुद्धि के लिए नित्य दृढ़ पराक्रम करते रहते हैं। सचमुच यही है बुद्धों की वंदना।

कोई भी समझदार बुद्ध श्रावक और किस प्रकार बुद्ध की वंदना करे भला? उनके बताए हुए साधना के मार्ग पर दृढ़ संकल्प से आरूढ़ हो जाय और अपना मंगल साध ले। शास्ता की इससे बढ़कर और कोई पूजा वंदना हो ही नहीं सकती।

आओ साधकों! आज के इस पावन बोधि-दिवस पर भगवान बुद्ध की सही वंदना करें। दृढ़ संकल्प के साथ धर्म के पथ पर आरूढ़ हो जायँ और सचमुच अपना मंगल-कल्याण साध लें। ●

(ग्यारह)

जब कोई सिपाही अपने सेनापति को सलामी देता है याने वंदन करता है तो बड़ी मुस्तैदी से अपनी बंदूक को हाथ में पकड़ता है, जितनी हो सके उतनी छाती चौड़ी करता है, गर्दन सीधी करता है, कंधे चौरस करता है और सावधान की मुद्रा धारण करता है। एक सैनिक द्वारा अपने सेनापति की यही वंदना है, यही सम्मान है। सेनापति ने उसे सावधान रहना सिखाया है और वह वंदना के रूप में संपूर्ण सावधानी ही व्यक्त करता है। यों आज्ञा का पालन करता हुआ अपने बड़े का सम्मान करता है।

इसी प्रकार जिस सम्यक् संबुद्ध ने हमें सजग रहते हुए अंतर्मुखी हो, मुक्तिदायिनी विपश्यना करनी सिखाई उसकी सही वंदना यही है कि हम पालथी मारकर बैठें, कमर, पीठ, गर्दन सीधी रखें और अंतर्मुखी होकर काय-चित्त-प्रपंच के प्रति अनासक्त रहते हुए विपश्यना करें। **एतं बुद्धान वंदनं।**

सामान्यतया किसी श्रद्धालु के मन में श्रद्धा उमड़ती है तो वह अपने श्रद्धाभाजन के चरणों में फूल चढ़ाता है। भक्त के मन में भक्ति उमड़ती है तो वह अपने भगवान को पुष्पांजलि अर्पित करता है और अपनी भक्ति-भावना प्रकट करता है। लोक जीवन में ऐसा ही होता है। इसके अपने थोड़े से लाभ भी हैं। इससे चित्त प्रमुदित होता है। कुछ देर के लिए विकार-विहीन होता है। अतः कल्याण फलगामी होता है, परंतु मुक्त नहीं होता। और सम्यक् संबुद्ध तो भवचक्र से मुक्त होना सिखाते हैं। अतः सम्यक् संबुद्ध के सच्चे अनुयायी द्वारा की गयी वंदना तो उपरोक्त प्रकार की ही होनी चाहिए। सामान्य श्रद्धालु असाधक की बात अलग है। ●

(बारह)

भगवान की अस्सी वर्ष की अवस्था। वैशाख पूर्णिमा की रात। यह घोषणा हो चुकी है कि इस रात की समाप्ति पर भगवान अपना शरीर त्यागेंगे। महापरिनिर्वाण प्राप्त करेंगे। कुशीनगर के एक छोर पर एक विहार के बाहर खुले में, युग्म साल वृक्ष के नीचे बिछी हुई संघाटी पर भगवान लेटे हैं। आनंद उनकी सेवा पर है। अंतिम दर्शनों के लिए भक्तजनों की भीड़ उमड़ रही है। लोग भगवान के सम्मान में पुष्प आदि चढ़ा रहे हैं। कहते हैं, उस समय उन युग्म साल वृक्षों में बिना मौसम के फूल खिल उठे और भगवान के शरीर पर गिरने बिखरने लगे। भक्ति-विह्वल देवगण भगवान पर दिव्य पुष्प और दिव्य चंदन चूर्ण बरसाने लगे। दिव्य वाद्य और संगीत बजने लगे। तब भगवान ने आयुष्मान् आनंद को संबोधित करते हुए कहा, ''आनंद! यह जो पुष्प-वर्षा हो रही है, वाद्य और संगीत बज रहे हैं, इनसे तथागत का मान-सम्मान, आदर-सत्कार, पूजन-अर्चन नही होता। तथागत का मान-सम्मान, आदर-सत्कार, पूजन-अर्चन तभी होता है जबकि कोई भिक्षु या भिक्षुणी, गृहस्थ उपासक या उपासिका सद्धर्म के मार्ग पर आरूढ़ होता है। धर्मानुसार आचरण करता है।''

एवं हि वो आनंद! सिक्खितब्बन्ति।

''आनंद! ऐसा ही सीखना चाहिए।''

भक्ति-भावावेश के बाह्य प्रदर्शन मात्र से वह लाभ कहां मिल सकता है, जो कि तथागत जन-जन को प्राप्त कराया चाहते थे? यानी शुद्ध धर्म के मार्ग पर चलकर समस्त विकारों से विमुक्ति, समस्त दुःखों से विमुक्ति। ऐसा कर ले तो ही बुद्ध की शिक्षा को ठीक-ठीक समझा है, तो ही ठीक-ठीक पालन किया है और तो ही बुद्ध का सही सम्मान किया है। ●

(तेरह)

आनंद पूछते हैं, "भगवान ? आपके मृत शरीर का क्या किया जायगा ?" भगवान समझाते हैं, "जो तथागत के अनेक भक्तजन हैं, वे चिता पर जलाए हुए इस शरीर के अवशेषों पर स्तूप बनाएंगे और पुष्प, गंध, माला आदि से उसका पूजन-अर्चन करेंगे, अभिवादन करेंगे। यों कुछ देर के लिए चित्त को निर्मल करेंगे और परिणामतः दीर्घकाल तक अपना हित-सुख साधेंगे। सद्गति के अधिकारी होंगे।"

परंतु तथागत की गंभीर शिक्षा केवल सद्गति के लिए ही नही है। सारी गतियों के परे, नितांत विमुक्त अवस्था तक ले जानेवाली है। अतः जो तथागत की मूल शिक्षा को समझने वाले मुक्तिपथ के पथिक हैं, उनके लिए भगवान कहते हैं, "तुम इस प्रकार के शरीर पूजन से अपने आपको अलग रखो और परम सत्य की प्राप्ति में लग जाओ।"

सदत्थे अनुयुञ्जथ समत्थे अप्पमत्ता आतापिनो पहीतत्ता विहरथ।

यानी सदर्थ में जुट जाओ। सदर्थ की प्राप्ति के लिए प्रमाद रहित होकर तपो। आत्मभाव त्यागकर साधना में लगो।

परंतु सभी लोग तथागत के गंभीर मंतव्य को पूरी तरह नही समझ पाते। सभी लोग मुक्ति के मार्ग पर नहीं लग पाते। अतः अपनी-अपनी समझ के अनुसार तथागत की शिक्षासे जो जितना-जितना लाभ उठा सके उठाए। जो समझ गए वे तो परम लाभ ही उठाएंगे। वह बुद्ध वंदना को सामान्य वंदना से ऊपर उठाकर साधना के धरातल पर ही स्थापित करेंगे। साधना ही सही बुद्ध वंदना है। भगवान मुमुक्षुओं को जीवन भर यही सिखाते रहे। ●

(चौदह)

कोशल देश की राजधानी श्रावस्ती। सेठ अनाथपिंडिक ने करोड़ों की संपदा लगाकर जेतवन में महाविहार बनाया। भगवान वर्षावास के दिनों उस विहार में रहते और लोगों को धर्म सिखाते। वर्षावास के बाद वे अन्य प्रदेशों के लोगों को धर्म बांटने के लिए चारिका के लिए निकल पड़ते। भगवान के निवास काल में विहार में जो चहल-पहल रहती, वह उनकी अनुपस्थिति में बहुत कम हो जाती। वातावरण उतना जीवंत नही रहता, फीका पड़ जाता। कुछ एक नगर-निवासी भक्तजन विहार में आते। भगवान के निवास की खाली कुटी के सामने श्रद्धा के फूल चढ़ाकर चले जाते। पर उन्हें संतोष नही होता। श्रद्धा व्यक्त करने के लिए उन्हें कोई ठोस आधार चाहिए था। श्रेष्ठि अनाथपिंडिक को यह कमी खलती। लोग चाहते थे कि भगवान की अनुपस्थिति में वहां कोई मंदिर हो, जहां वे अपनी श्रद्धा प्रकट कर सकें। उन दिनों यह प्रथा थी। लोग अपने श्रद्धाभाजन देवी, देवता, यक्ष, ब्रह्मा अथवा संतों के नाम पर चैत्य बनाते थे, मंदिर बनाते थे। इनमें अपने ईष्ट की मूर्ति अथवा चिन्ह स्थापित करते थे। इन चैत्यों व देवस्थानों पर अकेले अथवा समूह में भक्तजन जाते, पूजन-अर्चन करते, पत्र-पुष्प चढ़ाते, धूप-दीप जलाते, मनौती मनाते और मनौती पूरी होने पर उत्सव मंगल मनाते। यों इन देव स्थानों पर बड़ी धूम धाम और चहल पहल बनी रहती।

श्रेष्ठि अनाथपिंडिक चाहता था कि ऐसा ही कुछ जेतवन पर भी हो, जिससे भगवान की अनुपस्थिति में भी वहां चहल पहल बनी रहे। उसने अपनी मनोकामना भिक्षु आनंद के सामने प्रकट की। आनंद ने बहुत व्यवहार कौशल्य से यह बात भगवान तक पहुँचायी। उसने भगवान से पूछा, ''भन्ते भगवन! चैत्य कितने प्रकार के होते हैं?''

भगवान ने कहा, ''तीन प्रकार के — शारीरिक, उद्देसिक और पारिभोगिक।'' आनंद ने पूछा, ''भगवन! क्या बुद्ध के जीते-जी उनके

नाम पर कोई चैत्य बनाया जा सकता है ?''

भगवान ने कहा, ''शारीरिक चैत्य तथागत के शरीर त्यागने पर उनकी अस्थि अवशेषों पर ही बन सकता है। उद्देसिक चैत्य में मूर्ति, चिन्ह आदि की स्थापना द्वारा मनोकल्पना की प्रमुखता होती है, जो कि अवांछनीय है। हां, पारिभोगिक चैत्य तथागत के जीवनकाल में भी बन सकता है।''

आनंद ने अनाथपिंडिक की इच्छा सामने रखते हुए जेतवन में ऐसा एक पारिभोगिक चैत्य स्थापित करने की भगवान से स्वीकृति मांगी, ताकि उनकी अनुपस्थिति में जेतवन जनशून्य और उत्साह-शून्य न हो जाया करे।

यह तो स्पष्ट था कि भगवान के परिनिर्वाण के बाद उनके द्वारा प्रयोग में लाये हुए भिक्षापात्र, चीवर, लकुटी आदि वस्तुओं पर चैत्य बनने लगेंगे। परंतु जीते-जी वे ऐसी परंपरा स्थापित करना चाहते थे, जो परम अर्थ के क्षेत्र में स्वस्थ हो, कल्याणकारिणी हो। वह अपनी उपभोग की हुई किसी भौतिक वंस्तु पर कोई चैत्य बनवाना नहीं चाहते थे। लोकोत्तर निर्वाण की प्राप्ति के लिए जिसका उपभोग किया, वह तो बोधिवृक्ष था। अतः आनंद का ध्यान उसी ओर खैंचते हुए भगवान ने कहा, ''तथागत के जीते जी बोधिवृक्ष ही पारिभोगिक चैत्य होता है, जिसकी छाया में बैठकर अन्य लोग भी निर्वाण के सुख का रसास्वादन कर सकें।''

आनंद को यह बात बहुत भायी। उसने महामोग्गलान से प्रार्थना की और उनके जरिए बोधगया के बोधिवृक्ष का बीज मंगवाया और महाराज प्रसेनजित, माता विशाखा तथा अन्यान्य भक्तों की उपस्थिति में, जेतवन के मुख्य द्वार के समीप श्रेष्ठि अनाथपिंडिक द्वारा इसका आरोपण करवाया। जब वृक्ष बढ़कर तैयार हुआ तो आनंद के सत्प्रयत्नों से लगाया गया था, इसलिए 'आनंदबोधि' कहलाया।

आनंद ने भगवान से प्रार्थना की कि जिस प्रकार उन्होंने बोधिवृक्ष के

नीचे रात भर साधना की थी, उसी प्रकार यहां भी करें। पहली बार सम्यक् संबोधि जगानेवाली साधना तो अद्वितीय ही होती है। फिर भी भगवान ने साधकों के कल्याण के लिए आनंदबोधि के नीचे एक पूरी रात निरोध समापत्ति की साधना की और उस स्थान के अणु अणु को निर्वाणधातु और धर्मधातु की तरंगों से आप्लावित कर चिरकाल के लिए परम पावन बना दिया।

सर्वसाधारण सामान्य गृहस्थ ही नहीं, अनेक ऐसे भिक्षु भी जो कि भगवान के साधना-संबंधी गंभीर धर्म में परिपक्व नही हो पाए थे, वे भगवान के जीवनकाल में ही इस आनंदबोधि रूपी चैत्य पर श्रद्धा, भक्तिपूर्वक पुष्प आदि चढ़ाकर पुण्य अर्जित करते रहे और यह परंपरा आगे भी चलती रही। परंतु साथ-साथ एक अन्य परंपरा गंभीर साधकों की भी थी। उन्होंने भगवान के जीवनकाल में और तत्पश्चात् भी आनंदबोधि का उपयोग साधना के लिए किया। आनंदबोधि आज भी जीवित है। संभवतः यह संसार का सबसे पुरातन बूढ़ा वृक्ष है। भारत वर्ष में पुनर्जागृत विपश्यना के गंभीर साधक आज भी जब इस पावन वृक्ष के नीचे बैठकर विपश्यना साधना करते हैं, तो देखते हैं कि कितनी शीघ्र उनका मानस अनित्यबोध की धर्म-तरंगों से आप्लावित होने लगता है। •

(पन्द्रह)

ऐसा माना जाता है कि महाकवि अश्वघोष बुद्ध के लगभग पांचसौ वर्ष बाद हुआ। उसकी रचना से स्पष्ट होता है कि उस समय तक भी वंदना के संबंध में बुद्ध के मार्ग-निर्देशन को इसी प्रकार स्वीकारा जाता था। ''सौन्दरानन्द'' काव्य में कवि ने दर्शाया है कि भगवान का अनुज नंद उनके समीप आता है और श्रद्धाविभोर होकर उनके चरणों में सिर टेकता है। तब भगवान कहते हैं,

उत्तिष्ठ धर्मेस्थित शिष्यजुष्टे, किं पादयोर्मे पतितोऽसि मूर्ध्ना।
अभ्यर्चनं मे न तथा प्रणामो, धर्मे यथैषा प्रतिपत्तिरेव॥
सौन्दरानन्द १८२२.

हे धर्मस्थित प्रसन्नचित्त शिष्य! उठो! क्यों मेरे चरणों पर मस्तक टेक कर पड़े हो? यों प्रणाम करने में मेरा वैसा सम्मान नही है, जैसा कि धर्म धारण करने में होता है।

अतः स्पष्ट है अश्वघोष के समय तक भी धर्मपथ पर चलना ही सार्थक बुद्ध वंदना मानी जाती रही। ●

(सोलह)

पच्चीस सौ वर्षों की स्वस्थ परम्परा। साधनाके धरातल पर भगवान बुद्ध को की गयी सही वंदना की यह विधि गुरु-शिष्य परंपरा द्वारा ब्रह्मदेश में प्रवाहित होती चली गयी, भले एक क्षीण धारा के रूप में ही प्रवाहित होती रही। परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के जीवनकाल में इस धारा के दर्शन होते थे। अधिकांश श्रद्धालु जनता और अनेक नए-नए साधक लोकाचार के अनुकूल उनको तीन बार झुककर नमस्कार करते थे और यों अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते थे। परन्तु जो गंभीर साधक थे, वे जब नमस्कार करें तो इस शुद्ध परंपरा के अनुसार ही करें; ऐसा गुरुदेव सिखाते थे।

प्रणाम करते हुए पहली बार झुकने के पूर्व साधक अपने सिर के सिरे पर उदय-व्यय की तरंगों की अनुभूति करे और अनित्यबोध जगाते हुए नमस्कार करे। दूसरी बार इसी उदय-व्यय वाली संवेदना के आधार पर दुःखबोध और तीसरी बार अनात्मबोध जगाते हुए ही नमन करे। तो ही सही माने में नमस्कार हुआ। नही तो यंत्रवत् कर्मकांड हो गया। कभी-कभी किसी पुराने साधक के नमस्कार करने पर गुरुदेव उससे प्रश्न कर लेते थे, ''क्यों रे! कैसे नमन किया तूने? प्रज्ञापूर्वक किया या नही?''

कभी कभी साधक यंत्रवत् नमस्कार करने के बाद स्वयं होश में आ जाता तो पुनः धर्म-प्रज्ञापूर्वक तीन बार नमन करता।

शरीर और चित्त-प्रपंच के अनित्य, दुःख और अनात्म स्वभाव को अनुभूतियों के स्तर पर समझता हुआ विपश्यी साधक सर्वथा निसंगभाव से वंदना करता है तो ही सही वंदना होती है। सही पूजन होता है। सही सम्मान होता है।

एतं बुद्धान वन्दनं!

और इसीमें साधक का सही कल्याण निहित होता है। ●

(सत्तरह)

भगवान एकांत प्रिय थे। समय समय पर किसी शांत एकांत स्थान पर ध्यान करने चले जाते थे। यह देखकर ब्राह्मण जानोश्रेणि को भ्रम हुआ कि विमुक्त हुए भगवान बुद्ध को किस बात की कमी है कि उन्हें अब भी बार-बार एकांत में ध्यान करना पड़ता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान ने कहा :

''ब्राह्मण, दो बातों के लिए मैं एकांत सेवन करता हूं। इसी दृश्यमान शरीर के सुख-विहार के लिए याने, इस शरीर को सुखी-स्वस्थ रखने के लिए और आगे आनेवाली जनता पर अनुकम्पा करते हुए उनके मार्गदर्शन के लिए, जिससे वे मेरा अनुसरण करें और सुफ़लभागी हों।''

इसी कारण अर्हंत हो जाने पर भी अनेक भिक्षु, भिक्षुणियां समय-समय पर एकांत अरण्य में जाकर ध्यान करते थे। महाप्रज्ञा खेमा भी ऐसे ही एकांत ध्यान के लिए किसी अरण्य में गयी।

गृहस्थ जीवन की अतीव रूपवती खेमा अब ब्रह्मचारिणी का जीवन जीने लगी तो उसके चेहरे पर धर्मतेज का निखार आया। वह और अधिक

रूपवती दीखने लगी। मार ने उसके भूतकाल के जीवन को ध्यान में रखकर उसे कामभोग की ओर पुनः आकर्षित करने का मिथ्या प्रयत्न किया। वह एक अत्यंत सुन्दर युवक का रूप धारण कर, उसके समीप गया और उसे लुभाने की चेष्टा करते हुए बोला :

दहरा त्वं रूपवती, अहं पि दहरो युवा।

ए रूपवती! तू भी युवा है और मैं भी युवा हूं!

जानता है, उसे कभी वाद्य-गायन का बहुत शौक था। अतः लुभावने शब्दों में कहता है :

पञ्चङ्गिकेन तुरियेन, एहि खेमे रमामसे॥

आओ खेमा! हम पांच प्रकार के वाद्य-संगीत का आनंद लें और कामभोग में रमण करें!

दुष्ट कामदेव के इस कुत्सित आमंत्रण का उस परमविमुक्ता अर्हंत साध्वी पर क्या असर पड़ता भला? उसने धर्ममय उत्तर दिया :

इमिना पूतिकायेन, आतुरेन पभङ्गुना।
अट्टियामि हरायामि, कामतण्हा समूहता॥

मैंने कामतृष्णा जड़ से उखाड़ दी है। इस प्रभंगुर व्याधिपुंज गंदे शरीर का कामभोग घृणित है, भयावह है, लज्जाजनक है।

सत्तिसूलूपमा कामा, खन्धासं अधिकुट्टना।
यं त्वं कामरतिं ब्रूसि, अरती दानि सा मम॥

देख, यह काम-शक्तिशूल भाले बर्छी के समान बीधनेवाला है। यह कामस्कन्ध जल्लाद की तलवार की तरह काटनेवाला है। जिसे तू कामरति का साधन कहता हैं, वह मेरे लिए घृणा पैदा करनेवाला है।

सब्बत्थ विहता नन्दी, तमोखन्धो पदालितो।
एवं जानाहि पापिम, निहतो त्वमसि अन्तक॥

मैंने काम भोग के समस्त नंदिराग को नष्ट कर दिया है। अपने भीतर जागे हुए प्रज्ञा के प्रकाश से अविद्या के सारे अंधकार-समूह को विदीर्ण कर दिया है। प्राणियों को कामभोग में उलझाए रखनेवाले पापी मार! प्राणियों को बारबार जन्म-मरण में उलझाए रखने वाले अंतक! तू समझ ले, मैंने तुझे ही पराजित कर दिया है। तेरा ही अंत कर दिया है।

उस कामजयी जीवनमुक्त बुद्धपुत्री को दुष्ट मार कहां लुभा सकता था भला?

वह खूब जानती थी कि इस कामदेव मार का वार कहां काम करता है। जो लोग अपने भीतर यथाभूत सत्य की विपश्यना करके सारे काम-संस्कारों का, भव-संस्कारों का उन्मूलन कर चुके, उन पर इसका वार काम नही करता। ऐसे लोग जो यथाभूत ज्ञानदर्शन से तो वंचित रह गए हैं और भिन्न-भिन्न नक्षत्रों को नमस्कार करते हैं, अग्नि-परिचर्या करते हैं और समझते हैं कि इनके कारण हम शुद्ध हो गए, विकार-विमुक्त हो गए, ऐसे लोगों पर मार का वार खूब चलता है। तभी कहती है—

नक्खत्तानि नमस्सन्ता, अग्गिं परिचरं वने।
यथाभुच्चमजानन्ता, बाला सुद्धिममञ्ञथ॥

ऐसे मूढ़जन जो यथाभूत सत्य की विपश्यना करना तो जानते नही, बल्कि नक्षत्रों को नमस्कार करते हैं अथवा वन में जाकर धूनि रमा कर अग्नि-परिचर्या करते हैं और इसी से अपने चित्त को कामराग के मैल से शुद्ध हुआ मानते हैं–

ऐसे लोगों पर ही तुम्हारा वार चलता है। वर्षों की कर्मकाण्डी तपस्या के बाद भी तेरे वार से स्खलित हो जाते हैं, तेरे जाल में फँस जाते हैं। ऐसे मूढ़जनों से मेरा कोई मुकाबला नही। मैंने तो बुद्ध को नमस्कार किया है,

किन्ही नक्षत्रों को नही, किन्ही अग्नि अर्चियो को नही।

और बुद्ध को नमस्कार कैसे किया जाता है? यह एक बुद्धपुत्री खूब जानती है। पंचांग या साष्टांग प्रणाम कर लेना ही बुद्ध को किया गया सही नमस्कार नही है। बुद्ध के शासन याने उनकी शिक्षाओं को पूरा कर लेना ही सही बुद्ध-वंदना है। शुद्ध शील का पालन करते हुए कल्पना-विहीन सत्य के आलंबन से चित्त को एकाग्र करना और ऐसे एकाग्र चित्त से अपने भीतर नाम और रूप याने चित्त और शरीर-स्कन्ध के प्रपंच की यथाभूत विदर्शना करते हुए अन्तर्मन की गहराईयों तक के सारे अनुशय-क्लेशों को दूर करके, सारे राग से विरक्त होकर जन्म-मरण के भवदुःख से पूर्णतया विमुक्त हो जाना ही बुद्धशासन को पूरा कर लेना है और यही बुद्ध को किया गया सही नमस्कार है। इसी की ओर संकेत करती हुई बुद्धपुत्री खेमा कहती है —

अहं च खो नमस्सन्ती, सम्बुद्धं पुरिसुत्तमं।
पमुत्ता सब्बदुक्खेहि, सत्थुसासनकारिका ति॥

मैंने भी नमस्कार किया है (परंतु अग्नि अथवा नक्षत्रों को नही।) बल्कि उस परम पुरुषोत्तम भगवान सम्यक् सम्बुद्ध को नमस्कार किया है और सही नमस्कार कियां है! क्योंकि उन भगवान शास्ता के शासन को पूरा कर लिया है और सभी दुःखों से पूरी तरह विमुक्त हो गयी हूं!

साधकों, साधिकाओं, आओ! हम भी इसी प्रकार उन महाकारुणिक शास्ता के शासन को पूरा करें। उन भगवान सम्यक् सम्बुद्ध को इसी प्रकार सही नमस्कार करें और अपना कल्याण साध लें!

(अठारह)

कोई भक्त अपने आराध्य देव अथवा देवी की वन्दना कैसे करे? धर्म की सच्चाई गहराई से समझ में आ जाय तो उसके गुणों को याद करे, उनसे

प्रेरणा प्राप्त करे और उन्हें अपने भीतर जगाने और अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करे। यही सही भक्ति होगी, यही सही वन्दना होगी।

इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति बुद्ध की वन्दना करे तो महत्त्व बुद्ध के गुणों को ही दे। उन गुणों के प्रति श्रद्धान्वित होकर मन में प्रेरणा जगाए और उन्हें अपने जीवन में उतारने के लिए प्रयत्नशील हो जाय तो किसी संप्रदाय में नही बँधेगा, गुणों से बँधेगा। गुण सार्वजनीन होते हैं। शुद्ध धर्म से बँधेगा। शुद्ध धर्म सार्वजनीन होता है। इस प्रकार यथाशक्ति शुद्ध धर्म धारण करके अपना मंगल साध लेगा।

जब बुद्ध की वन्दना करे और धर्मपूर्वक करे तो यही कहे,

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

याने नमस्कार हैं उनको जो भगवान हैं, अर्हत है, सम्यक् सम्बुद्ध हैं।

तो नमस्कार गुणों को हुआ। सम्मान गुणों का हुआ। ऐसा गुण धारण करनेवाला व्यक्ति कोई हो, गौतम हो, काश्यप हो, या अन्य कोई हो।

इसीलिए शुद्ध धर्म के क्षेत्र में सही वंदना करते हुए यही कहा जाता है,

ये च बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता ,
पच्चुपन्ना च ये बुद्धा अहं वन्दामि सब्बदा।

मैं सर्वदा उन बुद्धों की वन्दना करता हूं जो कि भूतकाल में हुए, उन बुद्धों की वंदना करता हूं जो कि भविष्यकाल में होंगे और उन बुद्धों की वन्दना करता हूं जो कि वर्तमान काल में हैं।

इस प्रकार की गई वन्दना किसी एक व्यक्ति की नही, बल्कि तीनों कालों के बोधिप्राप्त सभी व्यक्तियों की है। तो वंदना गुणों की हुई, इसलिए सही वंदना हुई।

जो भी व्यक्ति सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर लेता है वह अनंत गुणों से भर

उठता है। पर उसमें कुछ प्रमुख, प्रधान सद्गुण होते हैं जो इस प्रकार हैं :–

वह भगवान हो जाता है। याने वह अपने भीतर का समस्त राग, द्वेष और मोह भग्न कर लेता है और इस प्रकार भाग्यवान हो, इसी जीवन में विमुक्ति के वैभव का ऐश्वर्यमय जीवन जीता है।

वह अर्हंत हो जाता है। अपने सभी अरियों का याने शत्रुओं का हनन कर लेता है। कौन है शत्रु? कोई बाहरी व्यक्ति हमारा शत्रु नही हुआ करता। हमारे अपने आंतरिक मनोविकार, क्लेश, कषाय ही सही माने में हमारे शत्रु हैं और इन्ही शत्रुओं का हनन करके, खात्मा करके ही कोई व्यक्ति अरहन्त होता है, बुद्ध होता है। वह लोक चक्र के आरे को धर्म चक्र से काट देता है, इस माने में भी अर्हंत हो जाता है।

ऐसा व्यक्ति सम्यक् सम्बुद्ध हो जाता है। सम्यक् याने भली प्रकार से, सही प्रकार से सम्बुद्ध हो जाता है। सम्बुद्ध याने स्वयं बोधि प्राप्त कर लेता है। जब तक सत्य को स्वयं प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा न जान ले, तब तक केवल सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई बात से कोई व्यक्ति सम्बुद्ध नही हो सकता। सत्य के बारे में केवल सुन लेने या पढ़ लेने से अथवा उसे श्रद्धा से या बुद्धि से मात्र स्वीकार कर लेने से कोई व्यक्ति सम्बुद्ध नहीं हो सकता। केवल शील के बल पर नही, केवल चित्त को अडोल, अविचल कर देने वाली समाधि के बल पर ही नही, बल्कि स्वयं अपनी प्रज्ञा द्वारा सत्य को जान लेता है, वही सम्बुद्ध होता है। प्रज्ञा भी मात्र श्रुतमयी नही, मात्र चिंतनमयी नही, बल्कि भावनामयी प्रज्ञा द्वारा स्वानुभूति के आधार पर नाम और रूप के याने चित्त और शरीर के अनित्यधर्मा स्वभाव का साक्षात्कार करके और फिर इस अनित्य क्षेत्र को भी बीधते हुए नित्यधर्मा परम सत्य निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है, तो ही सम्यक् सम्बुद्ध होता है।

इंद्रिय क्षेत्र की सभी सुखद-दुःखद अनुभूतियां अनित्यधर्मा हैं, अनात्मधर्मा हैं और इसी कारण वस्तुतः दुःखधर्मा हैं। इस दुःख आर्य सत्य

का स्वयं साक्षात्कार करता है। जो अनित्यधर्मा है, अनात्मधर्मा है, उसके प्रति राग-द्वेषमयी तृष्णा जगाने के कारण ही दुःख की उत्पत्ति होती है। इस समुदय सत्य को भी स्वानुभूति द्वारा जान लेता है। जिसकी उत्पत्ति कारण से हो, उसका निवारण किया जा सकता है। कारण के निवारण से उसका निवारण साध्य है, यह समझकर दुख के कारण तृष्णा का पूर्णतया निवारण करके दुःख-विमुक्ति के सत्य की स्वयं अनुभूति करके साक्षात्कार कर लेता है। इस तृष्णा-निवारण का कोई तरीका होना चाहिए, कोई विधि होनी चाहिए। उस विधि को भी स्वयं भावित करके अनुभूतियों के स्तर पर जान लेता है और दुःख से छुटकारा पा लेता है। ऐसा स्वयं कर लेता है, तो ही स्वयं बुद्ध होता है याने सम्बुद्ध होता है। सम्यक् रूप से यह अवस्था प्राप्त कर लेता है। इसीलिए सम्यक् सम्बुद्ध कहलाता है।

कोई व्यक्ति बुद्ध होता है तो **विज्जाचरण सम्पन्नो** हो जाता है। याने विद्या और आचरण दोनों में संपन्न हो जाता है। क्या है विद्या? क्या है आचरण? विद्या वह जो अविद्या को दूर करे, अविद्या वह जो सच्चाई पर आवरण डाले, उसके प्रति भ्रम पैदा करे। जो वस्तुतः अनित्य है उसके प्रति नित्य होने का भ्रम। जो वस्तुतः अनात्म है, **मैं** नही, **मेरा** नही, **मेरी आत्मा** नही, उसके प्रति **मैं, मेरा, मेरी आत्मा** होने का भ्रम। जो वस्तुतः दुःख है उसके प्रति सुख होने का भ्रम पैदा करे। यह भ्रम दूर हो तथा अनित्य, दुःख और अनात्म के स्वभाव को वास्तविकता के स्तर पर समझ ले तो अविद्या दूर हुई, विद्या स्थापित हुई। इसी प्रकार जो दुःख है, जो दुःख का मूल कारण है, जो दुःख का निवारण है और जो दुःख के निवारण का उपाय है, उसे भली भांति जान ले तो अविद्या दूर हुई, विद्या स्थापित हुई।

लेकिन केवल विद्या में सपन्न होना पर्याप्त नही है। इसके आचरण में भी संपन्न हो तो ही बुद्ध होता है। क्या है आचरण? इन सच्चाइयों को केवल बुद्धि के स्तर पर ही समझकर न रह जाय, बल्कि वास्तविक प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर जान ले तो ही आचरण में संपन्न हुआ। धर्म का केवल

सैद्धांतिक पक्ष ही नही जाने, बल्कि उसके व्यावहारिक पक्ष को भी जीवन में उतारे, तो ही आचरण में संपन्न हुआ।

जो व्यक्ति बुद्ध होता है वह **सुगतो** होता है। याने सुगत होता है। याने उसने अच्छे मार्ग पर गमन किया है। कायिक कर्म और वाचिक कर्म को सुधारते हुए मनोकर्म को भी इस कदर सुधार लिया है कि अब कोई ऐसा कर्म कर ही नही सकता, जो किसी की किंचित् मात्र भी हानि कर दे। लोक कल्याण ही लोक कल्याण करता है। ऐसा व्यक्ति मानस के ऊपरी-ऊपरी विकारों का ही प्रहाण करके नही रह गया, बल्कि अन्तरमन की गहराइयों तक अनेक जन्मों के संचित अनुशय-क्लेशों को भी जड़ से उखाड़ चुका और पूर्णतया विकार-विमुक्त हो गया है। स्थूल सत्यों का साक्षात्कार करते-करते; स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम परमपद निर्वाण तक का साक्षात्कार कर चुका है। शील, समाधि और प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर भली प्रकार गमन किया है और निर्वाण की याने मुक्ति की अवस्था तक पहुँच गया है। विपश्यना साधना करते हुए स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी के मार्ग पर सुगमता से चला हुआ अर्हंत, मार्ग-फल की अवस्था तक जा पहुँचा है तो ही सही माने में बुद्ध हुआ है, सुगत हुआ है।

जो बुद्ध होता है वह **लोकविदू** होता है। याने जो लोकों को जाननेवाला होता है। ऋद्धिबल से वह समस्त लोकों की यात्रा कर सकता है। उन्हें जब चाहे तब अपने दिव्य चक्षुओं से देख सकता है। सर्वज्ञ हो जाने के कारण उनके बारे में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकता है। लेकिन केवल इन्ही अर्थों में लोकविदू नही है। इस साढ़े तीन हाथ की काया में सारे लोकों का अनुभव कर लेता है। नीचे लोकों से लेकर मनुष्य लोक, देवलोक, रूप ब्रह्मलोक और अरूप ब्रह्मलोक की अनुभूति इसी कायपिंड में की जाती है। ठीक ही कहा गया है कि लोकों की उत्पत्ति, उनकी उत्पत्ति का कारण, उनका निरोध और उनके निरोध का उपाय इस साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही है। लोक का अंत किए बिना कोई व्यक्ति मुक्त नही बन सकता।

बुद्ध होता है तो समस्त लोकों को अपने भीतर जानकर उनका निरोध कर, उनके परे लोकोत्तर निर्वाण अवस्था का अपने भीतर ही साक्षात्कार कर लेता है। तभी लोकविदू कहलाता है।

बुद्ध होता है तो **अनुत्तरो** होता है याने अनुत्तर होता है। जिस अवस्था पर यह व्यक्ति पहुँच गया है इससे ऊंची अन्य कोई अवस्था नही, इस माने में अनुत्तर है।

बुद्ध होता है तो **पुरिसदम्मसारथी** कहलाता है, याने जिस प्रकार एक अनुभवी सारथी बिगड़ैल घोड़ों को सुशिक्षित बना देता है, ऐसे ही गलत रास्ते पड़े हुए लोगों को सही रास्ते पर लगाने में वह कुशल होता है।

बुद्ध होता है तो **सत्थादेव मनुस्सानं** कहलाता है।

बुद्धत्त्व प्राप्त करने पर उसके मन में असीम, अपरिमित करुणा भर उठती है। अरे संसार में कितने दुखियारे हैं ? यह सच है कि अधिकांश लोग विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल में उलझे हैं, सांप्रदायिक जकड़न में जकड़े हैं, कर्मकांडों के कारागार में कैद हैं। शुद्ध धर्म जो कुदरत का सार्वजनीन कानून है, उसे समझ भी नही पाएंगे। समझने की कोशिश भी नही करेंगे। परंतु इनमें से अनेक लोग ऐसे अवश्य हैं जिनकी आंखों पर अज्ञान का बड़ा झीना सा ही पर्दा पड़ा है। उनका तो कल्याण हो। ऐसे बहुतों का हित हो। बहुतों का सुख सधे। कोई भी व्यक्ति जो बुद्ध हुआ, वह इन मंगलभावों से भरकर बिना किसी भेदभाव के अपनी ही ओर से सब को शुद्ध धर्म बांटता है। लोगों को शुद्ध धर्म में अनुशासित करता है। अतः उनका शास्ता कहलाता है। शास्ता गरीबों का भी, अमीरों का भी। शास्ता विद्वानों का भी, अनपढ़ों का भी। शास्ता धनपतियों का भी, धनहीनों का भी। शास्ता पुरुषों का मी, नारियों का भी, शास्ता राजाओं का भी, प्रजाओं का भी, शास्ता देवों का भी और मनुष्यों का भी। महाकारुणिक शास्ता।

जब जब बुद्ध की वंदना करें तो समझें कि सही वंदना तभी होगी जब

कि बुद्ध के उपरोक्त गुणों को याद करें। अच्छा हो इन पावन पुरातन शब्दों में याद करें,

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा ति।

ऐसे हैं बुद्ध, ऐसे हैं भगवान! तभी हैं बुद्ध, तभी हैं भगवान!

बुद्ध के इन गुणों को याद करके अपने भीतर प्रेरणा जगाएं और वैसे ही गुण अपने में जगाने के सत्प्रयत्न में लग जायँ, तभी सही माने में बुद्ध का सम्मान है, बुद्ध की वंदना है और तभी सही माने में हमारा अपना मंगल-कल्याण है। ●

सफल जीवन

१ / आत्म - निरीक्षण

उन दिनों भगवान कोशल देशकी राजधानी श्रावस्ती में अनाथपिंडिक के जेतवन-विहार में वर्षावास कर रहे थे। देश का राजा प्रसेनजित और रानी मल्लिका दोनों ही भगवान के श्रद्धालु उपासक थे। दोनों स्व-निरीक्षण की विपश्यना साधना के अभ्यासी थे।

आदमी जब स्व-निरीक्षण का अभ्यासी हो जाता है तो स्व-संबंधी बहुत सी सच्चाइयां उसके सामने उजागर होकर आने लगती हैं। वह स्वानुभूतियों के स्तर पर अपने बारे में बहुत कुछ जानने लगता है। कुदरत के बारे में बहुत कुछ जानने लगता है। जीवन-जगत की प्रथम सच्चाई प्रमुख होकर सामने आती है – यह दुःख है। साधक भीतर ही भीतर इस सच्चाई को देखने का अभ्यास करता है। सामान्य साधक कभी कभी सचमुच दृष्टाभाव से देख पाता है, परंतु बहुधा भोक्ताभाव से भोगने लगता है। यों कमो-बेश कभी देखता है, कभी भोगता है। जब देख रहा है तब-तब सम्यक् दर्शन हो रहा है, जब भोग रहा है तब-तब फिर अविद्या के मोह-सागर में गोते खाने लगा है। सम्यक् दर्शन होने लगा है याने सच्चाई का यथाभूत, यथातथ्य अनुभव होने लगा है। अब जो चिंतन-मनन होता है, संकल्प-विकल्प होते हैं, वह भी सम्यक् होने लगते हैं। सत्य का यथावत् दर्शन होता है, यथावत् चिंतन होता है। संकल्प-विकल्प के क्षेत्र में भ्रांतियां मिटती हैं। सम्यक् संकल्प और सम्यक्-दर्शन से सम्यक् ज्ञान होने लगता है। जो बात जैसी है, वैसी समझ में आने लगती है। जितना-जितना सम्यक् संकल्प और सम्यक् दर्शन पुष्ट होता है, उतना-उतना सम्यक् ज्ञान बढ़ता जाता है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन से सत्य आर्य सत्य बन जाता है। भासमान सत्य पर से मरीचिका के पर्दे उतरने लगते हैं। प्रकट सत्य निरीक्षण करते-करते स्पष्ट होता जाता है, परम सत्य बनता जाता है। आर्य सत्य बनता जाता है। आर्य सत्य का दृष्टा भी अनार्य से आर्य बनता

जाता है। सम्यक् संकल्प होता है, सम्यक् दर्शन होता है, सम्यक् ज्ञान होता है तो सम्यक् विमुक्ति की ओर कदम कदम आगे बढ़ता है। सोचता है, देखता है याने अनुभव करता है और समझता है तो भ्रम-भ्रांतियों से विमुक्ति होती जाती है।

दुःख है। जीना दुःख है, व्याधि दुःख है, जरावस्था दुःख है, अप्रिय का संयोग दुःख है, प्रिय का वियोग दुःख है, मनोकामना का पूर्ण न होना दुःख है। सम्यक् संकल्प, सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान। और आगे बढ़ता है तो साधक देखता और समझता है कि अत्यंत गहरे संक्षेप में वास्तविक दुःख क्या है! यह शरीर-स्कंध और यह चित्त-स्कंध जिसे अपने बावलेपन में **'मैं'** मान रहा हूं और **'मैं'** मानकर ही नही रह जाता, उसके साथ इतना गहरा उपादान, अभिनिवेश जगा रहा हूं, अरे! मानस के गहनतम धरातल पर सही दुःख तो यही है। **'मैं'** के प्रति जितनी गहरी आसक्ति है, उतना गहरा दुःख है। एक तो यह नकली 'मैं', तिस पर इससे इतना गहरा चिपकाव। इस **'मैं'** के प्रति, **'स्व'** के प्रति, **'अहं'** के प्रति, **'अपने आपके'** प्रति जितनी-जितनी आसक्ति है, उतना-उतना दुःख ही है। जितनी गहरी आसक्ति है, उतना गहरा दुःख है।

आसक्ति का दृढ़-मूल आलंबन यह अवास्तविक **'मैं'** है। आत्म-आसक्ति ही प्रथम आसक्ति है। सब आसक्तियों की जननी है, सब दुःखों की जड़ है। आदमी जब से होश सँभालता है, तब से अपने इस **'स्व'** की एक मूरत गढ़ने लगता है, एक चित्र आंकने लगता है। स्वयं ही मूर्तिकार, स्वयं ही चित्रकार, स्वयं ही सर्जक। स्वयं ही **'स्व'** की मूर्ति गढ़ता है, चित्र बनाता है। स्वयं ही सृष्टा है। अपने **'स्व'** का स्वयंभू है।

और जब आदमी अपनी मूरत गढ़ता है तो बहुत प्यार से गढ़ता है। बहुत खूबसूरत मूरत गढ़ता है। उसे खूब सजाता है, सँवारता है। इस स्व-निर्मित मूर्ति को अपने मन-मंदिर में स्थापित करता है। अपना सारा

प्यार, सारा स्नेह उस पर उँडेलता है। खूब आशिक हो जाता है, मोहित हो जाता है, अपनी इस 'मूरत' पर। औ: इस 'मूरत' को और अधिक निखारने का, सँवारने का काम जीवन भर बलते रहता है। अहं का पोषण जीवन भर होता रहता है। आदमी अपने इस 'अहं' को खूब हृष्ट-पुष्ट करता रहता है। जितना अधिक हृष्ट-पुष्ट करता है, जितना अधिक स्नेह से सजाता और सँवारता है, उतना ही अधिक इस 'मूरत' के प्रति आसक्त होता जाता है।

उसे इस मूरत से बढ़कर संसार में और कुछ भी, कोई भी प्रिय नही लगता। अनन्यभाव से अपना सारा प्यार इस मूरत पर उड़ेलता है। अपने से बढ़कर उसे और कोई प्यारा नही लगता। साधक के सामने यह सत्य उजागर होता है।

सत्यदर्शी, आत्मदर्शी राजा प्रसेनजित दिन भर की प्रशासकीय जिम्मेदारियों को पूरी करके सायंकाल विश्राम के लिए महल की ऊपरी मंजिल पर रनिवास में आता है। सत्य-दर्शिनी रानी मल्लिका मुस्कराकर उसका स्वागत करती है। सम्राट पूछता है, "मल्लिके! तुझे संसार में तेरे अपने आपसे बढ़कर भी कोई प्रिय है?" दूसरे शब्दों में कहें, "क्या तू स्व-केंद्रित है? स्वार्थिनी है?"

स्वदर्शिनी रानी सत्यभाषिणी भी है। मुस्कराकर कहती है, "नही महाराज! मुझे अपने आपसे बढ़कर कोई भी प्रिय नहीं है याने, सचमुच मैं स्व-केन्द्रित हूं।" और मुस्कराकर बदले में अपने पति से वही प्रश्न करती है, "महाराज! आप बताइए क्या आपको भी अपने आपसे बढ़कर कोई अन्य प्रिय है?" दूसरे शब्दों में, "क्या आप भी निपट स्व-केन्द्रित हैं? स्वार्थी हैं?"

बात झगड़े की-सी हुई। परंतु राजा प्रसेनजित भी रानी मल्लिका की भांति स्वदर्शी था, सत्यदर्शी था। सत्यदर्शी था तो सत्यभाषी भी था।

मुस्कराकर कहता है, " नही मल्लिके, मुझे अपने आपसे बढ़कर कोई प्रिय नही है याने मैं भी स्वकेन्द्रित हूं, स्वार्थी हूं।"

इस सत्य संभाषण से दोनों ही धर्मभाषी प्रसन्न हुए।

सचमुच अपने आपसे बढ़कर और कोई प्रिय नही होता। अपने आपके प्रति गहरा प्यार होता है, गहरी आसक्ति होती है। इसीलिए अपने आपको सुरक्षित रखनेकी चिंता जनमती है। 'स्व' के अनिष्ट का भय जागता है। जहां प्यार है, आसक्ति है, वहां निश्चय ही भय है, आशंका है। अनिष्ट का भय, असुरक्षा की आशंका। चाहता है कि यह अपनापा, यह 'स्व' कायम रहे; अनंतकाल तक कायम रहे! जो भी व्यक्ति, स्थिति, वस्तु, घटना इस "मैं" के प्रति उत्पन्न हुए अनिष्ट के भय को, असुरक्षा की आशंका को दूर करने में सहायक होते हैं, वे प्रिय लगते हैं। जो सहायक नही होते वे प्रिय नही लगते। और जो इस भय, आशंका को दूर करने के बजाय बढ़ाते प्रतीत होते हैं, वे अप्रिय लगते हैं। वह व्यक्ति कोई भी हो। वह वस्तु, स्थिति, घटना कैसी भी हो।

इस 'मैं' के प्रति, अपने आपके प्रति बड़ा प्यार उमड़ता है तो इसे सदा सुखी रखना चाहता है। इस 'मैं' को सुखी, सुरक्षित रखने के लिए नाना प्रकार की योजनाएं बनाता है। भविष्य के लिए सुनहरे सपने सँजोता है। इस स्वप्निल चादर के ताने-बाने बड़े मोहक होते हैं और उनके प्रति बड़ा प्यार जागता है, बड़ी आसक्ति जागती है। इस ताने-बाने बुनने में जो-जो सहायक होते हैं, वे बड़े प्रिय लगते हैं। वे कोई भी हों, कैसे भी हों।

तो प्यार अपने स्वप्नों से है, अपनी अभिप्साओं से है, अपनी तृष्णाओं से है और यह स्वप्न, यह अभिप्सा, यह तृष्णा अपने इस 'मैं' के सुरक्षित और सुखी रहने की ही तो है। अतः मूलतः प्यार अपने आपसे है, अपने इस 'मैं' से, अपनी बनाई हुई इस मूरत से है।

आत्मदर्शी, सत्यदर्शी साधक देखता है कि सचमुच उसे कितना गहरा प्यार है इस स्वनिर्मित 'मैं' के प्रति। जब तक कोई इस 'मैं' की आसक्ति से पूर्णतया मुक्त नही हो जाता, तब तक प्यार 'मैं' से ही करेगा, 'मैं' के स्वप्नों से ही करेगा। 'मैं' और 'मेरे' स्वप्नों के प्रति जो प्यार है वही प्राथमिक है, वही प्रमुख है और सारे प्यार गौण हैं।

सारे पारस्परिक संबंध इस 'मैं' पर ही आधारित हैं, मैं संबंधी स्वप्नों पर ही आधारित हैं। जिनको हमारे स्वप्नों से कोई वास्ता नही, वे न हमें प्रिय हैं, न अप्रिय। जो-जो स्वप्न का साधक है, वह वह प्रिय है, जो-जो स्वप्न में बाधक है, वह वह अप्रिय है। जितना-जितना साधक है, उतना-उतना प्रिय है। जितना-जितना बाधक है, उतना-उतना अप्रिय है। चाहे वह मां हो या बाप, पुत्र हो या पुत्री, भाई हो या बहन, पति हो या पत्नी, गुरु हो या शिष्य, अड़ोसी हो या पड़ोसी, छोटा हो या बड़ा, दूर का हो या अदूर का, कोई भी तो फर्क नही पड़ता।

दो भाइयों में प्यार जागता है। वर्षों चलता है। खूब पनपता है, खूब बढ़ता है। लोग समझते हैं बड़ा गहरा प्यार है परस्पर। वे दोनों भी यही समझते हैं। पर नही जानते कि प्यार एक दूसरे से नही, अपने आपसे है, अपने स्वप्नों से है। प्यार गहरा होता गया — क्योंकि दोनों के स्वप्न एक जैसे थे। एक का स्वप्न पूरा होता तो दूसरे का भी अपने आप पूरा हो जाता। दोनों के सुख-सुरक्षा के स्वप्न बिल्कुल एक दूसरे से मेल खाते थे। अतः दोनों अपने-अपने स्वप्न पूरे करने में स्वभावतः एक दूसरे के सहायक, एक दूसरे के सहयोगी बने रहे। और यह क्रम वर्षों चला। आधी शताब्दी तक चला। परंतु इतने लंबे अर्से के बाद यकायक दोनों के स्वप्नों में अंतर आने लगा। दोनों की सुरक्षा, दोनों के सुख भिन्न-भिन्न हो गए। और भिन्न-भिन्न ही नही हो गए, एक दूसरे के विरोधी हो गए। एक का स्वप्न पूरा हो तो दूसरे का खंडित हो। अब देखो। कहां गया वह प्यार — जिसका इतना नाज था दोनों भाइयों को, जिसकी इतनी चर्चा थी लोगो में। दोनों एक

दूसरे के पांव तले की धरती खैंचने पर उतारू हो गए। एक दूसरे को कोहनी मारकर अपने रास्ते से दूर हटाने पर तुल गए। सारा भाईचारा रफूचक्कर हो गया। देखते-देखते प्यार दुश्मनी में बदल गया।

समय आने पर ऐसा भाई-भाई में ही नही, पति-पत्नी में भी होता है, बाप-बेटे में भी होता है, गुरु-शिष्य में भी होता है, मित्र-मित्र में भी होता है। साधक साधना में पकता है तो इस सच्चाई को समत्व बुद्धि के साथ स्वीकारता है। नही पकता तो व्याकुल होता है, व्यथित होता है। स्वयं भी व्याकुल-व्यथित होता है। औरों को भी व्याकुल-व्यथित करता है।

राजा प्रसेनजित और रानी मल्लिका ने यह सच्चाई खूब समझी। दूसरे दिन भगवान के दर्शन के लिए जेतवन-विहार में गए तो जो बातचीत परस्पर हुई थी, वह भगवान को कह सुनाई। भगवान ने उनके इस कथन का समर्थन किया। सचमुच लोगों को अपना **अपनापा** ही प्रिय है। अपना **मैं** ही प्रिय है।

हमें चाहिए कि हम भी इस सच्चाई को देखें, समझें। जैसे मुझे मेरा 'मैं' प्रिय है, मेरे 'स्वप्न' प्रिय है, ठीक वैसे ही औरों को भी अपने-अपने 'मैं' प्रिय हैं, अपने-अपने 'स्वप्न' प्रिय हैं। जैसे मेरे 'मैं' के विरुद्ध किसी के द्वारा कुछ भी किया जाना मुझे अप्रिय लगता है, ठीक वैसे ही किसी भी अन्य को अपने 'मैं' के विरुद्ध, अपने 'स्वप्नों' के विरुद्ध कुछ भी किया जाना अप्रिय ही लगता है। साधक अपने जैसा सबको जाने और यों जानकर किसी के 'मैं' को आघात न पहुँचाए, किसी के 'स्वप्नों' को चोट न पहुँचाए। किसी को न सताए।

इन्ही भावों को व्यक्त करते हुए उस समय भगवान के मुँह से उदान के ये शब्द निकल पड़े :

सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा,
नेवज्झगा पियतरमत्तना क्वचि।
एवं पियो पुथु अत्ता परेसं,
तस्मा न हिंसे परमत्तकामो॥

चित्त को सभी ओर दौड़ाकर देखें। अपने से प्यारा कोई नही दीखता। जो बात अपने बारे में सच है, वही औरों के बारे में सच है। औरों को भी अपने आपसे प्यारा कोई नही दीखता। इसलिए अपनी भलाई चाहने वाले को चाहिए कि किसी दूसरे को न सताए।

आओ! भगवान की इस उदान वाणी को हृदयंगम करें। किसी को न सताएं! किसी को न सताएं! किसी को न सताएं! इसी में हमारा सही कल्याण है! ●

२ / लोक-कल्याण का पथ

(एक)

यह कुशीनगर है। यही भगवान तथागत सम्यक् सम्बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। यही वह स्थान है, जहां महापुरुषों के बत्तिस लक्षणों से परिपूर्ण उनका वह सुहावना शरीर अग्नि को समर्पित किया गया।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु। प्रकृति का कैसा अटल नियम। जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी, जरा, व्याधि और मृत्यु से बच नही सकता। चाहे वह तथागत सम्यक् सम्बुद्ध ही क्यों न हो। परंतु वह मृत्यु साधारण मृत्यु नही थी। उस मृत्यु द्वारा ही भगवान सम्यक् सम्बुद्ध ने मृत्युराज मार पर नितांत विजय प्राप्त की। वह उनकी अंतिम मृत्यु थी। अब उसके बाद कोई मृत्यु नही थी, क्योंकि उसके बाद और कोई जन्म नही था। जहां जन्म निरुद्ध हुआ, वहां जरा, व्याधि और मृत्यु का निरोध तो हो ही गया।

ऐसी पावन धरती पर साधना-शिविर लगाते हुए मन अत्यंत आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठा है। यहां की धरती के कण-कण में, यहां की वायु तरंगो की लहर-लहर में, सद्धर्म के अस्तित्व का एहसास होता है। अणु-अणु में उस महाकारुणिक की करुणा समायी दीखती है, उस प्रेम-पारावार का असीम प्रेम छलकता नजर आता है, उस महान सत्यनिष्ठ की अचल सत्यनिष्ठा झलकती नजर आती है।

करुणा, मैत्री और सत्य, इस त्रिवेणी का पावन संगम ही तो तथागत बुद्ध कहलाता है। इन तीनों के समुच्चय का व्यक्तिकरण ही तो सम्यक् सम्बुद्ध है। बुद्ध माने मूर्तिमंत करुणा। बुद्ध माने मूर्तिमंत मैत्री-प्रेम। बुद्ध माने मूर्तिमंत सत्य। यहां भगवान की यह त्रिमूर्ति बार बार मन की आंखों के सामने आती रहती है।

उनकी असीम करुणा की एक नन्ही सी लहर ने मन-मानस में अँगड़ाई ली और सारा हृदय करुणरस से परिप्लावित हो उठा, सराबोर हो उठा।

अढ़ाई हजार वर्ष पुराना वह दृश्य आंखों के सामने जाग उठा। भगवान ने अपने शरीर त्यागने की निश्चित तिथि तीन माह पूर्व घोषित की और अब पूर्व निर्धारित स्थान पर शरीर छोड़ने के लिए यात्रा कर रहे हैं। शरीर छोड़ने का दिन आ पहुँचा है। भगवान की यात्रा जारी है। रास्ते में **चुंद नामक लुहार** ने भगवान को अत्यंत श्रद्धापूर्वक भोजन के लिए आमंत्रित किया। परन्तु भोजन भारी था, गरिष्ठ था। अतः तथागत के बूढ़े रोगी शरीर के लिए अपच्य साबित हुआ, कष्टदायक साबित हुआ। उन्हें पेचिस हुई। शरीर दुर्बल हो गया। मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए उस करुणामय के मन में एक बात जागी। जब श्रद्धालु चुंद को यह मालूम होगा कि उसके गरिष्ठ भोजन के कारण भगवान को शरीर-त्यागना पड़ा तो वह दुख से व्याकुल हो उठेगा। नासमझ लोग उसे धिक्कारेंगे कि उसने भगवान को कैसा भोजन खिलाया और कितना पाप कमाया। यह धिक्कार सुनकर वह व्यथा-वेदना से और भी पीड़ित हो उठेगा। इस चिन्तन मात्र से उन महाकारुणिक का हृदय करुणा-विगलित हो उठा और उन्होंने आनंद से कहा – ' आनंद! ध्यान रखना, उस श्रद्धालु उपासक चुंद के मन में किसी प्रकार की दुष्चिंता जागने न पावे। मेरे कारण वह दुखी होने न पावे। उसे समझाना कि तुम्हारा यह भोजनदान तुम्हारे लिए पाप का नही, बल्कि बड़े पुण्य का कारण बना है। जिस भोजन को ग्रहण कर तथागत ने पापी मार पर विजय प्राप्त की और सम्यक् संबोधि पायी, सुजाता की खीर का वह भोजन-दान जैसे सुजाता के लिए असीम पुण्य का कारण बना, वैसे ही तुम्हारे इस भोजन को ग्रहणकर तथागत अनुपादिशेष-निर्वाण धातु को प्राप्त हुए हैं, सदा के लिए मृत्युराज मार के चंगुल से मुक्त हुए हैं, अतः तुम्हारा यह भोजन भी सुजाता की खीर से कम पुण्यदायी नही है, कम फलदायी नही है। आनंद! ऐसा कहकर चुंद

के मन की उदासी दूर करना। उसे उत्साहित करना।

धन्य है तथागत की महान करुणा। मृत्यु-शय्या पर भी उन्हें कोई चिंता है तो इसी बात की कि उनकी वजह से किसी का मन दुखी न हो। उनकी असीम करुणा किसी को दुखी नही देख सकती थी। •

(दो)

भगवान के अतुल मैत्री प्रेम की प्रकाश-किरण मानस-पटल पर चमक उठी। भगवान युग्म शाल वृक्षों के नीचे बिछी हुई संघाटी पर अत्यंत रुग्ण अवस्था में लेटे हुए हैं। वैशाखी पूर्णिमा का उदास चांद सारे वातावरण में उदासी बिखेरता हुआ अस्ताचल की ओर लुढ़कता चला जा रहा है। भगवान के परिनिर्वाण का समय समीप आता जा रहा है। श्रद्धालु उपासकों की भीड़ तथागत के अंतिम दर्शन करने के लिए उमड़ रही है। उसी समय **सुभद्र** नाम का एक नया मुमुक्षु भगवान से धर्मलाभ हासिल करने के लिए आता है, परन्तु आनंद उसे दूर से ही यह कह कर रोकता है कि भगवान बहुत थके हुए हैं, उन्हें कष्ट न दो। आनंद की आवाज भगवान के कानों में पड़ती है। वह करुणा विह्वल हो उठते हैं। प्यासा अपनी प्यास बुझाने के लिए धर्म-गंगा के पास आया है और तटतक पहुँचने पर भी कोई उसे पानी पीने से रोक रहा है। उसकी लाचारी देखकर धर्म-गंगा स्वयं मचलने लगी। उसमें प्रेम और करुणा का ज्वार उठने लगा। आनंद को टोकते हुए मैत्री-मूर्ति भगवान तथागत ने कहा, " नही, आनंद! सुभद्र को मना मत करो। उसे आने दो। वह मुझे कष्ट देने नही आया है। सच्चा धर्म-जिज्ञासु है। थोड़े में ही धर्म का रहस्य समझ लेगा। उसे मत रोको, उसे मेरे पास आने दो।"

और इस प्रकार अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक, अपने कष्टों की जरा भी परवाह न करते हुए, मैत्री के अनंत सागर ने उस धर्म-जिज्ञासु को धर्म-देशना दी, सच्चे धर्म का मार्ग सिखाया, जो कि उसके हित-सुख का

कारण बना। उनके अंतर का अपरिमित पारावार, मंगल-मैत्री का असीम सागर, जीवन की अंतिम सांस तक सभी प्राणियों की अथक सेवा के लिए उद्वेलित होता रहा। मंगल-धर्म बांटने में उन्हें थकान कहां? इससे विमुख होकर उन्हें आराम कहां? विश्राम कहां?

(तीन)

और तभी मानस-पटल पर उभर उठा उनकी सत्यनिष्ठा का एक और पावन प्रसंग। अन्तरमन में गूंज उठे, आखिरी सांस छोड़ने के पहले उनकी अंतिम वाणी के ये अनमोल बोल – **वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथ।** (हे भिक्षुओ! सुनो, सारे संस्कार व्यय-धर्मा हैं, मरण-धर्मा हैं, नष्ट-धर्मा हैं। जितनी भी संस्कृत याने बनी हुई वस्तुएं हैं, व्यक्ति हैं, घटनाएं हैं, स्थितियां हैं, वे सब नश्वर हैं, भंगुर हैं, मरणशील हैं, परिवर्तनशील हैं। यही प्रकृति का कठोर सत्य है। प्रमाद से बचते हुए, आलस्य से दूर रहते हुए, सतत् सचेत और जागरूक रहते हुए, प्रकृति के इस सत्य का संपादन करते रहो! इस सत्य में स्थित रहकर अपना कल्याण साधते रहो!)

कैसी थी मानव जगत को भगवान तथागत की यह अनुपम, अनमोल, अंतिम भेंट! कैसी थी यह मूल्यवान विरासत! कैसा था यह अनुत्तर दायाद! कैसा था यह मंगल-धर्म का अनोखा अनमोल उपहार!

उस महान सत्य-निष्ठ ने जीवन भर स्वयं सत्य का संपादन किया और लोगों को भी सत्य-दर्शन के लिए ही प्रेरित, प्रोत्साहित किया। यह सारा ऐंद्रिय जगत, यह नाम और रूप की सम्मिलित जीवनधारा, यह शरीर और मन का मिला-जुला सरित-प्रवाह, कितना क्षण भंगुर है! कितना नश्वर है! कितना परिवर्तनशील है! क्षण-क्षण परिवर्तित होनेवाली इस प्रवाह-संतति को प्रतिक्षण निर्विकार, निरासक्त भाव से देखते रहने का नाम

ही तो विपश्यना है। यही सत्य का शुद्ध दर्शन है। इसी में विमुक्ति का मंगल समाया हुआ है।

बिना प्रमाद में डूबे हुए हम भी इस सत्य का दर्शन करते रहें और अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य का संपादन करते रहें। काया, वेदना, चित्त और धर्म की विपश्यना साधना द्वारा इस सत्य का साक्षात्कार करते रहें। अनित्य, दुःख और अनात्म का साक्षात्कार करते रहें, प्रज्ञा जाग्रत रखते रहें। विपश्यना साधना की यह जागृति जीवन का अंग बन जाय, स्वभाव का अंग बन जाय। भगवान के ये अंतिम शब्द निरंतर हमारे लिए प्रेरणा का कारण बनते रहें। इससे बढ़कर और क्या उद्बोधन होगा भला ?

वयधम्मा सङ्खारा,
अप्पमादेन सम्पादेथ !
अप्पमादेन सम्पादेथ !
अप्पमादेन सम्पादेथ !

उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर हम में भी उनकी सी अनंत करुणा जागे। हम में भी उनकी सी अनंत मैत्री जागे। हम में भी उनकी सी अविचल सत्य-निष्ठा जागे। इसी में हमारा मंगल ! इसी में हमारा भला ! इसी में हमारा कल्याण ! इसी में हमारी स्वस्ति ! इसी में हमारी मुक्ति !

३ / चरथ भिक्खवे चारिकं

वाराणसी राज्य के ऋषिपत्तन मृगदाय नामक स्थान में, जिसे आज सारनाथ कहते हैं, भगवान तथागत सम्यक् संबुद्ध ने पहले पहल धर्मचक्र प्रवर्तन कर पांच भिक्षुओं को विमुक्ति-रस का पान करवाया। वे पांचों भगवान के प्रथम शिष्य कृतकृत्य हुए, अर्हंत हुए, जीवन-मुक्त हुए।

तत्पश्चात् वाराणसी का **यश** नामक एक धनवान श्रेष्ठिपुत्र भगवान के संपर्क में आया। वह साहूकार का लड़का अनेक सुख-साधन से संपन्न होते हुए भी मानसिक उद्विग्नता का शिकार था। वैभव-विलास के जीवन से ऊब चुका था। धन-संपदा में उसे कोई शांति नही दीखती थी। परन्तु भगवान के संपर्क में आने पर, उसने धर्म-साधना का अभ्यास किया तो वह भी वास्तविक सुख-शांति का अधिकारी बन गया। थोड़े समय के ही अभ्यास द्वारा वह भी अर्हंत हुआ, जीवनमुक्त हुआ। उसके चित्त की शांति देखकर उसके चार अन्य धनी घनिष्ठ मित्र भी शांति लाभ के लिए भगवान के पास आये और वे भी कृतार्थ हुए। इस घटना ने श्रेष्ठि-पुत्र यश की सारी मित्र-मंडली में एक सनसनी पैदा कर दी। अपार भौतिक संपदा के उपभोग से ऊबे हुए अशांत, बेचैन, श्रेष्ठि-कुमार भगवान की शरण आने लगे। ऐसे पचास युवकों ने धर्म-साधना का अभ्यास कर अर्हत्व प्राप्त किया और अपना जीवन सफल बनाया।

इन साठ अर्हंत भिक्षुओं की मंडली के साथ भगवान तीन महीने वर्षा के दौरान उसी क्षेत्र में विहार करते रहे। साठों अर्हंत भिक्षु धर्म-अभ्यास में पूर्णतया परिपक्व थे। वर्षावास पूरा होते ही भगवान ने उन्हें आदेश दिया — 'अब एकांत में रहने की आवश्यकता नही। अंब तो समाज में रहो और उसकी सेवा करो। इसलिए विचरण करो।

किसी स्थान पर एक साथ दो भिक्षु मत जाओ, जिससे कि अधिक से

अधिक स्थानों में सद्धर्म का प्रकाश फैले, अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो। चलते रहो। चलते रहो। धर्म-चारिका करते रहो। अनेक लोगों के हित-सुख के लिए, अनेक लोगों के कल्याण-मंगल के लिए। लोगों पर अनुकम्पा करते हुए सत्य-धर्म का प्रकाशन करते हुए चलते ही रहो। चलते ही रहो।'

अपने भीतर धर्म पक जाने के बाद यह स्वाभाविक ही था कि उन भिक्षुओं के मन में अपरिमित करुणा जागी, मैत्री जागी, लोक-कल्याण की भावना जागी और अब भगवान से प्रेरणा पाकर वे लोगों के हित के लिए, सुख के लिए, लाभ के लिए, मंगल के लिए, देश भर में धर्म-चारिका करने निकल पड़े। सर्वत्र लोग दुखी ही दुखी हैं। शारीरिक पीड़ाओं से उत्पीड़ित हैं। मानसिक उत्तेजनाओं से उत्तप्त हैं। उन्हें धर्म का लाभ मिले। वे दुख से मुक्त हों। वे सच्ची सुख-शांति का रसास्वादन कर सकें। ऐसा धर्म जिसका कि उन्होंने स्वयं अभ्यास किया। ऐसा अभ्यास जिससे कि उन्होंने स्वयं अपने दुखों का नितांत उन्मूलन कर लिया। यह अभ्यास सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से हितकर है। अतः सभी मनुष्यों को सहज सुलभ होना ही चाहिए। सभी लोग दुखों से संत्रस्त हैं। ऊपर से भिन्न-भिन्न दीखने वाले, सभी दुखों का मूल कारण तो एक ही है। अतृप्ति के परिवेश में अपनी ही तृष्णाओं के प्रति गहरा खिंचाव, गहरा लगाव, गहरी आसक्ति ही तो दुख है, दुख की जड़ है। कोई ऐसी विधि हाथ लगे कि जिसके अभ्यास से आसक्तियां टूटें तो जड़ के उन्मूलन होते ही दुखों का अपने आप खात्मा हो जाय।

इन साठ दुखी लोगों ने अपने कल्याण मित्र से अपने धर्म-शास्ता से, उन महान कारुणिक भगवान बुद्ध से यही धर्म-साधन तो सीखा था, जिसके कि अभ्यास से उनकी आसक्तियां टूटी, उन्हें स्वयं अपने-अपने दुखों से छुटकारा मिला। वे स्वयं अनासक्त हो जीवन-मुक्त हुए। अब वही सहज सरल विधि दुःख-संतप्त लोगों तक पहुँचाने के लिए ये साठ भिक्षु निकल

पड़े। सच ही तो है, उस महान कारुणिक द्वारा बताए हुए पथ का अवलंबन लेकर जो व्यक्ति स्वयं दुख-विमुक्त होता है, वह इस लोक मंगल-कारिणी करुण भावना से कैसे दूर रह सकता है भला ? यह असंभव है कि कोई अपने आपको मुक्त कर ले और फिर उस विमुक्ति-सुख में ही अपना शेष जीवन किसी एकांत निर्जन स्थान में बिताए। स्वयं भगवान ने भी तो ऐसा नही किया। सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर केवल सात सप्ताह विमुक्ति-सुख में अकेले बैठे रह सके। परन्तु उसके बाद तो लोक-हित के लिए ऐसी धर्म-चारिका आरंभ की कि जीवन के शेष पैंतालीस वर्षों तक सतत लोकहित में ही निमग्न रहे। जीवन की अंतिम घड़ियों तक भी, बिना विश्राम किये हुए, दुखी संतप्त लोगों के दुख दूर करने के लिए धर्म-गंगा का शीतल जल बांटते रहे। ऐसे करुणागार के मार्ग का अवलंबन करने वाला प्रत्येक भिक्षु किसी निर्जन वन में रहकर अपना सारा जीवन कैसे बिता सकता है ? उसके लिए समाज में ही रहकर, समाज की अथक सेवा में ही आजीवन लीन रहना समीचीन है और यही आदर्श उन प्रारम्भिक साठ भिक्षुओं ने अपनाया, जो कि भावी धर्मदूतों के लिए भी प्रकाश-स्तंभ बना।

इन साठ भिक्षुओं को अलग-अलग स्थानों पर धर्मचारिका पर भेजकर स्वयं भगवान भी इसी उद्देश्य से धर्मचारिका पर निकल पड़े। सभी ने मंगल-धर्म को प्रकाशित किया। कैसे प्रकाशित किया ? केवल शब्दों द्वारा ही नही, बल्कि उन शब्दों के अर्थ और भाव सही प्रकार से समझाते हुए। शब्दों के अर्थ और भाव समझाने का एक मात्र तरीका यही होता है कि वे अर्थ और भाव स्वयं समझाने वाले के जीवन में उतरें। यही उन शब्दों की सही अभिव्यक्ति है, सही अभिव्यंजना है।

ऐसा है यह मंगल-धर्म, जिसे आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अंत में कल्याणकारी कहा गया। ऐसा है यह मंगल-धर्म जिसमें केवल मात्र विशुद्धि ही विशुद्धि है, जो कि परम परिशुद्धि की परिपूर्णता है, जिसमें कि अशुद्धि के लिए रंच मात्र भी अवकाश नहीं है, जो

कि कल्याण-मंगल का साकार स्वरूप है और सत्य का सार तत्त्व है। जिसमें कही कोई घास-फूस नही, कोई छिलका नही, किंचित मात्र भी मिथ्या कल्पना नही, मिथ्या आश्रय नही। विरज, विमल, विशुद्ध ही विशुद्ध। जिसमें अंध भावावेश के लिए अथवा कोरे सैद्धांतिक तर्कों और बुद्धि-विलास के लिए कोई स्थान नही। पूर्णतया व्यावहारिक ही व्यावहारिक और व्यावहारिक भी ऐसा कि मानव मात्र के लिए समान रूप से ग्रहणीय, समान रूप से उपादेय। इसके अभ्यास के लिए किसी वर्ग या सम्प्रदाय में दीक्षित व अनुबद्ध होने तक की भी आवश्यकता नही। गौ का दूध जो पीये उसी के लिए पुष्टिकारक। सम्पूर्णतया सम्प्रदाय-निरपेक्ष धर्म। दुखी को दुख-विमुक्त बनाने वाला, रोगी को निरोग बनाने वाला, अशांत को शांत बनाने वाला, मैले को निर्मल बनाने वाला, पतित को पावन बनाने वाला, निर्बल को बलवान बनाने वाला, भयभीत को निर्भय बनाने वाला, निर्दय को दयालु बनाने वाला, दुर्जन को सज्जन बनाने वाला। थोड़े में कहें तो प्रत्येक मानव देहधारी को सच्चा मानव बनाने वाला।

यही है वह आठ अंगों वाला धर्म मार्ग, जिस पर चलकर बुद्ध सहित ये साठ व्यक्ति नितांत दुख-विमुक्त हुए, परम परिशुद्ध हुए। यह आठ अंगों वाला पथ जो कि तीन भागों में विभाजित है — शील, समाधि और प्रज्ञा।

शील याने सदाचार याने वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से बचना। समाधि याने चित्त को संयमित करना और प्रज्ञा याने विपश्यना के अभ्यास द्वारा ऐसी सही दृष्टि प्राप्त करना, जिससे कि सारी मोह-विमूढ़ता दूर हो जाय और चित्त में समाए हुए राग और द्वेष के सारे संस्कार जड़ से उखड़ जायें और इस प्रकार निर्मल हुआ चित्त असीम मैत्री और करुणा से भर उठे, जिससे कि साधक न केवल अपना ही कल्याण साधे, बल्कि औरों के भी कल्याण का कारण बने। आत्म-हित और पर-हित का सर्व-जनहितकारी मंगलमय समन्वय। आत्मोदय और सर्वोदय का कल्याणकारी संगम।

तीन महीने के प्रथम वर्षावास के बाद आज के ही दिन ' चरथ

भिक्खवे चारिकं ' का यह मंगल घोष इस धरती पर पहले पहल गूंजा था। हमारे लिए भी यह प्रेरणा का कारण बने। सद्धर्म से विशुद्धि प्राप्त कर हमारा चित्त भी मैत्री और करुणा से भरे। यदि इस मार्ग से हमें भी सचमुच लाभ हुआ है तो हम भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार, अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार सर्वजन के हित-सुख के लिएं, मंगल-कल्याण के लिए जुट जायँ। धर्म का उद्देश्य केवल आत्म-हित ही नही है। केवल आत्मोदय ही नही है। आत्महित साधकर पर-हित में लगना, आत्मोदय साधकर सर्वोदय में लगना, यही धर्म की सच्ची प्रेरणा है, जो कि हम सब साधकों में जागे। हमारे सत्प्रयत्नों से अधिक से अधिक लोग दुख-विमुक्त होकर शांतिलाभी बनें, यही जीवन-लक्ष्य हो। प्रेरणामयी अश्विनी पूर्णिमा का सब के लिए यही पावन सन्देश है। ●

४ / देखने में केवल देखना!

बम्बई महानगरी से लगभग पचास मील दूर पश्चिम रेल्वे पर एक छोटा-सा स्टेशन है — नल्ला। समीप ही समुद्र के किनारे एक छोटा सा गांव है — सुप्पारा। दो हजार पांच सौ वर्ष पूर्व के भारत का यह अत्यंत प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण बंदरगाह था। उस युग की बम्बई। नाम था सुप्पारक पत्तन। पत्तन कहते थे बंदरगाह को।

उन दिनों इस सुप्पारक महानगरी में एक अत्यंत वृद्ध संन्यासी रहता था। सिर पर सन से सफेद बालों की जटा, चेहरे पर वैसी ही लंबी दाढ़ी और मूंछ, कृश शरीर पर वल्कल वस्त्र, सब मिलाकर बड़ा भव्य व्यक्तित्व था उस संन्यासी का। विपुल जनसंख्या वाली उस महानगरी के अनेक धनीमानी लोग संन्यासी के श्रद्धालु भक्त थे। सैकड़ों की संख्या में नित्य दर्शन करने आते, चरणों की धूलि सिर पर चढ़ाते, पर्याप्त दान-दक्षिणा, भरपूर खाद्य सामग्री और दवादारू अर्पित कर अपने आपको धन्य मानते। भक्तों द्वारा गायी गई महिमा ने संन्यासी के मन में यह विश्वास पैदा कर दिया कि वह अवश्य ही अर्हंत अवस्था को प्राप्त हो गया है; जीवनमुक्त हो भवबंधनों से छूट गया है।

परंतु एक दिन किसी हितैषी ने बड़े प्यार से उसे समझाया कि वह अभी अर्हंत नही हुआ है और न ही अर्हंत होने के मार्ग पर आरूढ़ है। संन्यासी को सदमा लगा। पर वह समझदार था। आत्म चिंतन करने पर यह समझते देर नही लगी कि जबतक चित्तधारा पर विकारों का प्रवाह जारी है तबतक कोई अर्हंत कैसे हो सकता है? जीवनमुक्त कैसे हो सकता है? उसने स्वयं महसूस किया कि एकाग्रता के अभ्यास के बावजूद उसकी चित्तधारा सर्वथा विकार-शून्य नही हुई है।

उसने उत्सुकतावश प्रश्न किया, ''क्या इस जगत में कोई ऐसा व्यक्ति

है भी जिसकी चित्तधारा विकारों से पूर्णतया मुक्त हो गई हो ? जो अर्हंत हो गया हो ?''

उत्तर मिला — ''हां, अवश्य है। उत्तर भारत में राजनगरी कपिलवस्तु का शाक्य राजकुमार सिद्धार्थ गौतम घर से बेघर हो, परम सत्य की खोज में निकल पड़ा और वर्षों की खोज के पश्चात् चित्त को समस्त विकारों से विहीन करने की विधि उसने स्वयं खोज निकाली और अभ्यास कर अर्हंत अवस्था प्राप्त कर ली। वह सम्यक् रूपेन् स्वयं बुद्ध है। इस समय वह भगवान अर्हंत सम्यक् सम्बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे हैं। जिस विधि से उन्हें मुक्ति मिली, उसे वे अत्यंत करुण चित्त से, बिना किसी भेदभाव के, सब को सिखाते हैं।''

संन्यासी ने यह सुना तो मन में विचारों का एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ। मुझे भी घर से बेघर हुए वर्षों बीत गए। संन्यास इसीलिए धारण किया था कि सारे बंधनों से छूट कर नितांत विमुक्त हो जाऊं। परंतु देखता हूं, ऐसा तो नही ही हुआ। यह बाहरी बाहरी वेषभूषा, कर्मकांड और त्याग-तप की व्रतचर्या ने इन बाहरी लोगों को ही आकर्षित किया है, जिसके कि परिणाम स्वरूप इतना मान-सम्मान, गौरव-गरिमा, पूजा-प्रतिष्ठा और दान-दक्षिणा प्राप्त हो रही है। पर इन बेचारों को क्या पता कि मेरे चित्त की वास्तविक अवस्था क्या है ? ये तो मेरा बाह्य चारित्र्य ही देखते हैं। परंतु मुझे इस झूठे मान-सम्मान से क्या लेना देना ? जिस लक्ष्य के लिए घर बार छोड़ा, वह तो अनुपलब्ध ही रहा। चित्त परम विशुद्ध विमुक्त कहां हुआ ? चित्त-विशुद्धि की साधना मानव जीवन में ही शक्य है और मेरी यह वृद्ध अवस्था। मैंने अपने अनमोल जीवन का कितना भाग व्यर्थ खो दिया। उसे लगा शेष जीवन बहुत ही अल्प रह गया है।

मन में निराशा छा गई। इतने थोड़े समय में अब क्या हो सकता है ? तभी उसके मन में अभी अभी सुने शब्द गूंजने लगे कि ''जिस विधि से उन्हें

स्वयं मुक्ति मिली, उसे भगवान अर्हंत सम्यक् सम्बुद्ध अत्यंत करुणचित्त से, बिना किसी भेदभाव के, सब को सिखाते हैं।''

इससे उसके मुरझाए मन में एक नया जीवन जाग उठा। जीर्ण-शीर्ण शरीर में युवकों की सी बलवती स्फूर्ति उमड़ पड़ी और वह तत्काल चल पड़ा — श्रावस्ती की ओर। कहां सुदूर पश्चिमी तट के अपरांत प्रदेश की राजधानी सुप्पारक और कहां उत्तर में हिमालय के चरणों में स्थित कौशल प्रदेश की राजधानी श्रावस्ती। कितना लंबा रास्ता, भगवान अर्हंत सम्यक् सम्बुद्ध के दर्शन और उनसे चित्त-विशोध की विद्या सीखने की धर्म-अभिलाषा ने संन्यासी के मन में ऐसा अदम्य उत्साह भर दिया कि जिससे इस लंबी यात्रा का श्रम उसे श्रम जैसा नही लगा। इसीलिए सारी यात्रा भर केवल एक ही रात पूरा विश्राम कर सकने पर भी जब श्रावस्ती पहुँचा तो थकान महसूस नही हो रही थी।

यह है श्रावस्ती का जेतवन विहार। लेकिन यहां पहुँचने पर विहार-वासियों ने बताया कि भगवान तो इस समय भिक्षाटन के लिए शहर की ओर गए हुए हैं। उन्होंने संन्यासी से कहा कि वह कुछ देर विहार में विश्राम कर ले। तबतक भगवान लौट आएंगे।

परंतु धर्म संवेग प्राप्त परिव्राजक को विश्राम कहां? उसने राजनगरी श्रावस्ती की ओर शीघ्रता से कदम बढ़ाए। कुछ दूर चलने पर भगवान सम्यक् सम्बुद्ध को राजपथ पर भिक्षाटन के लिए जाते हुए देखा और अपलक, अवाक् देखता ही रह गया। कैसा महान् मंगल विधायक व्यक्तित्व। धीर गंभीर सौम्य शांत मुखमुद्रा, करुणा-विगलित नयन, शरीर के अंग-अंग में प्रस्फुटित संयम और शांति की अनुपम आभा, अंग-अंग के अणु-अणु से प्रवाहमान अनंत मैत्री की अजस्र तरंगे। श्रद्धाविभोर संन्यासीने भगवान के सामने घुटने टेक दिए, उनके चरणों पर सिर रख दिया।

"भन्ते भगवन! मुझे धर्म दीजिए। सुगत! मुझे शुद्ध धर्म की साधना सिखाइए, जिससे मेरा चिरकाल तक हित-सुख सधे।"

"धर्म सिखाने के लिए यह अनुकूल समय नही है, संन्यासी! तथागत इस समय भिक्षाटन पर निकले हैं। विहार लौटकर अवश्य सिखाएंगे।" भगवान ने कहा।

"भन्ते भगवन! जिन्दगी का क्या भरोसा? न मेरी जिंदगी का, न आपकी जिंदगी का! इस समय आप के प्रति मेरी श्रद्धा भी सजीव है, भगवन! कृपा कर अभी धर्म सिखाएं, जिससे चिरकाल तक मेरा हित-सुख सधे।"

संन्यासी द्वारा दुबारा, तिबारा आग्रह किए जाने पर वही राह पर एक ओर रुक कर भगवान ने उसे धर्मदेशना दी। संक्षेप में धर्म साधना सिखायी।

कहा — "इस प्रकार अभ्यास करना सीख। **दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति** देखने में मात्र देखना ही हो। **सुते सुतमत्तं भविस्सति** सुनने में मात्र सुनना ही हो। इसी प्रकार सूंघने में मात्र सूंघना, चखने में मात्र चखना, छूने में मात्र छूना, और जानने में मात्र जानना ही हो।"

समझदार संन्यासी ने भगवान के इस संक्षिप्त उपदेश को खूब विस्तार से समझा।

आंख, कान, नाक, जीभ, त्वचा और मन इन छहों इंद्रिय-द्वारों में से जिस क्षण जिस किसी द्वार पर, जिस किसी विषय का याने रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्शव्य अथवा विकल्प का संस्पर्श-संघात हो, उस क्षण उसी की जानकारी हो और केवल जानकारी मात्र होकर रह जाय। जिस क्षण जो हो रहा है, उस क्षण वही जानें। देखना तो मात्र देखना, सुनना तो मात्र सुनना, सूंघना तो मात्र सूंघना, चखना तो मात्र चखना, छूना तो मात्र छूना, सोचना तो मात्र सोचना और केवल जानकर ही रह जायँ, कोई प्रतिक्रिया न करें।

सतत अभ्यास द्वारा टुकड़े टुकड़े करके काल के उस छोटे से छोटे हिस्से तक जा पहुँचें, जिसे चित्त-क्षण कहते हैं। देखेंगे कि इस एक नन्हें से चित्त-क्षण में एक साथ दो घटना नही घटती। परंतु काल-धारा अत्यंत तीव्र गति से प्रवाहमान होती रहती है, जिससे कि एक-एक क्षण को और उस एक-एक क्षण में घटने वाली घटना को हम अलग अलग करके जानने की क्षमता गँवा बैठे हैं। तेज चलने वाले चलचित्र सदृश इस जीवनधारा को गतिशील ही देखते रहने के इतने आदी हो गए हैं कि इस फिल्म-रील के एक-एक चित्र को अलग-अलग देख ही नही पाते। इसी से दृष्टि-भ्रम होता है, मरीचिका पनपती है। इसी से पूर्वापर संबंध जुड़ता है और प्रपंच बढ़ता है। राग-द्वेष और मोह-मूढ़ता का प्रपंच। यह कैसा होता है? आओ, समझें।

छह इंद्रिय-द्वारों में से जिस किसी पर इस क्षण जो घटना घटी, उसे केवल जानकर ही नही रह जाते, बल्कि झट **संज्ञा** द्वारा पहचानते हैं। **संज्ञा** याने मानस का वह हिस्सा जो कि पूर्व अनुभूतियों और स्मृतियों के बल पर पहचानने का काम करता है। **संज्ञा** ने पहचाना कि हुआ प्रपंच आरंभ। छूट गया यह क्षण। लगे अतीत में भ्रमण करने। ऐसी अनुभूति पहले भी हुई थी या इससे मिलती जुलती हुई थी और हुई थी तो अच्छी लगी थी या बुरी। यह मूल्यांकन होते ही प्रपंच और आगे बढ़ने लगता है। वेदना (शरीर पर होने वाली संवेदना) सुखद या दुखद लगने लगती है। और तब चेतना का वह भाग जिसे **संस्कार** कहते हैं, झट अपना काम करने लगता है। उसका काम है प्रतिक्रिया करना। इस क्षण का देखना, सुनना, सूंघना, चखना, छूना और सोचना; अच्छा लगा तो राग की और बुरा लगा तो द्वेष की प्रतिक्रिया आरंभ हो जाती है। मन भविष्य में लोट-पलोट लगाने लगाता है। ऐसा हो, ऐसा न हो। यों भूतकाल की याद और भविष्य की कामना कल्पना और चित्तधारा पर राग-द्वेष की रेल-पेल चलने लगती है। इस क्षण जो देखना आदि हुआ उसे महज देखने आदि तक ही सीमित रखें तो न प्रपंच आरंभ

होता है, न ही बढ़ता है। अनारंभी ही प्रपंच-मुक्त होता है।

साधक ध्यान देता है तो देखता है कि शरीर के पांच द्वारों पर स्पर्श-संघात की अनुभूति जितनी बार और जितनी देर होती है, उसके मुकाबले मन पर होने वाली कहीं अधिक है। देखने, सुनने, सूंघने, चखने और छूने की अपेक्षा सोचने का काम कई गुना अधिक होता है। जो घटना मन पर ही घटी, उसकी रेल-पेल तो मन पर चलती ही है, परंतु जो इन पांच कायेन्द्रियों में से किसी पर घटी उसकी भी प्रतिक्रिया मन पर ही होती रहती है। यह सारा प्रपंच, बढ़ाव, फैलाव मन से ही होता है। क्योंकि आरंभ मन से ही होता है। जबतक हम जीवित हैं और तन-मन के छह आयतन (खिड़की दरवाजे) खुले हैं, तबतक हर क्षण किसी न किसी आयतन से कुछ न कुछ प्रवेश होता ही रहता है और उसे लेकर यह पागल आरंभी मन राग-द्वेष आरंभ कर प्रपंच, बनाता ही रहता है। ऐसी अवस्था में चित्त-विशुद्धि कहां ? चित्त-विमुक्ति कहां ?

क्षण-क्षण के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें अलग-अलग नहीं जानने से प्रत्युत्पन्न याने वर्तमान को अतीत और अनागत से गड्ड-मड्ड किए रहते हैं। इससे एक और कठिनाई पैदा होती है। घटनाओं के इस तारतम्य में एक सूत्र पिरोया हुआ आभासित होता है — अहंभाव का, अस्मिताभाव का, आत्मभाव का एक अविरल सूत्र। इसी से एक **मैं** का अस्तित्त्व उभरता है। धीरे धीरे यह **मैं** है की प्रतीति **मैं हूं** में परिवर्तित होकर दृढ़ मूल हो जाती है। यह **मैं हूं** जिसने कि बचपन से अब तक ऐसी-ऐसी अनुभूतियां की और यह **मैं हूं** जो भविष्य में ऐसी-ऐसी अनुभूतियां करूंगा। **मैं हूं** का यह भ्रम इस अस्तित्वहीन **मैं** के प्रति आसक्तियां पैदा करता है जो कि राग और द्वेष की अग्नि को और अधिक प्रज्वलित करता है। यह **मैं हूं** की अविद्या ही है जो कि राग-द्वेष को और रागद्वेष की मोहमूढ़ता ही है जो कि **मैं हूं** को परस्पर बलवान बनाती रहती है।

साधक अपने सतत अभ्यास द्वारा फिल्म की रील के टुकड़े-टुकड़े कर

लेता है तो **मैं हूं** का भ्रम टूटता है। **मैं हूं** फिर **मैं है** में परिवर्तित होता है और **मैं है** केवल लोक व्यवहार के लिए रह जाता है। इसमें **मैं** के अलग-थलग व्यक्तित्व की भ्रांति दूर होती है। एक-एक क्षण का अपने आप में अलग-अलग साक्षात्कार होने लगता है। भ्रम टूट कर वस्तुस्थिति स्पष्ट होती है। प्रज्ञा जागती है, अविद्या का सारा क्लेश दूर होता है। राग-द्वेष की नई गांठें बँधनी बंद होती हैं और पुरानी खुलने लगती हैं।

तब देखने में 'देखता हूं' का भ्रम दूर होता है। 'देखने में मात्र देखना' ही रह जाता है। जैसे देखने में मात्र देखना, वैसे ही सुनने में मात्र सुनना, सूंघने में मात्र सूंघना, चखने में मात्र चखना, छूने में मात्र छूना रह जाता है और ऐसे ही जानने में मात्र जानना रह जाता है। 'कर रहा हूं' या 'भोग रहा हूं' की जगह 'हो रहा है' की सच्चाई प्रकट होती है। भोक्ताभाव और कर्ताभाव की माया विदीर्ण होती है। अहंभाव, अहंकार-विहीनता में प्रतिष्ठित होता है। आत्मभाव-अनात्मभाव में बदलता है।

अब तक तो केवल सैद्धान्तिक स्तर पर ही साधक यह मानकर चलता था कि यह काया और यह चित्त-प्रपंच 'मैं' नही हूं, 'मेरा' नही है, 'मेरी आत्मा' नही है।' परंतु अब महज मानने की बात नही रह जाती। अब तो वह स्वानुभूतियों के बल पर इस सच्चाई को स्वयं जान लेता है और उसे स्पष्ट होता है कि इन ऐन्द्रिय अनुभूतियों के कारण किसी **मैं** का अस्तित्व नही है और तब यह भी स्पष्ट होता है कि इन ऐन्द्रिय अनुभूतियों में भी किसी **मैं** का अस्तित्व नही है। न यह ऐन्द्रिय अनुभूतियां किसी **मैं** को धारण किए हुए हैं और न कोई **मैं** इन इन्द्रियों को धारण किए हुए है।

यही बात संन्यासी को समझाते हुए भगवान ने कही कि जब तुम्हें **'दिट्ठे दिट्ठमत्तं भविस्सति** ... याने देखने में देखना मात्र ... आदि होने लगे तो **ततो त्वं न तेन** याने इस देखने, सुनने आदि के कारण से तुम हो, यह भ्रांति दूर होगी और तभी **ततो त्वं न तत्थ** याने इस देखने, सुनने आदि

में तुम हो, यह भ्रम भी मिटेगा। ऐसी अहं शून्य स्थिति होतें ही लोकोत्तर निर्वाण का साक्षात्कार होगा। **एसेवन्तो दुक्खस्सा** यही दुखों का अंत है।

मेधावी संन्यासी भगवान के दिए हुए इस संक्षिप्त उपदेश को विस्तार से केवल समझकर ही नही रह गया, बल्कि उसे अभ्यास में उतारने लगा। जिसे अपनी मृत्यु समीप दिखे उसे प्रमाद के लिए अवकाश कहां ? वही कही एक ओर बैठकर अंतर्मुखी हुआ और अविरल चित्तधारा के टुकड़े-टुकड़े करके प्रत्येक क्षण जैसा है वैसा अलग-अलग देखने लगा। देखते- देखते ही अस्मिताभाव टूटा, पूर्व संस्कारों से छुटकारा मिला और चित्त अनासक्त हो आस्रवों से विमुक्त हो गया। परम पद निर्वाण का साक्षात्कार हो गया। संन्यासी कृतकृत्य हुआ। धन्य हुआ। अल्प बचा जीवन सफल-सार्थक हुआ। भगवान भिक्षाटन से लौटे तो उसकी जीवन-लीला पूरी हो चुकी थी। भिक्षुओं ने भगवान से उसकी गति पूछी तो भगवान ने कहा कि वह सभी गतियों के परे अर्थात गतिमुक्त हो गया है। परिनिर्वाण को प्राप्त हो गया है। उस समय भगवान के मुँह से उदान के यह बोल निकल पड़े, जिनमें कि अनिर्वचनीय निर्वाणिक अवस्था के ल़िए नकारात्मक भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

यत्थ आपो च पठवी, तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति॥
न तत्थ चंदिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति।
यदा च अत्तनावेदि मुनि मोनेन ब्राह्मणो।
अथ रूपा च अरूपा च सुखदुक्खा पमुच्चति॥

जहां न पृथ्वी, न जल, न अग्नि और न वायु का ही प्रवेश है। जहां न शुक्र की ज्योति है, न सूर्य का प्रकाश है, न चन्द्रमा का उजाला है और जहां आलोक का अभाव भी नही याने अंधकार भी नही है। कोई ब्राह्मण मुनि मौन पथ पर चलकर इसे स्वयं जान लेता है तो सारे रूप और अरूप लोकों से

पार चला जाता है। सुख दुख के द्वन्दों से मुक्ति पा लेता है।

जहां **अत्तनावेदि** शब्द साधकों के लिए ध्यान देने योग्य है। कोई साधक परम सत्य को **स्वयं जानकर** ही मुक्त हो सकता है।

हम नहीं जानते कि सुप्पारक पत्तन में वह संन्यासी किस नाम से पुकारा जाता था। पर पाली वाङ्मय में वह **बाहिय दारुचीरिय** के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किसी को उसका नाम पूछने का और उसको अपना नाम बताने का अवकाश ही कब मिला? बाहर प्रदेश से आया था शायद इसलिए उसे **बाहिय** (बाह्य) कहा गया हो अथवा यह भी संभव है कि बाहर के किसी संप्रदाय का था इसलिए **बाहिय** कहा गया हो। दारु याने पेड़ की छाल अर्थात वल्कल के चीवर पहने हुए था इसलिए जिसने देखा उसने **दारुचीरिय** कहा। इस प्रकार **बाहिय दारुचीरिय** नाम अमर हो गया। पर क्या पड़ा है नाम में? संप्रदाय में? देश में? वेश में? जो भी आंतरिक सच्चाइयों का स्वयं सूक्ष्मता से साक्षात्कार कर लेता है, **अत्तनावेदि** हो जाता है, वही मुक्त हो जाता है।

धन्य है यह धर्मगंगा, जिसमें कोई भी डुबकी लगाकर शुद्ध-बुद्ध, विमल-विमुक्त हो जाता है। न यह जाति पूछती है न गोत्र, न देश, न वेश, न वर्ग, न वर्ण, न समुदाय, न संप्रदाय। इसका कोई अपना है न पराया, बाहरी है न भीतरी, देशी है न परदेशी। इस धर्म गंगा में जो नहाए सो निहाल।

ऐसी कल्याणकारिणी सार्वजनीन धर्मगंगा सब को मिले! सब का भला हो! सब का मंगल हो! सबकी विशुद्धि-विमुक्ति हो! ●

५ / कथै न होई : कीयै होई

धर्म के तीन सोपान है—**१. परियत्ति, २.पटिपत्ति ३.पटिवेधन।**

परियत्ति (पर्याप्ति) याने धर्म के शास्त्रीय सैद्धांतिक पक्ष की पूरी-पूरी जानकारी। धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना, बहुश्रुत होना और उस पढ़े-सुने हुए धर्म को बुद्धि के स्तर पर चिंतन-मनन द्वारा भलीप्रकार समझ लेना **परियत्ति** कहलाता है।

परन्तु यदि कोई व्यक्ति **परियत्ति** याने श्रुत ज्ञान और चिंतन ज्ञान तक ही रुका रह जाय, उसके आगे कदम न रखे तो सचमुच बड़ा अभागा है। **परियत्ति** ज्ञान तो पराया ज्ञान है, अपना नही। ऐसा व्यक्ति उस ग्वाले के समान है जो कि लोगों की गाएं चराने ले जाता है और शाम को उनके घर लाकर बांध देता है। वह एक-एक गाय का ब्योरा जानता है। काली है, सफेद है, पीली है या चितकबरी है। ग्वाभिन है, ब्यावल है। दूध देती है तो कौन कितने सेर दूध देती है? सारा विवरण जानता है। परन्तु गाय परायी, गाय का दूध पराया। उसे तो एक बूंद भी चखने को नही मिलता।

ऐसा व्यक्ति उस रखवाले के समान है, जो सारे बाग का पूरा ब्योरा जानता है। कुल कितने पेड़ हैं? किस-किस फल के कितने-कितने पेड़ हैं? किस-किस पेड़ पर कितने-कितने फल लगे हैं? सब जानता हैं। पर पेड़ पराए, पेड़ के फल पराए। वह तो केवल रखवाला मात्र है। स्वयं एक फल भी नही चख सकता।

ऐसा व्यक्ति उस मजदूर के समान है जो कि अपने सिर पर बहुमूल्य वस्त्र-आभूषणों की संदूक उठाए चलता है। पर संदूक परायी, उसके भीतर का मालमत्ता पराया। वह उसे छू तक नही सकता। केवल भार ढोता है। यही दशा है **परियत्ति** धर्म तक सीमित रह जानेवाले व्यक्ति की।

कालेन धम्मस्सवनं — समय-समय पर धर्म का श्रवन करना मंगलदायी है और **कालेन धम्म साकच्छा** — समय-समय पर धर्म की चर्चा करना मंगलदायी है। परन्तु वस्तुतः मंगलदायी तभी है जब कि उस श्रुत धर्म को धारण करने लगें। और यही धर्मपथ का दूसरा सोपान है जिसे **पटिपत्ति** (प्रतिपत्ति) याने प्रतिपादन कहा गया। धर्म का प्रतिपादन किया जाय, धर्म धारण किया जाय।

जब कोई व्यक्ति शील-सदाचार का जीवन जीने लगता है और इसके लिए मन को वश में रखने का अभ्यास करने लगता है तो **पटिपत्ति धर्म** आरंभ हो जाता है जो कि आशुफलदायी होता है। ऐसा व्यक्ति अपना भी भला करता है तथा औरों का भी। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। जब-जब शील-सदाचार से विमुख होता है तब-तब औरों की सुख-शांति भंग करता है और साथ ही साथ अपनी भी हानि करता है।

शील-सदाचार का जीवन जीना, आत्म-संयम का जीवन जीना, किसी संप्रदाय-विशेष का धर्म नहीं है। यह तो सब का धर्म है। सब के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। समझदार व्यक्ति धर्म के इस सार्वजनीन सर्वमांगल्यमय स्वरूप को समझकर ही उसका प्रतिपादन आरंभ करता है।

परन्तु ऐसा करनेवाला व्यक्ति देखता है कि कदम-कदम पर क़ठिनाइयां आ रही हैं। बाहर से अधिक भीतर की कठिनाइयां। लंबे अतीत के स्वभाव के कारण मन बार-बार विकारों से विकृत हो उठता है और सदाचार का जीवन जीने के लिए बार-बार मन का दमन करना पड़ता है। हर दमन से भीतर ही भीतर गांठें बँधती हैं, तनाव बढ़ता है और परिणामतः व्याकुलता पैदा होती है।

तो समझदार व्यक्ति धर्म के तीसरे सोपान की ओर कदम उठाता है। जिसे **पटिवेधन** याने प्रतिवेधन कहते हैं। वह अपने चित्त के बारे में स्वयं

अनुसंधान करना शुरू करता है। चित्त पर उत्पन्न होनेवाले विकारों के बारे में अनुसंधान करता है। चित्त और शरीर के पारस्परिक संबंधों को जानने के लिए शरीर के बारे में अनुसंधान करता है। चित्त-विकारों के कारण प्रभावित होती हुई शारीरिक संवेदनाओं के बारे में अनुसंधान करता है। अनुसंधान के प्रारंभिक प्रयत्नों में घनीभूत सत्यों का ही सामना होता है। शरीर संबंधी सघनता और शरीर पर होनेवाली संवेदनाओं की सघनता, चित्त और चित्तवृत्तियों की सघनता। यही प्रतिवेधन है जो कि स्थूल का विघटन करते-करते सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्य तक पहुँचाता है। शरीर, चित्तवृत्तियों के बारे में अंतिम सत्य का साक्षात्कार करवाता है।

प्रतिवेधन की इस प्रक्रिया में सहजभाव से मन के विकार दूर होने लगते हैं। मन की गांठें खुलने लगती हैं। विविध प्रकार से प्रतिवेधन करनेवाली विपश्यना साधना द्वारा साधक एक-एक घनीभूत कर्म-ग्रन्थियों को धुन-धुनकर खोलता है। उसके तार-तार अलग कर लेता है तो विकार-विमुक्त हो जाता है, दुःख-विमुक्त हो जाता है। अंततः शरीर और चित्त के परे जो परम सत्य है, उसका भी साक्षात्कार कर लेता है। इस प्रकार धर्म की यात्रा पूरी कर मानव-जीवन सफल बना लेता है।

परियत्ति प्रतिपत्ति के लिए है। प्रतिपत्ति प्रतिवेधन के लिए है। प्रतिवेधन विकार-विमुक्ति के लिए है। धर्म का यह सार्वजनीन वैज्ञानिक पक्ष धारण करने पर ही फलदायी होता है, मंगलदायी होता है। इसकी केवल चर्चा करें, केवल श्रद्धापूर्वक श्रवण करें अथवा बुद्धि के स्तर पर चिंतन-मनन करें, पर धारण न करें तो कोई लाभ नही होता। इस संदर्भ में कबीर के यह बोल कितने सार्थक लगते हैं।

कथै, बदै, सुणै सब कोई।

सब कोई कहते हैं, बोलते हैं, सुनते हैं; पर

कथै न होई, कीयै होई।

कहने से कुछ नही होता, जो कल्याण होता है वह करने से ही होता है।

अतः साधकों! केवल कह-सुन कर न रह जायँ; आओ करें! धर्म धारण करें! परियत्ति के क्षेत्र से आगे बढ़कर प्रतिपत्ति के और प्रतिवेधन के क्षेत्रों की ओर बढ़ें और सही माने में अपना कल्याण साध लें! ●

६ / सच्ची विजय

विजय-पर्व मनाने का एकमात्र उद्देश्य यही होना चाहिए कि किसी की विजय को याद कर हम भी विजयी बनने की प्रेरणा प्राप्त करें और प्रयत्नशील होकर स्वयं भी विजयी बनें। किसी की विजय का गुणगान गा लेने मात्र से अथवा जश्न मना लेने मात्र से, खुशियां मना लेने मात्र से हमें क्या मिला? हमारा लाभ तो स्वयं विजयी बनने में है। किसी ने अपने दुश्मनों पर विजय पायी और फलस्वरूप उन दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्त होकर सुखी हो गया। इससे हमें सुख कैसे मिला? हम तो तभी सुखी होंगे जब कि स्वयं अपने दुश्मनों का खात्मा कर लेंगे, अपने दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्ति पा लेंगे।

भगवान बुद्ध ने अपने दुश्मन पर विजय पायी। उनका दुश्मन था मार याने मृत्युराज। यह हम सबका भी दुश्मन है। मृत्युराज के चंगुल से निकलना सचमुच बड़ा ही कठिन काम है। राग, रति और तृष्णा उसकी बेटियां हैं। इन बेटियों के बल पर यह सभी लोगों पर अपना अधिकार जमाए हुए है। सभी प्राणी राग, रति और तृष्णा के अधीन हैं। बार-बार इन वासनाओं के जाल में उलझ कर जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु के मुँह में पड़ते हैं। भगवान बुद्ध की यही सम्यक् संबोधि थी, यही उनकी विमुक्ति थी कि उन्होंने तृष्णा, राग, रति को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया और मृत्युराज को निरुपाय कर दिया; निहत्था, निःशस्त्र, निर्बल कर, परास्त कर दिया। अब बुद्ध के लिए न बार-बार का जन्म रह गया और न बार-बार की मृत्यु रह गयी। वह मृत्यु के बन्धनों से मुक्त हो गये।

बुद्ध ने मार को परास्त कर दिया, बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त कर ली, इसलिए हम खुशियां मनाएं और बुद्ध के गुणगान गाएं तो इससे हमें क्या मिल जाने वाला है? क्या इससे हम भी मुक्त हो जाएंगे? क्या इससे हम भी मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा लेंगे? क्या इससे हम भी अमृत-पद प्राप्त कर

लेंगे? यदि ऐसा होता तब तो विजय की खुशियां मनानी अवश्य सार्थक होती। परन्तु ऐसा होता कहां है? यदि बुद्ध द्वारा मार को जीत लेने पर सारी दुनिया सदा के लिए मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा चुकी होती, तब तो यह खुशियां मनाई जानी अवश्य कुछ अर्थ रखती। परन्तु ऐसा तो हुआ नही, ऐसा कभी होता भी नही। सभी लोग मृत्यु के अधीन हैं, क्योंकि सभी लोग तृष्णा के अधीन हैं। तो खुशियां किस बात की? अमृत तत्त्व प्राप्त करने के लिए तो एक-एक को स्वयं अपनी लड़ाई लड़नी होगी। स्वयं अपने भीतर समाई हुई तृष्णा को नेस्तनाबूद करना होगा, उसे जड़ से उखाड़ना होगा। तभी विजय मिलेगी, तभी मुक्ति मिलेगी। बुद्ध की विजय बुद्ध के लिए मुक्तिदायिनी साबित हुई। इसी प्रकार एक-एक व्यक्ति की अपनी विजय ही उसके लिए मुक्तिदायिनी साबित होगी। हां, किसी अन्य की विजय, किसी अन्य की मुक्ति हमारे लिए प्रेरणा का कारण अवश्य बननी चाहिए, हमारे लिए मार्ग-निर्देशिका अवश्य बननी चाहिए। हम भी उसी मार्ग को अपनाएं, जिसे अपनाकर कोई व्यक्ति विजयी बना, मुक्त बना। हम भी उसी रास्ते पर चल कर विजयी बनें, मुक्त बनें। तभी विजय-पर्व मनाने का कोई अर्थ है, कोई लाभ है, कोई मतलब है।

किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा किसी अन्य व्यक्ति पर विजय प्राप्त करने की याद में खुशियां मनाना तो और भी बेमाने है। विजय दशमी के दिन सम्राट अशोक ने कलिंग देश को परास्त किया। वहां के लोगों पर विजय प्राप्त की। भयानक संग्राम में हजारों लोग मारे गये, लाखों अंगहीन हो गये, कितने अनाथ हुए, कितनी मांगों का सिंदूर पुँछ गया, कितनी गोदें सूनी हो गयी, कितने घर उजड़ गये, कितने चमन वीरान हो गये। बर्बादी के इस माहौल में अशोक ने कलिंग देश पर विजय पायी। क्या हम इस विजय की खुशियां मनाएं? क्या यह विजय सचमुच विजय थी? इस विजय की महिमा बढ़ाने के लिए और विजेता की गौरव-गरिमा स्थापित करने के लिए न जाने कितने कवियों, लेखकों और साहित्यकारों ने कलिंग पर हर प्रकार की

दुष्टता का और अशोक पर हर प्रकार की सौजन्यता का गहरा रंग-रौगन चढ़ा दिया होता। परन्तु इससे भी यह विजय, विजय नही होती। यह तो अशोक की पराजय थी। वह अपनी लालसाओं का गुलाम था। एषणाओं का दास था, तृष्णाओं का बन्दी था। उनको वह जीत कहां सका? जीतता तो इतनी भयानक बर्बादी करता ही कैसे?

उसकी सच्ची विजय तो इस बात में हुई कि इस विनाश-लीला ने उसकी आंखें खोल दी। सन्त पुरुष अर्हंत मौगलिपुत्र तिस्स के संपर्क में आकर इस विजय-दशमी के दिन ही उसे अपनी भूलों का बोध हुआ। फलतः हिंसा के मार्ग का परित्याग कर उसने शान्ति-पथ चुना। यही उसकी विजय थी। उसने अपने आपको जीता, अपने मन को जीता, अपने मन में समाए हुए दुर्गुणों को परास्त किया। अब चण्ड-अशोक "धम्म-अशोक" बन गया। देवताओं सहित सभी प्राणियों को प्यारा लगने वाला, **"देवानांप्रिय अशोक"** बन गया। युद्ध की विकराल ज्वालाएं बुझ गयी। शान्ति की चांदनी शीतलता बरसाने लगी। सारे देश में प्रेम, करुणा और जन-सेवा की पावन गंगा लहराने लगी। चारों ओर सुख-शांति और समृद्धि का साम्राज्य छा गया। यही अशोक की सच्ची विजय थी।

ऐसी विजय हमें भी प्राप्त हो। हम भी अपने मन में समाए हुए सभी दुर्गुणों की आग बुझा सकें, अपने अन्तर्मानस को निर्मल शान्ति-लहरियों से उर्मिल कर सकें। यही जीत हमारी सच्ची जीत होगी। बाहर के दुश्मनों को जीतना कोई जीत नही है। हिंसा के बल से एक को जीत भी लेंगे तो अधिक बलवान दूसरा अपना सिर उठाएगा और हमें डराएगा। जय-पराजय का यह चक्र हमें सदा अशान्त ही रखेगा। हम सदा अपने से अधिक बलवान से भयभीत ही रहेंगे। निर्भयता हमसे कोसों दूर रहेगी। ऐसी अवस्था में हम भला अपने आपको विजयी कैसे कह सकेंगे? भगवान ने कितना ठीक कहा, हजार बार हजार युद्ध-भूमियों पर हजार-हजार योद्धाओं को अकेला परास्त कर देने वाला भी विजयी कहलाने योग्य नही है। सच्चा विजयी तो

वही है, जो कि अपने आपको जीत चुका है।

सचमुच जिसने अपना मन जीत लिया, उसने जग जीत लिया। जो अभी तक अपने मानसिक व्यसनों का गुलाम है, वह चक्रवर्ती सम्राट हो कर भी पराजित ही है। अतः दूसरे को जीत कर हमें क्या मिलेगा ? जीतना ही है तो अपने आप को जीतें। यही सच्ची जीत है। यदि किसी दूसरे को जीतना ही चाहते हों तो अपने निश्छल प्यार से जीतें, असीम करुणा से जीतें, बन्दूक से नही। डन्डे और बन्दूक की जीत, जीत नही होती। हर डन्डे के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ा डन्डा तैयार होता रहता है। हर बन्दूक के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ी बन्दूक तैयार होती रहती है। इस स्पर्धा में जीत कहां ? परन्तु जिसे प्यार से जीत लें, मैत्री और करुणा से जीत लें, वह जीत फिर हार में नही बदल सकती। कोई उससे बड़ी मैत्री पैदा कर के उस विजय को पुष्ट ही करेगा। उसके नष्ट होने की कतई आशंका नही।

अंगुलिमाल एक बड़ा खौफ़नाक डाकू था। मनुष्य की देह में पूरा पिशाच। कोशल देश का राजा प्रसेनजित उस राक्षस के बोझ से पृथ्वी का भार हल्का करना चाहता था। वह उसे मारने में सफल नही हुआ। यदि अपने विपुल सैन्य बल से वह अंगुलिमाल को मार भी देता तो क्या इससे समस्या का समाधान हो जाता ? किसी को मार देने से न मरने वाले का उद्धार होता है, न अन्य लोगों का। असली उद्धार तो उसको बदल देने में है। उसको दानव से मानव बना देने में है। उसकी पैशाचिक वृत्तियां नष्ट कर देने में है और यह काम असीम मैत्री और करुणा से ही हो सकता है, डन्डों से नही, बन्दूक की नलियों से नही। जो काम राजा प्रसेनजित की सेना की तलवारें नही कर सकी, वही तथागत की असीम मैत्री ने कर दिखाया। भगवान ने मैत्री और करुणा के बल पर ही उस भूले-भटके व्यक्ति को सही मार्ग पर आ सकने में सहायता प्रदान की। उसे सदा के लिए जीत लिया। धर्म का अभ्यास कर वह अर्हंत हो गया। जीवन-मुक्त हो गया। उसके भीतर समाई हुई सारी पाप वृत्तियों का क्षय हो गया। अब वह धरती पर भार नही रहा।

लोगों के त्रास का कारण नही रहा। अब तो वह संत पुरुष शुद्ध-चित्त से लोगों की सेवा में लग गया। सही माने में उसका भी उद्धार हुआ और जनता का भी उद्धार हुआ। ऐसा उद्धार डन्डे के बल पर कभी नही हो पाता। हिंसा से हिंसा पर विजय नही पायी जा सकती। वैर से वैर पर विजय नही पायी जा सकती। अहिंसा और मैत्री से ही हिंसा और वैर को जीता जा सकता है। उनका शमन किया जा सकता है। यही सनातन धर्म है, यही प्रकृति का अटूट नियम है। धर्म के इस गूढ़ रहस्य को हम भी समझें और हत्याओं के बजाय प्यार और करुणा द्वारा किसी बुरे की बुराई को जीतने का प्रयत्न करते रहें। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जब कि हम पहले अपने आप को पूरी तरह जीत लें। अपने अन्तर्मन की गन्दगियों को दूर करके उसे स्वच्छ और निर्मल बना लें। तभी वह सही मैत्री और करुणा से परिपूर्ण हो सकेगा। तभी वह औरों को प्रभावित कर सकेगा। जबतक ऐसा न होने लगे तबतक अपने आपको जीतने में ही लगे रहें, अपने आप को ही स्वच्छ और निर्मल करने में लगे रहें। विपश्यना के सतत अभ्यास द्वारा आत्मविजयी बनें, तृष्णा को जड़ से उखाड़ फेकें, आसक्तियों के बंधन से मुक्त हो जायँ और इस प्रकार अपने आप पर विजय पाते हुए सही अर्थ में विजयपर्व मनाना सीखें। इसी में हमारा मंगल है, कल्याण है, भला है। यही हमारी सच्ची विजय है। इसे ही प्राप्त कर हम स्वयं सुखलाभी हों तथा औरों के सुख-वर्धन का भी कारण बनें।

व्यावहारिक जीवन में हमें कभी-कभी किसी पागल व्यक्ति का सामना करना पड़ जाता है, तो उसके साथ कठोरता का बर्ताव करना जरूरी हो जाता है। ऐसे समय कठोरता बरतें, परन्तु बरतें उसके पागलपन के प्रति। उस पागल के प्रति तो हमारा मन करुणा से ही भरा हो। ठीक वैसे ही जैसे कि डाक्टर फोड़े के प्रति कठोरता बरतता हुआ उसे चीरता है, परन्तु रोगी के प्रति तो उसके मन में करुणा ही करुणा समायी होती है।

सब्बे सत्ता सुखिता होन्तु। •

७ / मतलब की बात करें

भदन्त आनन्द कौसल्यायनजी का विनोदी स्वभाव बहुत प्रसिद्ध है। निर्मल विनोदी वही होता है, जिसके विनोद में कटुता नही होती। ऐसा विनोदी अपने आप पर भी विनोद करके उन्मुक्त हँसी-हँस सकता है। आनन्दजी के ऐसे विनोदी स्वभाव से मेरा पुराना परिचय रहा है। इसलिए नासिक शिविर के बाद जब बम्बई लौटने का प्रोग्राम बना और आनंदजी ने भी साथ चलने की इच्छा प्रकट की तो मन बड़ा प्रसन्न हुआ कि यह तीन-चार घंटे की यात्रा अच्छी कटेगी। धर्म-चर्चा के साथ-साथ उनकी विनोदप्रियता यात्रा को सुखद बना देगी और सचमुच यही हुआ भी। किसी-न-किसी धर्म प्रसंगवश वे अपने जीवन का कोई एक रोचक संस्मरण सुना देते, जिससे देर तक मन प्रफुल्लित रहता। ऐसा ही एक संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने बताया – "पुरानी बात है। कानपुर के किसी एक बड़े व्यापारी के यहां ठहरा था, जो कि कट्टर आर्य समाजी था और बड़ा ईश्वरभक्त भी था। रोज प्रातःकाल वह अपने दुकान के सभी कर्मचारियों को घर पर एकत्र करता, हवन-यज्ञ, मंत्र-जाप और पाठ करने के बाद कुछ देर धर्म-चर्चा करता। यदि संयोगवश बाहर से कोई विद्वान आया होता तो उसी का धर्म-प्रवचन रखा जाता, अन्यथा सेठजी स्वयं धर्म-उपदेश देते। उस दिन मुझे ही धर्मप्रवचन के लिए कहा गया। उन दिनों मैं नया-नया बौद्ध भिक्षु बना था, इसलिए बड़ा जोश था। अतः उन ईश्वरवादियों के सामने ईश्वर के अस्तित्व का खंडन करने में मेरे पास जितने तर्क एकत्र थे, उन सबका प्रयोग किया। खूब जोश-खरोश से भरा हुआ अपना वह लंबा प्रवचन जब समाप्त किया तब सेठजी ने हाथ जोड़कर कहा, "महाराज! यह तो हुआ, अब जरा मतलब की बात हो जाय, कुछ धर्म की बातें हो जायँ।" संस्मरण सुनाकर आनंदजी ने हँसते हुए कहा कि मुझपर घड़ों पानी पड़ गया। उस दिन मुझे जितना हतप्रभ होना पड़ा, उतना मैं कभी नही हुआ।

मुझे लगा कि मेरी सारी ज्ञान-गरिमा, सारा तर्क-कौशल इस आदमी ने एक ही वाक्य में निरर्थक साबित कर दिया।''

सचमुच! धर्म का सार कोरी तर्कबाजी में कहां धरा है? धर्म के क्षेत्र में बुद्धि का उपयोग अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा धर्म अंध-श्रद्धा और मिथ्या दृष्टियों का गढ़ बन जाय। लेकिन धर्म को केवल मात्र तर्कजन्य बुद्धि किलोल का ही रूप दे दें तो भी वह निष्प्राण हो जाय। जिस प्रकार तर्कों के बल पर ईश्वर के अस्तित्व का खंडन कर देना मात्र ही धर्म नही है, वैसे ही तर्कों के बल पर ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर देना मात्र भी धर्म नही है। और जहां धर्म नही है, वहां सचमुच मतलब की बात नही है। निरर्थक थूक-बिलोवन है, जिसमें कोई सार नही, कोई नवनीत नही। जिसमें किसी का कोई हित-सुख नही, किसी का कोई मंगल-कल्याण नही। किसी को कोई प्राप्ति उपलब्धि नही। ईश्वरवादियों और निरीश्वरवादियों के अथवा ईश्वरवादियों में भी त्रैत, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत वादियों के या सगुण साकार, सगुण निराकार अथवा निर्गुण निराकार वादियों के पारस्परिक वादविवादों में उलझकर किसी को क्या मिल जाने वाला है? हर दार्शनिक विवाद बुद्धि-किलोल है, दिमागी द्वन्द है, जिसमें जीतने वाला अभिमान से अपना सिर सुजा लेता है और हारनेवाला अपमान से अपना दिल जला लेता है। दोनों ही विग्रह बढ़ाने के कारण बनते हैं। विग्रह से आज तक किसी को कोई लाभ हुआ नही, कोई शांति मिली नही। अतः इस दिमागी कसरत की बात छोड़कर मतलब की बात करें, लाभ की बात करें, सही धर्म की बात करें।

एक रोगी के मतलब की बात यही है कि वह अपना सही रोग जाने, रोग का कारण जाने, इस तथ्य को जाने कि रोग का कारण दूर करके रोग निवारण किया जा सकता है और फिर उस रोग-निवारण की विधि जानकर उसका प्रयोग करे और रोग-मुक्त बने। उस रोगी को भिन्न-भिन्न प्रकार की कलाबाजियों वाला सरकस का खेल दिखाया जाय तो थोड़ी देर के लिए

वह अपने रोग को भूल भले जाय, परंतु इससे उसके रोग का निवारण तो नही ही हो सकता। इसी प्रकार नाना प्रकार के दुखों से संतप्त प्राणी के सामने दार्शनिक वाद-विवादों की दिमागी कसरतों का खेल उसे कुछ देर के लिए चकित-विस्मित भले बनाए रखे, परंतु इससे उसके दुखों का निवारण तो नही ही हो सकता।

दुखी व्यक्ति के मतलब की बात तो यह है कि वह अपने दुख को जाने, अपने दुख के मूलभूत कारण को जाने और उस कारण को दूर कर सकने वाले किसी साधन का प्रयोग करके स्वयं दुःख-मुक्त हो जाय। यदि इन दार्शनिक विवादों में हमारे दुखों का कारण और उसके निराकरण का राज समाया हुआ होता तो हमारे लिए सचमुच यही करणीय था कि हम दार्शनिक विवाद द्वारा अपने दुख का निवारण कर लेते। परंतु ऐसा तो होता नही। सिद्धान्तों के क्षेत्र में चाहे कोई ईश्वरवादी है या निरीश्वरवादी, चाहे कोई द्वैतवादी है या अद्वैतवादी, चाहे कोई सगुण साकारवादी है या निर्गुण निराकारवादी, वास्तविकता के क्षेत्र में तो वह दुःख-संतप्त ही है। जन्म का दुख, रोग का दुख, बुढ़ापे का दुख, मृत्यु का दुख, अनचाही बातों के होने का दुख, मनचाही बातों के न होने का दुख, क्रोध का दुख, ईर्ष्या का दुख, दौर्मनस्यता का दुख, भय का दुख, राग-रंजन का दुख, द्वेष-दूषण का दुख, मोह-विमूढ़न का दुख — इस प्रकार के अनेकानेक दुखों से कोई मुक्त नही। किसी संप्रदाय विशेष में दीक्षित होने मात्र से कोई आज तक दुख-विमुक्त हुआ नही। बौद्धिक स्तर पर किसी मान्यता विशेष को स्वीकार कर आज तक कोई दुख-मुक्त हुआ नही। किसी भी मत-मतांतर का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी जाति-वर्ग का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी समुदाय-संप्रदाय का व्यक्ति क्यों न हो, किसी भी देश-काल का व्यक्ति क्यों न हो। कोई व्यक्ति किसी देवी-देवता, ईश्वर-ब्रह्म के अस्तित्व को मानने वाला हो या न माननेवाला हो; यदि सचमुच दुख मुक्त होना है तो उसे अपने दुखों को जानना ही होगा, अपने दुखों के मूलभूत कारण को जानना

ही होगा और किसी ठीक उपाय द्वारा उस कारण का उन्मूलन करना ही होगा। कारणों के उन्मूलन बिना दुख का उन्मूलन संभव नहीं है। किसी कपोल कल्पना में मन टिकाकर कुछ समय के लिए दुख भुलाया जा सकता है, ठीक वैसे ही जैसे कि शराब की प्याली के नशे से कुछ देर के लिए गम-गलत किया जाता है। परंतु रोग की पीड़ा को भुला देना या दुख को भुला देना, रोग का इलाज नही, दुख का इलाज नही।

दुख के इलाज की खोज बुद्धिजन्य तर्क-जालों में नही, कल्पना जन्य मन-मोदकों में नही, भावुकता जन्य आवेश-उन्मादों में नही। जैसे ही दुख का साक्षात्कार करके उसे जान लिया, वैसे ही सचाई का धर्म-चक्र चल पड़ा। दुख को अपने सही स्वरूप में जान लेने वाला व्यक्ति दुख के कारण को समझने में देर नही लगाता। जहां दुख का मूलभूत कारण समझ में आया, वही उसके निवारण का रास्ता भी स्वतः समझ में आ जाता है और उस रास्ते को अपनाकर समझदार आदमी दुख-मुक्त हो ही जाता है। समस्त दुखों के आत्यंतिक निरोध स्वरूप परम पद निर्वाण को प्राप्त कर ही लेता है।

बात बड़ी सहज है, बड़ी सरल है, परंतु फिर भी अपनी-अपनी अंध मान्यताओं के चिपकाव के कारण इस सरल सी सच्चाई को भी हम देखना नही चाहते। यथार्थ की ठोस धरती पर हम कदम रखना ही नहीं चाहते। उससे परे किसी कल्पना-लोक में उड़ते रहने की हमारी आदत पड़ गयी है। कटु, कठोर सत्य से आंख मूंदे रहना और मिथ्या, मधुर कल्पना में डूबे रहना, ऐसा स्वभाव हम जैसे सामान्य लोगों का सदा से ही रहता आया है।

दो हजार पांच सौ वर्ष पहले उस विरक्त राजकुमार सिद्धार्थ को इन्ही चार कल्याणकारी सच्चाइयों का बोध हुआ कि यह दुख है, यह दुख का कारण है, यह परम सुख निर्वाण है और यह परम सुख निर्वाण प्राप्त करने का उपाय है। जब उसने इन चारों सच्चाइयों को जानकर स्वयं दुख-विमुक्ति प्राप्त की तो उसका मन हुआ कि यह इतनी सहज सरल विधि अधिक से

अधिक लोगों तक पहुँचनी ही चाहिए। परंतु फिर उसने सोचा कि यह आमोद-प्रमोद में प्रमत्त रहने वाली जनता, यह विवाद-विग्रह में उलझी रहने वाली जनता, यह कपोल-कल्पनाओं में आसक्त रहने वाली जनता; जीवन की इन कठोर, परंतु कल्याणकारी सच्चाइयों की ओर कैसे अभिमुख होगी? ऐसी जनता को सही बात समझाने के लिए किया गया हर प्रयत्न व्यर्थ ही साबित होगा। परंतु फिर अगले ही क्षण लोक मंगल का भाव लिए हुए मन में असीम करुणा का ज्वार जागा और अंतर की उस असीम करुणा ने कहा कि कितने लोग ऐसे हैं, जिनकी आंखों पर मोहमूढ़ता का, अविद्या का बड़ा झीना सा ही पर्दा पड़ा हुआ है। विद्या के नन्हें से आघात से यह पर्दा विदीर्ण हो जाएगा और उनका मोह दूर होगा। उन्हें सही बात समझते देर नही लगेगी। यदि उन्हें इस सत्य-ज्ञान से वंचित रखा गया तो बेचारे तबाह हो जाएंगे। अविद्या का यह झीना सा पर्दा मैल चढ़ाकर और घना हो उठेगा। ऐसे लोगों के लिए तो अमृत का द्वार शीघ्र से शीघ्र खुल जाना ही चाहिए इस करुण चेतना से ही उन्होंने यह मंगल उद्घोष किया :

अपरुता तेसं अमतस्स द्वारा।
ये सोतवन्तो प्रमुञ्चन्तु सद्धं॥

जो कान वाले हैं, श्रद्धा से सुनें, उनके लिए अमृत का द्वार खुला है।

उस महापुरुष के इस मंगल घोष का हम आज भी लाभ उठाएं। सचमुच अमृत का द्वार खुला है। कान वाले सुनें और आंख वाले देखें। समझदार लोग इसका लाभ उठाएं।

सच्चाई के रास्ते ही परम सत्य की उपलब्धि हो सकेगी। कल्पनाओं के स्वप्न-लोक से जागकर यथार्थ की ठोस धरती पर कदम रखकर चलते हुए ही अंतिम लक्ष्य तक पहुँच पाएंगें। दुखों का सामना करके ही दुखों की जड़ खोद पाएंगें।

तो, आओ, समझें कि हमारे वास्तविक दुख क्या हैं? आओ, समझे

कि हमारे दुखों का वास्तविक कारण क्या है ? आओ, समझें कि इन दुखों से अवश्य ही विमुक्ति प्राप्त हो सकती है। आओ, समझें कि इन दुखों के वास्तविक कारण को दूर करके विमुक्ति तक पहुँचने का रास्ता कौन सा है ? उसे केवल समझकर ही न रह जायँ, बल्कि कदम-कदम उस पर चलते हुए और अपने दुखों से थोड़ी-थोड़ी भी मुक्ति पाते हुए हम विमुक्ति के द्वार तक जा पहुँचे। सचमुच विमुक्ति का द्वार हमारे लिए खुला ही है।

विमुक्ति के द्वार तक पहुँचने के लिए फिजूल बातों में न पड़ें, निरर्थक वाद-विवादों में न उलझें, कोरी कपोल कल्पनाओं में न फँसें, मतलब की बात करें, धर्म की बात करें, सच्चाई की बात करें, दुःख-निरोध की बात करें। बुराई और बुराई का कारण समझें। भलाई और भलाई का उपाय समझें और बुराई दूर कर तथा भलाई प्राप्त कर, अपना हित सुख साधें। अपना मंगल-कल्याण साधें। ●

८ / क्या पड़ा है 'नाम' में?

पुरानी बात है। किसी व्यक्ति के मां-बाप ने उसका नाम पापक (पापी) रख दिया। बड़ा हुआ तो उसे अपना यह नाम बहुत बुरा लगने लगा। उसने अपने आचार्य से प्रार्थना की कि भन्ते! मेरा नाम बदल दें। यह नाम बड़ा अप्रिय है, क्योंकि बड़ा अशुभ है। अमांगलिक है। आचार्य ने उसे समझाया कि नाम तो केवल प्रज्ञप्ति मात्र के लिए होता है, व्यवहार जगत में पुकारने के लिए होता है। नाम बदलने से कोई मतलब सिद्ध नही होगा। कोई पापक नाम रखकर भी अपने सत्कर्मों से धार्मिक बन सकता है और धार्मिक नाम रखकर भी अपने दुष्कर्मों से पापी बन सकता है। मुख्य बात तो कर्म की है, नाम बदलने से क्या होगा?

पर वह नही माना। आग्रह करता ही रहा तो आचार्य ने कहा; "अर्थ-सिद्धि तो कर्म सुधारने से ही होगी। परंतु यदि तू नाम भी सुधारना चाहता है तो जा, गांव नगर के लोगों को देख और जिसका नाम तुझे मांगलिक लगे, वह मुझे बता। तेरा नाम भी वैसा ही बदल दिया जाएगा।"

पापक सुन्दर नाम वालों की खोज में निकल पड़ा। घर से बाहर निकलते ही उसे शव-यात्रा के दर्शन हुए। पूछा, कौन मर गया? लोगों ने बताया —जीवक। पापक सोचने लगा, नाम तो जीवक है, पर फिर भी मृत्यु का शिकार हो गया।

आगे बढ़ा तो देखा, किसी दीन-हीन दुखियारी स्त्री को मार पीटकर घर से निकाला जा रहा है। नाम पूछा तो बताया गया – धनपाली। पापक सोचने लगा कि नाम धनपाली और पैसे-पैसे को मोहताज!

और आगे बढ़ा तो किसी राह भूले व्यक्ति को लोगों से राह पूछते पाया। उस व्यक्ति का नाम पूछा तो बताया गया – पन्थकं। पापक फिर सोच में पड़ गया। अरे! पंथक भी पंथ पूछते हैं! पंथक भी पंथ भूलते हैं!

पापक वापस लौट आया। अब नाम के प्रति उसका आकर्षण या विकर्षण दूर हो चुका था। बात समझ में आ गई। क्या पड़ा है नाम में ? जीवक भी मरते है और अजीवक भी। धनपाली भी दरिद्र होती है और अधनपाली भी। पंथक भी राह भूलते हैं और अपंथक भी। सचमुच नाम की थोथी महत्ता निरर्थक ही है। जनम का दुखिया, नाम चैनसुख! जनम का अंधा, नाम नयनसुख! रहे नाम पापक, मेरा क्या बिगड़ता है ? मैं अपना कर्म सुधारूंगा। कर्म ही प्रमुख है। कर्म ही प्रधान है।

जो बात व्यक्ति के नाम पर लागू होती है, ठीक वही संप्रदाय के नाम पर भी लागू होती है। न बौद्ध संप्रदाय के सभी लोग बोधिसंपन्न होते हैं और न जैन संप्रदाय के सभी आत्मजित। न ब्राह्मण संप्रदाय के सभी ब्रह्मविहारी होते हैं और न ही इस्लाम के सभी समर्पित और शांत। जैसे हर व्यक्ति में अच्छाई बुराई दोनों ही होती है, वैसे ही हर संप्रदाय में भी अच्छे बुरे दोनों प्रकार के लोग होते हैं। किसी भी संप्रदाय के न सभी लोग अच्छे हो सकते हैं और न सभी बुरे। परंतु सांप्रदायिक आसक्ति के कारण हम अपने संप्रदाय के हर व्यक्ति को सज्जन और पराए संप्रदाय के हर व्यक्ति को दुर्जन मानने लगते हैं और ऐसा कर अपना ही मन मैला करते हैं। कोई व्यक्ति बौद्ध, जैन, ईसाई या मुस्लिम कहलाने मात्र से न सज्जन हो जाता है और न दुर्जन। बौद्ध कहलाने वाला व्यक्ति परमपुण्यवान भी हो सकता है और नितांत पापी भी। यही बात सभी संप्रदायों पर समान रूप से लागू होती है। जैसे किसी व्यक्ति को पहचानने के लिए कोई नाम दिया जाता है, वैसे ही किसी समुदाय को पहचानने के लिए जाति या संप्रदाय का नाम दिया जाता है। इन नामों से गुणों का कोई संबंध नहीं। तेलभरे पीपे पर शुद्ध घी का लेबल लगा देने से तेल तेल ही रहता है, शुद्ध घी नहीं बन जाता। किसी सुंदर व्यक्ति का नाम कुरूप रख दें तो वह कुरूप नहीं बन जाता और किसी कुरूप को सुंदर कहने लगे तो वह सुंदर नहीं हो जाता। फूल को कांटा अथवा कांटे को फूल कहने लगें तो भी फूल फूल ही रहता है, कांटा कांटा ही।

कोई व्यक्ति रंक हो, पर नाम हो उसका राजन्य। ऐसा व्यक्ति जबतक इस बात को समझता है कि यह राजन्य नाम तो केवल संबोधन हित है, वस्तुतः तो मैं रंक ही हूं तबतक तो वह होश में है। परंतु जिस दिन वह राजन्य के नाम का दम्भ सिर पर चढ़ा कर, रंक होते हुए भी, अपने आपको राव राजा मानने लगता है और अन्य सभी को हेय दृष्टि से देखने लगता है तो वह प्रमत्त व्यक्ति लोगों के लिए उपहास का पात्र हो जाता है। परंतु जहां राजन्य नाम के हजारों लाखों रंक हों और सब के सब संगठित होकर अपने आपको राव राजा मानने लगें तथा बाकी सभी लोगों को हेय दृष्टि से देखने लगें तो पागलों का ऐसा गिरोह केवल उपहासास्पद ही नही बल्कि सारे समाज के लिए खतरे का कारण बन जाता है। ठीक यही दशा हमारी हो जाती है जबकि हम जातीयता, सांप्रदायिकता या राष्ट्रीयता की वारुणी चढ़ाकर प्रमत्त हो उठते हैं और अपने आपको औरों से श्रेष्ठ मानते हुए औरों को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। ऐसी अवस्था में हम भी समाज के लिए खतरे का कारण बन जाते हैं। समाज की अशांति का कारण बन जाते हैं। वस्तुतः अपने आपके लिए भी खतरे का कारण बन जाते हैं, अपने आपके लिए भी अशांति का कारण बन जाते हैं। सुख-शांति से दूर पड़ जाते हैं। क्योंकि धर्म से दूर पड़ जाते हैं।

धर्म को जाति, वर्ण, समुदाय, संप्रदाय, देश, राष्ट्र की सीमाओं में नही बांधा जा सकता। मानव समाज के किसी भी वर्ग में धर्मवान व्यक्ति हो सकता है। धर्म पर किसी एक वर्ग-विशेष का एकाधिकार नही हुआ करता। धर्म हमें नेक आदमी बनना सिखाता है। नेक आदमी नेक आदमी है। वह अपने संप्रदाय की ही नही, प्रत्युत सारे समाज की शोभा है। जो नेक आदमी ही नही है, वह नेक हिन्दू या मुसलमान, नेक बौद्ध या जैन, नेक भारतीय या बर्मी, नेक ब्राह्मण या क्षत्रिय कैसे हो सकता है? और जो नेक आदमी हो गया वह सही माने में धर्मवान हो गया। उसे कोई किसी नाम से पुकारे क्या फर्क पड़ता है? गुलाब गुलाब ही रहेगा, नाम बदल देने से

उसकी महक में कोई अंतर नही आएगा। जिस बगिया में भी खिलेगा, न केवल उसे बल्कि आस पास के सभी स्थानों को अपनी सुरभि से महकाएगा ही। अतः मुख्य बात है धर्मवान बनने की, नेक इन्सान बनने की, नाम चाहे सो रहे। बगिया चाहे जिस समुदाय की हो। उस पर चाहे जिस नाम का बोर्ड लगा हो। फूल खिलने चाहिए, सौरभ बिखरना चाहिए।

सांप्रदायिकता का और जातीयता का रंगीन चश्मा उतार कर देखेंगे तो ही धर्म का शुद्ध रूप समझ में आएगा। अन्यथा अपने-अपने संप्रदाय का रंग-रोगन ही, नाम-लेबल ही सारी प्रमुखता ले लेगा। धर्म का सार महत्त्वहीन हो जाएगा। धर्म की कसौटी पर किसी व्यक्ति को कसकर देखना हो तो यह नही देखेंगे कि यह व्यक्ति किस संप्रदाय में दीक्षित है ? अथवा किस दार्शनिक मान्यता को मानता है ? अथवा किन रूढ़ियों को पालता है ? वरना यह देखेंगे कि इस व्यक्ति का आचरण कैसा है ? जीवन-व्यवहार कैसा है ? कुशल है या नही ? पावन है या नही ? आत्ममंगलकारी और लोकमंगलकारी है या नहीं ? यदि है तो वह धर्मवान ही है। जितना-जितना है, उतना-उतना धर्मवान है। यदि नही है तो उस व्यक्ति का धर्म से कोई संबंध नही है। भले वह अपने आपको चाहे जिस संप्रदाय का कहे, चाहे जैसा आकर्षक बिल्ला लगाए फिरे। धर्म का इन सांप्रदायिक बिल्लों से क्या सरोकार ? कोरे नाम से, बिल्लों से हमें क्या मिलने वाला है ? किसी को भी क्या मिलने वाला है ? दूध का लेबल जिस बोतल पर लगा हो और उस बोतल में शराब भरी हो तो उसे पीकर हम अपनी हानि ही करेंगे। यदि उसमें पानी भरा हो तो उसे पीकर प्यास भले बुझा लें, परंतु बलवान नही बन सकेंगे। बलवान बनना हो तो निखालिस दूध ही पीना होगा। बोतल का रंग-रूप या उस पर लगा लेबल चाहे जो हो। इन नाम और लेबलों में क्या पड़ा है ? सांप्रदायिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता का भूत सिर पर सवार होता है तो केवल बोतल और बोतल के नाम और लेबल को ही सारा महत्त्व देने लगते हैं। दूध गौण हो जाता है। धर्म गौण हो जाता है।

आओ, इन नाम और लेबलों से ऊपर उठकर अपने आचरण सुधारें। वाणी को संयमित रखते हुए झूठ, कड़ुवापन, निंदा और निरर्थक प्रलाप से बचें। शरीर को संयमित रखते हुए हिंसा, चोरी, व्यभिचार और प्रमाद-सेवन से बचें। अपनी आजीविका को शुद्ध करें। लोक अहितकारी व्यवसायों से बचें। मन को संयमित रखते हुए उसे वश में रखना सीखें। उसे सतत सावधान, जागरूक बने रहने का अभ्यास कराएं और प्रतिक्षण घटनेवाली घटना को जैसी है, वैसी साक्षीभाव से देख सकने का अभ्यास बढ़ाकर अन्तस की राग, द्वेष और मोह की ग्रन्थियां दूर करें। चित्त को नितांत निर्मल बनाएं। उसे अनंत मैत्री और करुणा से भरें। बिना नाम-लेबल वाले सार्वजनीन धर्म का यही मंगल-विधान है। ●

९ / धन्य विपश्यी!

८६ वर्ष की पकी उम्र में विपश्यना के विशिष्ट साधक श्री रतिलालभाई मेहता ने दि. २६-८-८७ को सम्यक् समाधि अवस्था में अपने प्राण छोड़े। विपश्यना का जैसा आदर्श जीवन जिया वैसी ही आदर्श मृत्यु पायी।

श्री रतिभाई ३१-१०-७१ को बीकानेर के मोहता-भवन में लगे शि. क्र. ४१ में पहली बार सम्मिलित हुए। यहीं उन्हें जिसकी खोज थी वह राह मिल गयी।

कुछ दिन पूर्व उनकी धर्मपत्नी का रेल-दुर्घटना में देहान्त हुआ था। उनके मन पर इसका बहुत बड़ा क्षोभ था। मानसिक शांति के लिए वे अनेक आश्रमों, उपाश्रयों, मंदिरों, तीर्थों, गुरुओं, संन्यासियों और मुनियों की शरण गए, परन्तु इस भटकन में उन्हें कुछ नही मिला। विपश्यना में जो पाना था, सब पा लिया। पहले ही शिविर में शील, समाधि, प्रज्ञा के शुद्ध धर्म के प्रति जो श्रद्धा जागी वह दिनोंदिन पुष्ट ही होती गयी। समता और वीतरागता के उपदेश तो बहुत सुने थे, परन्तु उन्हें वस्तुतः इसी जीवन में उपलब्ध कर सकने की सही वैज्ञानिक विधि कही नही मिली थी। धर्म का सैद्धांतिक पक्ष तो अनेक जगह मिला, पर प्रयोगात्मक पक्ष विपश्यना साधना में ही प्राप्त हुआ। अतः इस पथ पर निष्ठापूर्वक चल पड़े और पग-पग आगे बढ़ते ही गए। पीछे मुड़कर नही देखा। राजमार्ग छोड़कर अन्य किसी अंधी गली में नही भटके।

साधना करते हुए दो वर्ष भी नही बीते कि जो कुछ उन्हें प्राप्त हुआ था, उससे भावविभोर हो उठे। मन में धर्म संवेग जागा कि मेरे परिवार का प्रत्येक व्यक्ति इस धर्मगंगा में डुबकी लगाकर अपना कल्याण साधे। अपनी संतान को भौतिक सुख-संपदा बांटकर जो प्रसन्नता हुई, उससे कही अधिक

प्रसन्नता इस आध्यात्मिक संपदा को बांटने में मानी। परिणामतः हैदराबाद के कुसुमनगर वाले अपने बँगले और फैक्ट्री में १३-७-७३ को विपश्यना का एक शिविर लगवाया, जिसमें अत्यंत आग्रहपूर्वक अपने परिवार के सभी सदस्यों को आमंत्रित किया। अधिकांश आए। (जो थोड़े बचे वे अगले शिविरों में आए।) परिवार के सभी सदस्य पुण्यशाली थे। अतः जो आया वही लाभान्वित हुआ। सभी वयस्क शिविर में साधना करते रहे — पुरुष भी, महिलाएं भी, और रतिभाई पासवाले एक अन्य बँगले में उनके बच्चों की देखभाल करते रहे, ताकि साधकों को बच्चों की ओर से कोई चिंता न रहे। अपने परिवार को धर्म का अनमोल रस चखाकर रतिभाई की खुशियों का ठिकाना न था।

धर्म का **एहिपस्सिको** पक्ष और प्रबल होने लगा। ऐसा धर्मरस सभी दुखियारे चखें! सबका मंगल हो! सबका कल्याण हो! इगतपुरी में विपश्यना केन्द्र बन रहा है तो दक्षिण के लोगों की सुविधा के लिए एक केन्द्र हैदराबाद में भी हो! यह धर्म संवेग इतना प्रबल हुआ कि अपने परिवार की ढाई एकड़ भूमि दान देकर (जोकि कालान्तर में ३ एकड़ और बढ़ा दी गयी) धम्मखेत में विपश्यना साधना केन्द्र की स्थापना की गई। इसका उद्घाटन धम्मगिरि से भी पूर्व ४-९-७६ को हुआ। जिस खेत में भौतिक वनस्पति उगाई जानेवाली थी, अब उसमें धर्म की फसल उगने लगी और धम्मखेत में सैकड़ों लोगों को धर्म-फल मिला, मिल रहा है और पीढ़ियों तक मिलता ही रहेगा।

साधक जैसे-जैसे विपश्यना के विशुद्धि मार्ग पर बढ़ता है और अपने भीतर की कर्म-ग्रन्थियां उन्मूलित करता है वैसे-वैसे औरों के प्रति निर्मल मैत्री अधिकाधिक प्रबल होती जाती है। रतिभाई अपनी साधना के लिए धम्मगिरि भी आते रहे। वहां उन्होंने देखा कि धर्मचैत्य की छत्रछाया में जो शून्यागार हैं, उनमें साधकों को एकाकी ध्यान का अपूर्व लाभ मिलता है। इसे देखकर रतिभाई के मन में तीव्र धर्म-संकल्प जागा। धम्मखेत ऐसे साधन से

वंचित न रहे। उन्होंने शीघ्र ही वहां एक तिमंजिले चैत्य का निर्माण करके दान दिया, जिसमें कि अन्य साधकों के सहयोग से ७४ शून्यागारों की सुविधा बनी।

अन्य साधकों का भला होते देखकर इस मंगल मैत्रीमय साधक का रोम-रोम प्रसन्नता से भर उठता था। वह खूब जान गया था कि मेरे धन का इससे अधिक सदुपयोग नही हो सकता और जन्म-जन्म के दुःखों को काटनेवाली विपश्यना साधना के दान से अधिक किसी दुखियारे की कोई सेवा नहीं हो सकती।

ऐसा मंगलभावी तपस्वी साधक जीवन के अंतिम वर्षों में कैंसर जैसे भयंकर रोग से पीड़ित हुआ। गुदा द्वार से आंतों की ओर बढ़ता हुआ यह कैंसर का रोग लीवर और फेफड़े तक को अपने शिकंजे में जकड़ने लगा। मल त्याग के लिए डाक्टरों ने एक कृत्रिम मार्ग तैयार किया जिसमें से मल एक थैली में रिसता रहे। ऐसी घोर नारकीय यंत्रणा और यह विपश्यी साधक उसे मुस्कराकर अंतिम समय तक सहता रहा। जब कभी उससे पूछता कि पीड़ा कैसी है? तो यही उत्तर मिलता, ''किसी पूर्व दुष्कर्म की उदीरणा है। समता से देख रहा हूं। यही तो सिखाया है आपने।'' विपश्यना साधना ऐसे साधक को पाकर धन्य हुई। साधक ऐसी साधना को पाकर धन्य हुआ।

सचमुच कोई बड़ा गंभीर दुष्कर्म जो कि भविष्य में नारकीय जीवन देनेवाला था, अब इस रूप में प्रकट हो रहा था और साधक थोड़े में ही अपना भुगतान चुकाकर उसकी निर्जरा कर रहा था। भगवान ने ठीक ही कहा कि मुट्ठी भर नमक एक कटोरी जल में डाल दिया जाय तो वह पीने लायक न रहे। लेकिन वही मुट्ठी भर नमक विशाल नदी की बहती धारा में डाल दिया जाय तो कोई असर नही होता। सच्चे विपश्यी साधक का यही धर्मबल है कि बड़ी से बड़ी नारकीय यंत्रणा भी वह मुस्कराकर झेलता है और अपने पूर्व कर्मों का ऋण चुकाता है।

जीवन के अंतिम दिनों दूर दूर तक देश-विदेश में फैले हुए परिवार के किसी सदस्य से मिलने की कोई आकांक्षा नही, आसक्ति नही, छटपटाहट नही। बार-बार यही कहते रहे कि अब सारी माया छूट गयी है। कही कोई राग नही, द्वेष नही। हां अत्यंत रुग्ण अवस्था में अविनाश नाम के किसी व्यक्ति को याद किया। जीवन में कभी इस व्यक्ति के कुछ पैसे इनकी ओर रह गए थे, जिसे यह चुकाना चाहते थे। यह ऋण अगले जन्म में नही ले जाना चाहते थे। पर वह व्यक्ति मिल नही रहा था। परिवारवालों ने आश्वासन दिया कि वह जहां कही मिलेगा, उसके हिस्से का धन अवश्य दे दिया जाएगा। इसके अतिरिक्त अन्य किसी सांसारिक व्यक्ति का स्मरण नही हुआ।

रतिभाई को भगवान महावीर की समता और वीतरागता के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति थी। पर थोथे कर्मकांडों, दार्शनिक वाद-विवादों और संकीर्ण सांप्रदायिक मान्यताओं में कही उनकी झलक भी न दिखाई दी। विपश्यना के मार्ग पर वीतरागता का जरा भी रस चखने लगा तो धन्यता का अनुभव होने लगा।

मृत्यु के पूर्व किसी ने पूछ लिया, "बापूजी आपकी क्या इच्छा है?" तो कहा, "महावीर की समता।" जिस मार्ग पर चलकर उस समता का रस चखा, उसके प्रवर्तक महान कारुणिक भगवान बुद्ध के प्रति अपरिमित श्रद्धा जागी तो कहा, "भगवान बुद्ध का चित्र लाओ।" अनंत मैत्री और करुणाभरी मुस्कान लिए ध्यानावस्थित भगवान बुद्ध के चित्र को इस विपश्यी साधक ने विपश्यना साधना के अनुकूल नमस्कार किया और साधना में ही लगे रहे।

मृत्यु के कुछ घंटे पूर्व अपने कृत्रिम मलद्वार को साफ किया। सारे कपड़े बदले। स्वच्छ कपड़ों में लेटकर थोड़ा सा दूध का आहार लिया और मृत्यु के लगभग डेढ़ घंटे पूर्व ध्यान के लिए बैठने की इच्छा प्रकट की। शरीर

बिल्कुल अक्षम हो गया था। बैठने की जरा भी शक्ति नही थी, फिर भी कुछ औरों के सहारे और कुछ अपने मनोबल से बैठ गए और विपश्यना साधना में लीन हो गए। उन्हें धर्म के दोहे बहुत प्रिय लगते थे। सुनते ही पुलक-रोमांच हो उठता था और साधना तेज हो जाती थी। उस समय भी दोहों की टेप चलवाई। एक ओर टेप चल रही थी, दूसरी ओर साधक की विपश्यना साधना चल रही थी। लगभग डेढ़ घंटे में टेप पूरी हुई। मंगल मैत्री के दोहों के बाद तीन बार 'भवतु सब्ब मंगलं' का उच्चार हुआ। जैसे ही तीसरी बार यह मंगल उच्चार पूरा हुआ, वैसे ही सजग ध्यानस्थ साधक ने अपनी अंतिम सांस छोड़ी। साधक को उत्तम देवगति प्राप्त हुई।

मृत्यु के क्षण आंखें खुली तो खुली रह गयी। सिर, हथेली और पगथली में विपश्यना से जो उष्णता जागी वह मृत्यु के बाद घंटों बनी रही। चेहरा विपश्यना के मंगल भावों से उद्दीप्त हो उठा। धन्य विपश्यना, धन्य विपश्यी साधक !

रतिलालभाई ने विपश्यना साधना द्वारा लोगों के लिए जीवन जीने की कला का तो एक अच्छा नमूना पेश किया ही, मृत्यु मरने की कला का भी आदर्श उपस्थित किया। धन्य हो ! मंगल हो ! कल्याण हो ! ●

१० / यथार्थ की अनुभूति

काम-वासना मानवमन की सबसे बड़ी दुर्बलता है। जिन तीन तृष्णाओं के कारण वह भवनेत्री से बँधा रहता है, उसमें कामतृष्णा प्रथम है, प्रमुख है। माता-पिता के काम-संभोग से मानव की उत्पत्ति होती है। अतः अंतर्मन की गहराइयों तक काम-भोग का प्रभाव छाया रहता है। इसके अतिरिक्त अनेक जन्मों के संचित स्वयं अपने काम संस्कार भी साथ चलते ही हैं। अतः मुक्ति के पथ पर चलनेवाले व्यक्ति के लिए काम-भोग के संस्कारों से छुटकारा पाना बहुत कठिन होता है। विपश्यना करनी न आए तो असंभव ही हो जाता है।

काम-वासनाओं से छुटकारा पाकर कोई व्यक्ति ब्रह्मचर्य का जीवन जीना चाहता है, परंतु बार-बार मन में वासना के तूफान उठते हैं और उसे व्याकुल बनाते हैं। कही ब्रह्मचर्य भंग न हो जाय, इसलिए वह कठोरतापूर्वक वासनाओं का दमन करता है और परिणामतः अपने भीतर तनाव की ग्रन्थियां बांधता है। दमन द्वारा वासनाओं से मुक्ति मिलती नही। भीतर-ही-भीतर वासना उमड़ती कुलबुलाती रहती है और मन को मथती रहती है। यों दमन द्वारा ब्रह्मचर्य पालनेवाला कोई विश्वामित्र जैसा साधक मेनका जैसी अप्सरा की रूप-माधुरी पर फिसल जाता है तो आत्मग्लानि, आत्मक्षोभ और आत्मगर्हा से भर उठता है। ऐसा होने पर अपराध की ग्रंथियां बांध-बांध कर अपनी व्याकुलता को और बढ़ाता है।

इसीलिए फ्रायड जैसे मनोविज्ञानवेत्ता ने कामवासना के दमन को मानसिक तनाव और व्याकुलता का प्रमुख कारण माना और काम-भोग की खुली छूट को प्रोत्साहित किया। अनेक लोग इस मत के पक्षधर बने। आज के युग के कुछएक साधना सिखानेवाले लोग भी इस बहाव में बह गए। ऐसे लोगों ने रोग को तो ठीक तरह से समझा, पर रोग-निवारण का जो इलाज

ढूंढ़ा, वह रोग के बढ़ाने का ही कारण बन बैठा। काम-वासना का दमन एक अंत है, जो सचमुच रोग-निवारण का सही उपाय नही है। परंतु उसे खुली छूट देना ऐसा दूसरा अंत है जो कि रोग-निवारण की जगह रोग-संवर्धन का ही काम करता है।

जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो तृष्णा के सभी बंधनों को भग्न करके विकार-विमुक्ति के ऐश्वर्य का जीवन जीता है। इसीलिए वह भगवान कहलाने का अधिकारी होता है। ऐसा व्यक्ति काम-तृष्णा, भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा; इन तीनों से छुटकारा पा लेता है और जिस विपश्यना-विद्या द्वारा यह मुक्त-अवस्था प्राप्त की, उसे ही करुण चित्त से लोगों को बांटता है।

विपश्यना साधना की विधि न विकारों के दमन के लिए है और न उन्हें खुली छूट देने के लिए। विपश्यना-विधि इन दोनों अतियों के बीच का मध्यम-मंगल मार्ग है जो जागे हुए विकार को साक्षीभाव से देखना सिखाती है, जिससे उसका शमन होता है, दमन नही। विपश्यना शरीर पर होनेवाली तत्कालीन संवेदनाओं को भी साक्षीभाव से देखना सिखाती है जिससे कि अंतर्मन की गहराइयों में दबे हुए काम-विकारों को भी जड़ से निकालने का काम शुरू हो जाता है। कुशल विपश्यी साधक समय पाकर इस विधि में पारंगत होता है और कामविकारों का सर्वथा उन्मूलन कर लेता है और सहजभाव से ब्रह्मचर्य का पालन करने लगता है। इसके अभ्यास में समय लगता है। बहुत परिश्रम, पुरुषार्थ, पराक्रम करना पड़ता है। परंतु यह पराक्रम देह-दंडन का नही, मानस-दमन का नही, बल्कि मनोविकारों को तटस्थभाव से देख सकने की क्षमता प्राप्त करने का है; जो कि प्रारंभ में बड़ा कठिन लगता है, पर लगन और निष्ठासे अभ्यास करते हुए साधक देखता है कि शनैः-शनैः उसके मन पर वासना की गिरफ्त कम होती जा रही है। दमन नही करने के कारण कोई तनाव भी नही बढ़ रहा है और समय पाकर सारे काम-विकारों से मुक्त होकर ब्रह्मचर्य का जीवन जीना सहज हो गया

है। यह सब कैसे होता है ? इसे समझें।

पुरुष के लिए नारी के और नारी के लिए पुरुष के रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श से बढ़कर अन्य कोई लुभावना आलंबन नही होता। यह पांचों आलंबन आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा की इंद्रियों पर आघात करते हैं अथवा इनकी याद और कल्पना चिंतन के रूप में मन की इंद्रिय पर आघात करती है तो ही वासना के विकार जगने का काम आरंभ होता है। पहली पांचों इंदियां शरीर पर स्थापित हैं ही। छठी मन की इंद्रिय भी शरीर की सीमा के भीतर ही होती है। अतः विपश्यना साधना का अभ्यास साढ़े तीन हाथ की काया के भीतर ही किया जाता है, बाहर नही। कामतृष्णा जहां जागती है, वही उसे जड़ से उखाड़ा जा सकता है, अन्यत्र नही। साढ़े तीन हाथ की काया में इंद्रिय-सीमाक्षेत्र के भीतर इसकी उत्पत्ति होती है, यही इसका निवास और संवर्धन होता है। अतः विपश्यना द्वारा यही इसका उन्मूलन किया जा सकता है।

देखना यह है कि बाहर के आलंबन ने अपने भीतर क्या खटपट शुरू कर दी ? आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा पर रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श का संपर्क होते ही यानी प्रथम आघात लगते ही अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर तत्संबंधित इंद्रिय दरवाजे पर और फिर सारे शरीर पर प्रकंपन होता है। **फस्स पच्चया वेदना** स्पर्श होते ही संवेदना होती है। जैसे कांसे के बर्तन को छू देने से उसमें झंकार की तरंगे उठती हैं। इस प्रथम आघात के तुरंत बाद मानस का वह हिस्सा जिसे संज्ञा कहें या बुद्धि कहें, वह अपने पूर्व अनुभव और याददास्त के आधार पर, इस आलंबन को पहचानता है। — "यह पुरुष अथवा नारी का रूप, शब्द, गंध आदि है।" और फिर उसका मूल्यांकन करता है, "ओह, बहुत सुंदर है, बहुत मधुर है।" ऐसा करने पर शरीर पर होनेवाली यह तरंगें प्रिय प्रतीत होने लगती हैं और मानस उनके प्रति राग-रंजित होकर उनमें डूबने लगता है। **वेदना पच्चया तण्हा** संवेदना से ही (काम) तृष्णा होती है। यही से वासना का दौर शुरू हो जाता

है। बार-बार रूप, शब्द, गंध आदि संबंधित इंद्रियों से टकराते हैं, बार-बार प्रिय मूल्यांकन होता है, बार-बार प्रतिक्रिया स्वरूप वासना के संस्कार बनते हैं। यों क्षण-प्रतिक्षण एक के बाद एक वासना के संस्कार बनते-बनते पत्थर की लकीर जैसे गहरे हो जाते हैं। जब रूप, शब्द, गंध, रस आदि बाहरी आलंबन प्रत्यक्षतः आंख, कान, नाक आदि इंद्रिय द्वारों से संपर्क करना बंद कर देते हैं तो छठी इंद्रिय का दरवाजा खुल जाता है। अब मन की इंद्रिय पर पूर्व अनुभूत रूप, शब्द, गंध आदि के आलंबन कल्पना और चिंतन के रूप में टकराने लगते हैं। फिर वही क्रम चल पड़ता है। प्रथम आघात से प्रकंपन का होना, फिर प्रिय मूल्यांकन, फिर संवेदना, फिर प्रतिक्रिया स्वरूप वासना के संस्कारों की उत्पत्ति। क्षण-प्रतिक्षण चिंतन का आलंबन चित्तधारा से टकराता रहता है और क्षण-प्रतिक्षण वासना का संस्कार पैदा होते रहता है। यह क्रम जितनी देर चलता है, वासना उतनी ही बलवान होती जाती है। मन पर उमड़ती हुई यह तीव्र वासना वाणी और शरीर पर प्रकट होने के लिए मचल उठती है। सारा का सारा चित्त वासना के प्रवाह में आमूल चूल डूब जाता है।

वासना में डूबे हुए व्यक्ति की **सति** याने स्मृति (यहां स्मृति का अर्थ याददास्त नहीं है।) याने जागरूकता बनी रहती है। वासना-व्यथित व्यक्ति स्मृतिमान रहता है याने सजग रहता है। परंतु सजग रहता है केवल रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श अथवा चिंतन के आलंबन के प्रति ही। इन छह में से किसी न किसी आलंबन पर उसका ध्यान लगा रहता है। यही आलंबन का ध्यान वासना को उद्दीप्त करता है। अतः स्मृति रहते हुए भी इसे सम्यक् स्मृति याने सही स्मृति नहीं कहते। मिथ्या स्मृति कहते हैं। **सतिमुट्ठा** कहते हैं। इन छह आलंबनों में से कोई एक भी जब तत्संबंधित इंद्रिय द्वार के संपर्क में आता है तो स्वानुभव का काम शुरू हो जाता है। संपर्क होते ही तरंगरूपी वेदना का होना, संज्ञा द्वारा मूल्यांकन करना, संवेदना का प्रिय लगना और प्रिय संवेदना का रसास्वादन करते हुए वासना के संस्कार की प्रतिक्रिया का

आरंभ होना, यह सब स्वानुभूति का क्षेत्र है। अतः सत्य का क्षेत्र है। इसके प्रति सजग रहे तो स्मृति सम्यक् है। केवल मात्र आलंबन के प्रति सजग रहे, आलंबन के स्पर्श का भी निरीक्षण न कर सके, उसके आगे की स्वानुभूतियां तो दूर रही, तो स्मृति मिथ्या ही हुई। क्योंकि गहरी अनुभूति वाला क्षेत्र भुलाया हुआ है।

स्मृति याने जागरूकता जब **संपजञ्ञ** से जुड़ती है तो सम्यक् हो पाती है। साधक **आतापी सम्पजानो सतिमा** हो जाता है। इसी को विपश्यना कहते हैं। इसी को **सतिपट्ठान** कहते हैं याने सति का सम्यक् रूप से स्वानुभूतिजन्य सत्य में प्रतिष्ठापित हो जाना। विपश्यी साधक यही करता है। वह सत्यदर्शी होता है। आत्मदर्शी होता है। आत्मदर्शी के माने जिसका कभी स्वयं अनुभव किया ही नहीं; ऐसी सुनी-सुनाई, पढ़ी-पढ़ाई दार्शनिक मान्यतावाली कल्पित आत्मा का दर्शन करना नहीं। यहां आत्मदर्शन का अर्थ है – स्वदर्शन। अनुभूतियों के स्तर पर अपने बारे में जिस-जिस क्षण जो-जो सच्चाई प्रकट हो उसे ही साक्षीभाव से देखना सत्यदर्शन है, स्वदर्शन है, आत्मदर्शन है। मुक्ति का सहज उपाय है। किसी कल्पना का ध्यान मन को कुछ देर के लिए भरमाए भले रखे, पर विकार-विमुक्त नहीं कर सकता।

कोरे बौद्धिक अथवा भक्ति-भावावेशमूलक मान्यताओं के दायरे के बाहर निकलकर साधक अनुभूति के स्तर पर यथार्थ की भूमि पर कदम रखता है। जो सत्य है उसे केवल मानकर नही रह जाता, उसे जानता है — **जानाति** और प्रज्ञापूर्वक जानता है — **पजानाति**। साक्षीभाव से, तटस्थ भाव से बिना राग के, बिना द्वेष के, बिना मोह के यथाभूत — जैसा है वैसा, उसके सत्य स्वभाव में, यथार्थ को जानता है। मात्र जानता है। कोई प्रतिक्रिया नही करता; न उसे दूर करने की, न उसे रोके रखने की। केवल दर्शन, केवल ज्ञान। यही है **पजानाति**।

बाहर का आलंबन चाहे जो हो, अपने भीतर कामवासना जागी तो

बाहर के आलंबन को गौण मानकर अपने भीतर की अनुभूतिजन्य सच्चाई को जानने का अभ्यास साधक शुरू कर देता है।

संतं वा अज्झतं कामछन्दं – जब भीतर कामतृष्णा है; तो **अत्थि मे अज्झत्तं कामछन्दो ति पजानाति**– मेरे भीतर कामछन्द याने कामतृष्णा है; यह प्रज्ञापूर्वक जानता है। प्रज्ञापूर्वक इस माने में भी कि यह अनित्य स्वभाववाली है, अनंतकाल तक बनी रहनेवाली नहीं। इस समझदारी के साथ तटस्थभाव बनाए रखता है। उसे दूर करने की जरा भी कोशिश नही करता, अन्यथा दमन के एक अंत की ओर झुक जाएगा। और न ही उसे वाणी और शरीर पर प्रकट होने की छूट देता है। अन्यथा आग में घी डालनेवाले दूसरे अंत की ओर झुक जाएगा। बस उसके अनित्य स्वभाव को समझते हुए केवल जानता है – **पजानाति**। क्योंकि अब उसे बढ़ावा नहीं मिल रहा, अतः समय पाकर वह जागी हुई कामतृष्णा स्वतः दूर हो जाती है। साधक इस सच्चाई को भी महज साक्षीभाव से प्रज्ञापूर्वक जान लेता है। **असंतं वा अज्झत्तं कामछन्दं** – नही है भीतर कामछन्द तो; **नत्थि मे अज्झत्तं कामछन्दो ति पजानाति** – मेरे भीतर कामछन्द नही है; इस सच्चाई को प्रज्ञापूर्वक तटस्थभाव से जानता है।

और क्योंकि विपश्यना कर रहा है तो सतिमुट्ठा नही हुई, **सतिपट्ठान** का अभ्यासी है याने, अपने भीतर नाम-रूप याने चित्त और शरीर के प्रपंच को प्रज्ञापूर्वक अनुभूति के स्तर पर जानने का काम कर रहा है। इसी को **सति के साथ संपजञ्ञ** को जोड़ना कहते हैं। शरीर-चित्त का प्रपंच वेदनाओं के रूप में प्रकट होता है। साधक मानस पर जागी हुई संवेदनाओं को तटस्थभाव से देखता है। यह संवेदनाएं अंतर्मन से जुड़ी रहती है, अतः मन की गहराइयों में दबे हुए कामवासना के अंतःशायी संस्कार (अनुशय-क्लेश) की उदीर्णा शुरू हो जाती है। इन पूर्व संचित अनुत्पन्न कामवासनाओं का उत्पाद शुरू हो जाता है; **यथाच अनुप्पन्नस्स कामछन्दस्स उप्पादो होति तं च पजानाति**।

और उदीर्ण हुई इस चिरसंचित कामवासना को भी साक्षीभाव से संवेदनाओं के स्तर पर देखते रहता है तो उन पुराने संस्कारों की परत पर परत उतरते हुए उनकी निर्जरा होती जाती है, उनका क्षय होते जाता है। **यथा च उप्पन्नस्स कामछन्दस्स पहानं होति तं च पजानाति** – यों उदीर्णा और निर्जरा होते-होते, प्रहाण क्षय होते-होते एक समय ऐसा आता है, जब कि अंतर्मन की गहराई तक के कामतृष्णा के सारे संस्कार उखड़ जाते हैं, उनका नाम-लेश तक नही रहता। अब कोई कामवासना जागती ही नही। न किसी वर्तमान के आलंबन के कारण और न कोई पुराने संग्रह में से। **यथा च पहीनस्स कामछन्दस्स आयतिं अनुप्पादो होति तं च पजानाति**। साधक परम मुक्त अवस्था तक पहुँच जाता है।

जो परिश्रम करे वही इस मुक्त अवस्था तक पहुँचे। किसी भी जाति का हो, वर्ण का हो, रंग-रूप का हो, देश-विदेश का हो, बोली-भाषा का हो; जो करे वही मुक्त। जो न करे उसे लाभ कैसे मिले भला? कोई-कोई इसीलिए नही करता कि यह तो हमारी परंपरागत दार्शनिक मान्यता के अनुकूल नही है, हम क्यों करें? कोई-कोई इसलिए नही करता कि यह हमारी मान्यता के अनुकूल है; देखो हमारी मान्यता कितनी महान है! इस गर्व गुमान में ही संतुष्टि कर लेता है। मान्यताओं में उलझे हुए लोग विपश्यना नहीं कर सकते, इससे लाभान्वित नही हो सकते। करें तो लाभान्वित होंगे ही। ●

११ / सफल जीवन

समयः १ सितम्बर १९७४, प्रातःकाल।

स्थानः तिब्बती पुस्तकालय, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश।

भदन्त दलाईलामा के आमंत्रण पर आयोजित दस दिवसीय विपश्यना शिविर का सुखद समापन।

मध्य बीसी की उम्र की एक युवा-युगल जोड़ी। पहले ही शिविर में सम्मिलित होकर दोनों ने अनुभव किया कि सचमुच अविद्या की खोल तोड़कर हमारा नया जन्म हुआ है। आज हमारा सही जन्म दिवस है। आध्यात्मिक जन्म दिवस!

समयः १ सितम्बर १९८३, प्रातःकाल।

स्थानः रूसी सीमा के अन्तरिक्ष में उड़ता हुआ कोरियन हवाई जहाज!

मिसाइल विस्फोट द्वारा अनेक यात्रियों सहित इन दोनों युवा दम्पत्ति की शरीर-च्युति।

प्राणी मात्रका जीवन कितना अनिश्चित है। मृत्यु न जाने कब आ जाय? कैसे आ जाय? युवा-वृद्ध, पुरुष-नारी सभी मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सभी कितने असहाय हैं। जब काल आ जाय तो सबकुछ छोड़कर चल देना पड़ता है। भले-बुरे कर्म-संस्कारों के अतिरिक्त और कुछ भी साथ नही जाता।

सभी दृष्य जीवों में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। मनुष्य को ही प्रकृति ने ऐसी शक्ति दी है कि वह स्वमुखी होकर अपने भीतर की सच्चाइयों को साक्षीभाव से देख सकता है। इस प्रकार समता में स्थापित होकर नए कर्म

संस्कार बनाने बंद कर सकता है और पुरानी कर्म-ग्रंथियों को काटकर मुक्त हो सकता है। अन्य कोई प्राणी ऐसा कर सकने में असमर्थ है। अतः यदि मनुष्य अपनी इस अद्भुत, असीम, नैसर्गिक शक्तिसे अज्ञात रहकर इसका उपयोग नही करता तो मनुष्य का सा जीवन जीते हुए भी वस्तुतः मनुष्य जीवन नही जी पाता। मनुष्य जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह अपने अन्तर्मन की गहराइयों का यथासंभव निरीक्षण करके तत्र संग्रहीत विकारों को दूर कर ले।

इस कसौटी पर कसकर देखें तो अल्पायु में युवा दम्पत्ति आइरिन और स्टुअर्ट स्टेकलर ने मनुष्य-जीवन सार्थक किया।

दोनों-के-दोनों जवानी में कदम रखते ही माता-पिता, भाई-बहनों से मुँह मोड़कर सत्य की खोज मे हिप्पियों के गिरोह में सम्मिलित हो गए। हिप्पीकल्ट के सारे दुर्गुणों के साथ-साथ सत्य की खोज की उत्कट अभिलाषा लिये हुए दोनों भारत आए। अनेक आश्रमों में भटकते हुए अन्ततः विपश्यना के संपर्क में आए और शिविर में शामिल होकर देखा कि जिसकी खोज थी वह मार्ग प्राप्त हो गया है। सचमुच उनके लिए यह नया जीवन आरंभ हुआ था।

शुद्ध धर्म के राजपथ पर पहला कदम रखते ही दोनों ने अपना जीवन अत्यंत श्रद्धा और आस्थापूर्वक धर्म को समर्पित कर दिया। अब धर्म-पथ पर आगे ही बढ़ना है, पीछे नही हटना है और न किसी अंधी गली की ओर मुड़ना है। इस दृढ़ संकल्प के साथ दोनों के दोनों नौ वर्ष तक उत्साहपूर्वक धर्म पथ पर कदम-कदम आगे बढ़ते ही गए।

विपश्यना के पहले शिविर से ही हिप्पीकल्ट के बाहर निकल आए। शीघ्र ही सारे दुर्गुणों से छुटकारा पा लिया। न नशा-पता, न उन्मुक्त यौन-संबंध। शुद्ध, सात्विक, शील-संपन्न जीवन जीने लगे। कुछ समय अपने देश अमेरिका में और कुछ समय इंगलैंड में रहने के बाद सम्यक्

आजीविका की खोज में दोनों जापान गए और दोनों ही वहां की एक प्रसिद्ध कालेज में अंग्रेजी भाषा के अध्यापन का काम करने लगे और जीवन भर करते रहे।

सुबह-शाम की नियमित साधना कभी नही छूटी। वर्ष में एक से अधिक शिविरों में भाग लेते रहे। परिणाम स्वरूप प्रभूत चित्त-विशुद्धि उपलब्ध हुई। मानस में मैत्री-करुणा के सद्भाव स्वतः जगने लगे। संसार में सर्वत्र दुख ही दुख व्याप्त है। लोगों को ऐसा मंगल-मार्ग प्राप्त हो जाय तो वे सचमुच दुख-विमुक्त होंगे, इस कल्याणकामना से हृदय भर उठा। अधिक-से-अधिक रोगी लोगों को विपश्यना की कल्याणकारिणी ओषधि कैसे प्राप्त हो! इन्ही भावनाओं से विभोर होकर निःस्वार्थ लोकसेवा में लग गए। कैलीफोर्निया में सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट बना तो उसके ट्रस्टी के रूप में, इंगलैंड में ट्रस्टी के रूप में और फिर जापान में ट्रस्ट बना तो उसके ट्रस्टी के रूपमें लोक-मंगल का सेवाकार्य करते ही रहे।

गृहस्थ-जीवन की सभी जिम्मेदारियों को निभाते हुए बचा हुआ समय आत्म-ध्यान और लोकसेवा में ही बिताते रहे। **सब्ब रसं धम्मरसं जिनाति** धर्मका रस ऐसा चखा कि उसने सारे रसों को जीत लिया। वैभव-विलास एवं आमोद-प्रमोद के सभी ऐन्द्रिय सुख फीके लगने लगे। अब तो काम के समय काम और बाकी समय अन्तर्मुखी ध्यान अथवा बहिर्मुखी जन-सेवा। नौकरी से जब छुट्टी मिलती तो स्वयं विपश्यना करते अथवा धर्मवाणी का अध्ययन करते अथवा औरों के लिए शिविर लगाने में सहयोग देते।

सद्धर्म के प्रति असीम निष्ठाभाव, धर्म के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष की समुचित जानकारी, विपश्यना साधना के प्रति अटूट लगन और जीवन में आयी सहज सात्विकता को देखकर ही पिछले फरवरी महीने में हैदराबाद के शिविरों के दौरान दोनों को सहायक आचार्य की जिम्मेदारी

सौंपी गयी। दोनों अत्यंत विनम्र भाव से इस जिम्मेदारी को भी निभाते हुए धर्म सेवामें लग गए।

गत अप्रैल महीने में कालेज की दस दिन की छुट्टी हुई तो जापान में ही एक शिविर लगाया। जुलाई और अगस्त में पुनः दो महीने की छुट्टी मिली तो एक शिविर मैसाचुसेट्स के विपश्यना केन्द्र में लगाकर इंगलैंड के शिविर में सहयोग देने चले आये।

साधकों के इस बृहत् शिविर का प्रशिक्षण अधिकांशतः इन दोनों ने ही किया। इस शिविर के तुरंत बाद अगस्त महीने के उत्तरार्ध में दस दिन का एक शिविर फ्रांस में लगाया। सभी शिविरों के साधकों के इन नए आचार्यो की भूरि-भूरि प्रशंसा की। दोनों की सहिष्णुता, धैर्य और मैत्रीभाव के कारण सदा खिले हुए हँसमुख चेहरों ने साधकों को अत्यंत प्रभावित किया।

फ्रांस का शिविर पूरा करके अपने-अपने जननी-जनक और धर्म माता-पिता से मिलने फिर ४-५ दिन के लिए अमरीका आये और न्यूयार्क से कोरिया होते हुए जापान के लिए रवाना हुए, जहां कि उन्हें पुनः अध्यापन के काम में लग जाना था। परन्तु इस बीच अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक कुटिलता और नृशंस हिंसा के शिकार हो गए।

इन दो धर्म-प्राणियों की जीवन-आहुति से विश्व के राजनेताओं में सद्बुद्धि जागे। राजनैतिक कुटिलता और हिंसा से न आत्म-शांति उपलब्ध होगी, न विश्व-शांति। न आत्म कल्याण होगा, न विश्व-कल्याण! मैत्री, सरलता और सद्भाव ही शांति का, कल्याण का एकमात्र मार्ग है।

सभी साधक इस आदर्श धर्म-दम्पत्ति के सात्विक जीवन सें प्रेरणा प्राप्त करें! धर्म-पथ पर अग्रसर हों! यही कल्याण कामना है। ●

इतिहास के अमर पृष्ठ

१ / मगध का भाग्य जागा

छब्बीस सौ वर्ष पूर्व के उत्तर भारत में १६ प्रमुख जनपद थे – (१) अंग (२) मगध (३) काशी (४) कोशल (५) व्रिजी (वज्जि) (६) मल्ल (७) चेतीय (८) वंस (वंग) (९) कुरु (१०) पंचाल (११) मत्स्य (१२) सूरशेन (१३) अश्वक (१४) अवन्ती (१५) गंधार और (१६) कंबोज।

इनमें से कुछ एक में गणतंत्र शासन था, बाकी में राजतंत्र।

इनमें से मगध बहुत विशाल और शक्तिशाली जनपद था। वहां के राजवंशीय शासन का शासक था महाराज भाति। उसे अपनी महारानी बिम्बि से एक पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। बिम्बि का पुत्र होने के कारण वह बिम्बिसार के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बिम्बिसार बड़ा महत्त्वाकांक्षी था। किशोर अवस्था में ही उसके मन में राज्याभिषेक की प्रबल कामना जागी। राजा भाति को अपने पुत्र के प्रति बहुत अनुराग था। उसने पन्द्रह वर्ष के किशोर बिम्बिसार का राज्याभिषेक कर दिया। स्वयं निवृत्त हो गया। बिम्बिसार की महत्त्वाकांक्षा बढ़ती गयी। युवावस्था तक पहुँचते-पहुँचते वह शस्त्रविद्या में निष्णात हो गया और साथ-साथ सैन्य- संचालन के रणकौशल्य में भी। उसने अपनी सेना को विविध शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित किया। इस विपुल सैन्यबल और अपने युद्ध-चातुर्य से उसने पड़ोस के अंग जनपद को अपने अधीन कर लिया। अंग और मगध के संयुक्त हो जाने पर बिम्बिसार की शक्ति बढ़ी। सेना बढ़ी। इस विशाल सेना का नायक होने के कारण वह सेनिय याने सेनानी बिम्बिसार कहलाने लगा। उसकी सेना का झंडा श्वेत था। उस श्वेतकेतु सेना का दबदबा बढ़ा और आसपास के जनपदों पर उसकी धाक जमने लगी।

मगध के पश्चिमोत्तर में कोशल भी एक बहुत विशाल और शक्तिशाली जनपद था। उसका शासक था महाराजा महाकोशल, जिसका पुत्र था प्रसेनजित कोशल और पुत्री थी कोशलदेवी। राजकुमार प्रसेनजित का विवाह मगध के राजा भाति की पुत्री याने बिम्बिसार की भगिनी से हुआ। भाति के उत्तराधिकारी सेनिय बिम्बिसार की बढ़ती हुई शक्ति से कोशल-नरेश प्रभावित हुआ। उसने राजकुमारी कोशलदेवी का विवाह युवा मगध नरेश से कर दिया और इस प्रकार उसने अपने संबंध और सुदृढ़ कर लिए। महाराज कोशल ने अपनी पुत्री को काशी का राज्य दहेज में दे दिया। इससे बिम्बिसार की साम्राज्य-शक्ति और बढ़ी। अब वह अंग, मगध और काशी जैसे तीन महाजनपदों का सम्राट हो गया। उसके राज्य-संपद, ऐश्वर्य और सैन्य-शौर्य छलांगे लगाकर बढ़ने लगे और इसके साथ-साथ युवावस्था की कामभोग-लिप्सा भी बढ़ने लगी। अग्रराजमहिषि कोशलदेवी के अतिरिक्त आसपास के राज्यों की देवांगनाओं सदृश राजकुमारियों से और अन्यान्य रूपसियों से उसका रनिवास बढ़ता गया। फिर भी उसकी सौन्दर्य-लिप्सा कम नहीं हुई।

सुदूर मद्र (मद्द) देश की राजधानी सागल (आधुनिक पाकिस्तानी पंजाब में लाहौर के समीप स्यालकोट नगर) की राजकुमारी खेमा सुवर्ण वर्णा थी। सर्वांग सुन्दरी थी। उसकी अनिंद्य रूप-माधुरी की चर्चा सुनी तो बिम्बिसार ने उससे भी विवाह कर लिया और उसे अपने रनिवास में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।

वह जिस किसी जनपद में किसी अपूर्व सुन्दरी की चर्चा सुनता तो, उसे प्राप्त करने के लिए छटपटाने लगता। उन दिनों किन्ही-किन्ही जनपदों में अपने प्रदेश की सर्वश्रेष्ठ सर्वांग सुन्दरी और नृत्य, गीत, वाद्य आदि ललित कलाओं की नितांत निपुणा युवती का चुनाव होता था। जनपद के अनेक राजकुमार, राजपुरुष और शक्तिशाली सामंत इत्यादि उस

सौंदर्य-साम्राज्ञी से विवाह करने के लिए आतुर हो जाते थे। इस डर से कि कही कोई पारस्पारिक कलह न हो उठे, उस युवती को राजसी सम्मान के साथ नगर-शोभिनी मान लिया जाता था। जनपद-कल्याणी के नाम से अलंकृत किया जाता था और अधिकतर यही होता था कि उसे जनपद की प्रमुख गणिका का जीवन जीना पड़ता था। राज्य की ओर से उसके शरीर की कीमत बहुत ऊंची निर्धारित कर दी जाती थी।

ऐसी ही एक सौंदर्य-साम्राज्ञी थी नगरवधू आम्रपाली जो कि वज्जि (लिच्छवी) गणराज्य की जनपद-कल्याणी थी। उसकी चर्चा सुनी तो बिम्बिसार उसे प्राप्त करने के लिए विह्वल हो उठा। वज्जि राज्य से मगध के संबंध बहुत अच्छे नही थे। वैसे भी किसी जनपद-कल्याणी से विवाह-संबंध नही किया जा सकता था। अतः अपनी कामपिपासा बुझाने के लिए वह अपने कुछ सैनिक साथियों के साथ बार-बार भेष बदलकर वज्जि राजधानी वैशाली जाता रहता और आम्रपाली के शरीर-सौंदर्य का उपभोग करता रहता।

इसी प्रकार उज्जैन की जनपद कल्याणी, पद्मावती की ख्याति सुनकर वह वहां भी पहुँचा।

हो सकता है इसी प्रकार अन्य प्रादेशिक सौंदर्य साम्राज्ञियों के पीछे भी वह भौंरे की तरह मँडराता रहा हो। परंतु आम्रपाली और पद्मावती से उसका संबंध जगजाहिर हुआ। क्योंकि दोनों को ही उससे एक-एक पुत्र की प्राप्ति हुई। बिम्बिसार के संयोग से आम्रपाली ने विमलकौंडन्य को और पद्मावती ने अभय को जन्म दिया।

धन-मद और राज-मद ने उसका काम-मद बहुत उभारा। परंतु फिर भी हमें बिम्बिसार में मानवी मूल्य भी दीख पड़ते हैं। इन भाड़े की गणिकाओं से उत्पन्न संतान को उसने सहर्ष स्वीकार किया। उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व से विमुख नही हुआ। गर्भ अवस्था से ही उनके भरण-पोषण

के लिए अपनी ओर से पर्याप्त धन भेजता रहा और फिर उनके लालन-पालन के लिए भी। पद्मावती ने सात वर्ष पश्चात् पुत्र अभय को उसके पिता के पास भेज दिया तो बिम्बिसार ने उसके साथ रंचमात्र भी दुर्व्यवहार नही किया। अन्य राजकुमारों के मुकाबले उससे किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया। राजकुमार अभय को अन्य राजकुमारों की ही भांति राजमहल में पाला गया। बिम्बिसार के मन में राजकुमार अभय के प्रति वैसा ही स्नेह और वात्सल्य था, जैसा कि अन्य पुत्रों के प्रति। आगे जाकर एक बार तो उसे सात दिनों के लिए मगध देश की राजगद्दी पर भी बिठाया।

बिम्बिसार की और भी राजमहिषियां थी ही। अतः यह विश्वास किया जा सकता है कि उसके और भी अन्य संतानें रही होंगी। परंतु विपश्यना के पुरातन इतिहास का अनुसंधान करते हुए जो अन्य नाम हमारे सामने आते हैं, वे हैं राजकुमार अजातशत्रु, राजकुमार शीलव, राजकुमार चुंद और राजकुमारी चुंदी।

स्पष्ट है बिम्बिसार को अपना परिवार बहुत प्रिय था, राजमहिषियां भी, राजपुत्र भी, राजपुत्रियां भी। पन्द्रह वर्ष की किशोर अवस्था में राज्याभिषेक हो जाने पर, सोलह वर्ष तक मगध साम्राज्य का शासन करते हुए ३१ वर्षीय बिम्बिसार का भगवान गौतम बुद्ध से राजगृह के लट्ठिवन में पहली बार साक्षात्कार हुआ। (वैसे बोधिसत्त्व परिव्राजक सिद्धार्थ गौतम से छः वर्ष पूर्व पांडव पर्वत पर मिल चुका था।) पहले पहल भगवान गौतम बुद्ध का उपदेश सुनकर बिम्बिसार अन्तर्मुखी हुआ और उसने सत्य-दर्शन किया, जिससे कि वह स्रोतापन्न बना तो कृतज्ञता-विभोर हो उठा। विपश्यना द्वारा अपने भीतर सत्य का थोड़ा सा भी अनुभव होने पर साधक कृतज्ञता-विभोर हो जाता है। यह तो स्रोतापन्न अवस्था थी, कृतज्ञता का क्या कहना ?

उसकी जीवनधारा ही बदल गयी। काम-कीट की तरह रति-रस में

निमग्न रहनेवाला व्यक्ति धर्म-रस चखकर निहाल हो गया। जान गया अपने अनुभव से कि **'धम्म रसं सब्ब रसं जिनाति'**। सचमुच सारे रसों से बढ़कर होता है धर्म का रस। ऐसा धर्म-रस सब चखें! और उसी समय उसे अपना राजपरिवार स्मरण हो आया। अपनी प्यारी पत्नियों, पुत्रों और पुत्रियों को भी ऐसा धर्मलाभ मिले, इसी कुशल कामना से उसने भगवान के साथ सभी भिक्षुओं को दूसरे दिन सुबह भोजन के लिए आमंत्रित किया। भगवान ने मौन रहकर स्वीकृति दी। दूसरे दिन भिक्षु संघ सहित भगवान भिक्षा के लिए राजमहल पधारे। बिम्बिसार ने अत्यंत सम्मानपूर्वक उन्हें भोजन करवाया। तत्पश्चात् भगवान को ऊंचे आसन पर बैठाकर परिवार सहित स्वयं नीचे आसन पर बैठकर भगवान का कल्याणकारी धर्मोपदेश सुना। कानों में शुद्ध धर्म का अमृत रस बहा। वहीं बैठे-बैठे उसे अपनी प्रजा का भी ध्यान आया। मेरी सारी प्रजा भी तो मेरी संतान ही है। सब को यह विशुद्ध मुक्ति का मार्ग मिले। यह तभी संभव है जब कि भगवान लंबे समय तक राजगृह में ही विहार करें और भविष्य में भी समय-समय पर यहां पधारते रहें।

राजनगरी राजगृह के कल्याण के लिए कोई ऐसा उचित स्थान हो जहां भिक्षु साधक संघ सहित भगवान रह सकें और शुद्ध धर्म के मार्ग पर चलने के लिए नागरिकों का और जनपदवासियों का मार्ग-निर्देशन कर सकें। यह स्थान राजनगरी के कोलाहल से दूर हो, क्योंकि ध्यान तो शांत स्थान पर ही किया जा सकता है। परंतु राजनगर से इतना दूर भी न हो कि लोग सुविधापूर्वक जा ही न सकें। एकाएक उसे अपना वेणुवन याद आया। यह स्थान इस काम के लिए सर्वथा उपयुक्त था। अत्यंत विनीत भाव से उसने हाथ जोड़कर भगवान से अपने मन की बात कही और वेणुवन के दान की धर्मकामना प्रगट की। भगवान ने मौन रहकर स्वीकृति दी। बिम्बिसार फिर कृतज्ञता-विभोर हुआ। **' सब्ब दानं धम्म दानं जिनाति '**। धर्म का दान सभी दानों से श्रेष्ठ है। भगवान ने राजगृह का वेणुवन, साधक संघ के लिए

स्वीकार कर लिया। मगध-नरेश धन्य हुआ।—"यहां अनेक लोग शुद्ध धर्म से लाभान्वित होंगे। भव-विमुक्ति के मार्ग पर आरूढ़ हो सकने की विपश्यना-विधि सीख पाएंगे। मेरा परिवार धन्य होगा। मेरी प्रजा धन्य होगी।"

और सचमुच ऐसा ही हुआ। वेणुवन के कलंदप निवास में साधक संघ का पहला विहार बना। मगध का भाग्य जागा। राजपरिवार के और राजनगर तथा मगध राष्ट्र तथा उसके बाहर के भी अनेक लोग शुद्ध धर्म के संपर्क में आये और कल्याण-लाभी हुए।

आज भारत में भी पुनः शुद्ध धर्म जागा है। अनेक लोग इसके सम्पर्क में आएं और कल्याण लाभी बनें! ●

२/शाक्य-राजवंश और शाक्यसंवत्

कल्प के आरंभ में जब मनुष्य जाति एक समूह में रहने लगी तो पारस्परिक संबंधो में उत्पन्न होने वाली जटिलताओं और कठिनाइयों को दूर करने के लिए तथा सामाजिक संबंधों को व्यवस्थित करने के लिए लोगों को एक शासक की आवश्यकता महसूस हुई। अतः सब ने मिलकर एक योग्य व्यक्ति का चुनाव किया, जो उन पर शासन कर सके। क्योंकि वह सर्व सम्मति से चुना गया था, अतः महासम्मत कहलाया। पृथ्वीपर वह पहला शासक हुआ।

इसी महासम्मत के वंश में एकं महाप्रतापी राजा हुआ— ओक्काक (ईक्ष्वांकु)। वह सूर्य के समान तेजस्वी होने का कारण, उसके वंशज सूर्यवंशी भी कहलाये।

महाराज ओक्काक को रानी भक्ता से नौ संतानें हुईं – पांच पुत्रियां और चार पुत्र। महारानी भक्ता की मृत्यु हो जानेपर राजा ने एक नवोढ़ा युवती से विवाह कर उसे अग्रराजमहिषी का पद दिया, जिसने अपने पुत्र के लिए राज्य के उत्तराधिकार की मांग की। काम-मोह में डूबे हुए राजा ने उसकी मांग स्वीकार कर ली। पर फिर उसे पश्चात्ताप हुआ। उसने अपनी पूर्व पत्नी की संतान को राज्य की सीमा के बाहर कही सुरक्षित जगह जाकर निवास करने का आदेश दिया और समझाया कि उसकी मृत्यु पर वह राज्य को अपने अधिकार में ले ले। बड़ी रानी के पुत्र-पुत्रियों ने देश-निकाले को सहर्ष स्वीकार किया। परंतु पिता की मृत्यु पर अपने सौतेले भाई का राज्य छीन कर उस पर अपना अधिकार जमाने की बात उन्हें अच्छी नही लगी। उन्होंनें अपने पराक्रम और बाहुबल से अलग राज्य बसाने का संकल्प किया। वे हिमवंत प्रदेश में जाकर बोधिसत्त्व कपिलमुनि के आश्रम में रहने लगे। वही उन्होंने कपिलवस्तु राजधानी की स्थापना की। वे नया राज्य स्थापित करने में सफल हुए। इस सराहनीय शक्यता के कारण, वे शाक्य

कहलाये। चार बहनों और चार भाईयों ने परस्पर विवाह कर लिया जो कि रक्तशुद्धि के नाम पर उन दिनों प्रचलित था। प्रिया नाम की सब से बड़ी बहन ने वाराणसी के तत्कालीन राजा राम से विवाह किया। उन्होंने कपिलवस्तु के समीप ही कोलीय राज्य की स्थापना की, जिसकी राजधानी देवदह बनी। दोनो राजकुलों को अपनी रक्त शुद्धता का बड़ा अभिमान था। अतः किसी अन्य कुल में विवाह कर के रक्त-मिश्रण के दोष से बचने के लिये पीढ़ियों तक कोलीय और शाक्य परस्पर आवाह-विवाह करते रहे। यह क्रम सदियों तक चलता रहा। वैसे भी उन दिनों ममेरे और फूफेरे भाई-बहनों का परस्पर विवाह प्रचलित था, जैसे कि दक्षिण भारत में आज भी है।

जयसेन शाक्य वंश का एक बहुत प्रतापी राजा हुआ। उसका एक पुत्र था सिंहहनु और एक कन्या थी यशोधरा। उसी समय कोलियों का राजा था देवदह शाक्य, जिसका पुत्र था अंजन और पुत्री थी कात्यायिनी। देवदह के पुत्र अंजन का विवाह जयसेन की पुत्री यशोधरा से हुआ। जयसेन के पुत्र सिंहहनु का विवाह देवदह की पुत्री कात्यायिनी से हुआ। अंजन और सिंहहनु दोनों ही जयसेन की तरह बड़े प्रतापी थे। उन दोनों का राजपुरोहित ब्राह्मण असित कालदेवल था, जो कि ज्योतिष और शरीर-लक्षण-शास्त्र का पंडित तो था ही, साथ ही साथ आठों ध्यान समाधियों में भी पारंगत था और अनेक प्रकार की ऋद्धियों का धनी था।

उस समय एक बहुत पुराना शाक्य संवत् चल रहा था, जिसके आठ हजार छह सौ सैंतालीस वर्ष पूरे होने पर कोलिय महाराज अंजन ने राजपुरोहित ऋषि असित कालदेवल के परामर्श पर रुकवा दिया और एक अच्छे मुहूर्त पर नया महाशाक्य-संवत् चलवाया, जो कि कही-कही अंजन-संवत् के नाम से भी पुकारा जाता रहा। इस संवत् के दसवें वर्ष आषाढ़ पूर्णिमा, शनिवार को महाराज सिंहहनु की महारानी कात्यायिनी ने शुद्धोदन को जन्म दिया। इसके पंश्चात् उसने चार पुत्र धोतोदन, शक्कोदन, शुक्कोदन, और अमितोदन तथा दो पुत्रियां अमिता और पमिता को जन्म दिया।

नये महाशाक्य संवत् के बारहवें वर्ष में कोलीय राजा अंजन की रानी यशोधरा ने महामाया नाम की पुत्री को जन्म दिया, और उसके बाद प्रजावती नाम की एक और पुत्री तथा दंडपाणी और सुप्पबुद्ध नाम के दो पुत्रों को। शुद्धोदन का विवाह कोलीयधीता महामाया और उसकी छोटी बहन प्रजावती से हुआ और सुप्पबुद्ध का विवाह शाक्यधीता अमिता से हुआ। महारानी महामाया ने वृहस्पतिवार आषाढ़ पूर्णिमा, शाक्य-संवत् ६७ को गर्भधारण किया और शुक्रवार वैशाख-पूर्णिमा, शाक्य संवत् ६८ को सिद्धार्थ गौतम को जन्म दिया। पुत्र जन्म के सातवें दिन जब महामाया का देहांत हुआ तो गर्भवती प्रजावती ने नंद नामक पुत्र को जन्म दिया, जिसे उसने धाय को सौंपकर, सिद्धार्थ को अपना दूध पिलाकर पालने का उत्तरदायित्व लिया। दो वर्ष पश्चात् प्रजावती गौतमी को नंदा नाम की एक कन्या भी हुई।

कोलीय सुप्पबुद्ध को अमिता से यशोधरा नामक पुत्री और देवदत्त नामक पुत्र हुआ। शाक्य संवत् ८४ में सिद्धार्थ और यशोधरा का विवाह हुआ। शाक्य संवत् ९७ आषाढ़ी पूर्णिमा, सोमवार के दिन सिद्धार्थ ने गृह-त्याग किया। शाक्य संवत् १०३ की वैशाख-पूर्णिमा, बुधवार के दिन उन्हें सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई। शाक्य संवत् १४८ की वैशाख-पूर्णिमा, मंगलवार के दिन उनका महापरिनिर्वाण हुआ और पांच दिन बाद रविवार को उनका दाह-संस्कार हुआ और इसके २५ दिन बाद बृहस्पतिवार, ज्येष्ठ कृष्ण प्रथमी को धातु-वितरण का कार्य सम्पन्न हुआ।

सारे शाक्य-वंश पर बुद्ध का व्यक्तित्व छा गया था और लोकगुरु होने के कारण सारे विश्व पर उनका प्रभाव फैल गया था। अतः एक सौ अड़तालीस वर्ष के पश्चात् शाक्य-संवत् स्वतः समाप्त हो गया और उसकी जगह **बुद्ध-संवत्** चल पड़ा, जिसका कि अब **२५३३ वां** वर्ष चल रहा है। ●

३ / धन्य हुई वैशाख पूर्णिमा!

- वर्ष .... महाशाक्य-राजसंवत्, ६८
- ऋतु .... ग्रीष्म
- मास .... वैशाख
- दिवस .... शुक्रवार
- तिथि .... पूर्णिमा
- नक्षत्र .... विशाखा
- समय .... उषाकाल ब्रह्म मुहूर्त

ग्रीष्म के ताप से उत्तप्त हुई धरती को सारी रात शुद्ध शीतल शर्वरी (ज्योत्स्ना) से नहलाकर पूर्णिमा का चांद अब विश्राम के लिये पश्चिमी क्षितिज की ओर बढ़ रहा है। पूर्वी क्षितिज पर बाल रवि के शुभागमन का संदेश लिए हुए, ऊषाकुमारी गगनांगन में प्रकाशकण बखेर रही है और संसार को दैनंदिन जीवनदान दे रही है।

● **स्थान :** द्वीपों में श्रेष्ठ जंबूद्वीप के बीचोबीच स्थित मज्झिम देश का मध्य-उत्तरी भाग; उत्तुंग हिमगिरि के चरणांचल में बसा शाक्य प्रदेश। एक ओर शाक्य राजवंश की राजधानी कपिलवस्तु और दूसरी ओर शाक्यों की ही एक शाखा कोलिय राजवंश की राजधानी देवदह। दोनों के बीच सुषुमाश्री संपन्न लुंबिनी शालवन, जो कि दोनों राज्यों के नागरिकों के आमोद प्रमोद के लिये आरक्षित-सुरक्षित है।

● **अवसर :** कपिलवस्तु के शाक्य गणराज्य के महासम्मत महाराज शुद्धोधन की अग्र राजमहिषि देवी महामाया दस महीने का गर्भ धारण किये हुए प्रसवहेतु पतिगृह से पितृगृह देवदह के लिये यात्रा कर रही है। साथ अनेक सैनिक संरक्षक हैं और राजसी दास-दासियां। स्वर्ण-पालकी में बैठी

राजरानी का ध्यान सुरम्य वनश्री के चित्तरंजन ऐश्वर्य की ओर आकर्षित होता है। लुंबिनी के शालवृक्षों की डालियां, रंगबिरंगे सुंदर फूलों से लदी हुई है। इन फूलों के मधुर गंधपराग से समस्त वायुमंडल सुरभित है। भौरों के झुंड के झुंड चारों और गुंजार कर रहें हैं। नाना रंग- रूप वाले खगकुल अपने मधुर कूजन-कलरव और चहचहाट भरे वाद्यवृंद से वातावरण को मुखरित कर रहे हैं। तरुशाखाओं को शिखरपताकाओं की तरह प्रकंपित करनेवाला लुभावना समीर यात्रिओं को आमंत्रित कर रहा है।

महारानी महामाया की इच्छा हुई कि कुछ देर इस नंदनवन सदृश लुंबिनी वनस्थली की सैर करे। पालकी रुकवाकर वह उतरी और निसर्ग के वैभव का आनंद लेने के लिए वन-वीथि पर टहलने लगी। जैसे तेल से लबालब भरे हुए प्याले को हथेली पर रखकर कोई बहुत सजग होकर चले जिससे कि तेल की एक बूंद भी छलक न पावे ऐसे ही अपने गर्भ में स्थित दिव्य बालक का ध्यान रखते हुए, वह धीमे कदमों से टहलने लगी। समीप के एक शाल-वृक्ष पर नज़र पड़ी और उसकी झूमती हुई पुष्प-पल्लवित डाल के आह्वान - संकेत ने महारानी को आकर्षित, आमंत्रित किया। वह उस शाल वृक्ष के नीचे गयी। डाल पकड़ने के लिए पंजों के बल जरा ऊंची हुई तो हवा के झोंके से वह डाल स्वतः झुक आयी। महामाया ने उसे अपने दाहिने हाथ से पकड़ा और कुछ क्षण प्रकृति के निश्छल, निर्मल सौंदर्य को देखती रह गयी। पश्चिम में चांद डूबता जा रहा था। पूरब में बाल रवि अपनी अरुण किरणें बिखराता हुआ उदय हो रहा था।

इसी समय पके हुए गर्भ का उत्थान हुआ। साथ आयी परिचारिकाओं ने सहारा दिया। कुछ सेवकों ने वहीं कनात तान दी और दूर हट गये। कुछ क्षणों के लिए मुखर प्रकृति निःशब्द हो गई। चंचल निसर्ग अचल, अडोल हो गया। सारे वातावरण में मौन उत्सुकता छा गयी। किसी अत्यंत महत्वपूर्ण घटना घटने की संभावना से सारे दृश्य-अदृश्य प्राणी स्तब्ध सजग हो गये।

और सचमुच उस समय एक ऐसी महत्वपूर्ण घटना घटी, जो सदियों में

कभी-कभार ही घट पाती है। माता महामाया ने वही खड़े-खड़े प्रसव किया। बुद्धांकुर महासत्त्व माता के उदर से खड़े-खड़े ही जन्मा । नवजात शिशु के पांव धरती पर लगे। और . . .

धरती धन्य हुई, पावन हुई : समस्त पृथ्वी हर्षविभोर होकर प्रकंपित हो उठी। सारा चक्रवाल (सौरमंडल) पुलक-रोमांच से प्रकंपित हो उठा और इस चक्रवाल के समीपवर्ती दस सहस्त्र चक्रवाल प्रसन्नता की तरंगों से तरंगित हो गये। निरभ्र आकाश में गड़गड़ाहट हुई मानो देव, दुंदुभी बजी। प्रमुदित पेड़ों के प्रफुल्लित सुमन बोधिसत्व के सम्मान सत्कार के लिए बिखर-बिखर कर धरती को आल्हादित करने लगे। सारी प्रकृति देव-पुष्पों की दिव्य पराग-सुरभि से गमक उठी।

बोधिसत्व ने किसी राजमहल के बंद कक्ष में जन्म नही लिया। समस्त प्रकृतिके सारे रहस्यों का अनुसंधान और उद्घाटन करने वाला यह सत्यान्वेषी महामानव खुली प्रकृति में, खुले आकाश के नीचे, रुक्खमूल के समीप, वनप्रदेश की खुली धरती पर जन्मा। सचमुच धरती धन्य हुई। परम पावन हुई। जन-जन द्वारा पूज्य हुई।

लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् भारत-सम्राट देवानाम् प्रिय प्रियदर्शी धर्मराज अशोक ने इस धरती के पूजन के लिए धर्मयात्रा की और इस स्थल पर एक राजसी धर्मस्तंभ की स्थापना की। आज तक कृतज्ञता-विभोर मानव-समाज इस धरती का दर्शन करके, इसे शीष नवाकर, यहां की पावन धर्मतरंगों से लाभान्वित होता रहा है। भविष्य में भी सदियों तक ऐसाही होता रहेगा। और.....

माता महामाया धन्य हुई : उसकी पुरातन धर्म कामना फलीभूत हुई। इक्यानवे कल्पपूर्व भगवान विपश्यी सम्यक् सम्बुद्ध के समय वह राजा बंधुमा की ज्येष्ठ राजकुमारी थी। पिता के साथ भगवान सम्यक् सम्बुद्ध के दर्शन करने और उनके धर्मप्रवचन सुनने गयी। भगवान के आकर्षक

व्यक्तित्व को देख कर और उनका कल्याणकारी धर्मोपदेश सुनकर अत्यंत भाव-विभोर हो उठी। ओह! धन्य है वह माता! जिसने ऐसा सपूत जन्मा, जो कि अत्यंत करुण चित्त से असंख्य दुखियारे प्राणियों को भवबंधन से नितांत विनुक्त हो सकने का मंगल-मार्ग दिखा रहा है। मैं भी ऐसी ही भाग्यशालिनी बनूं। ऐसे ही सुवर्णवर्ण तेजस्वी बोधिसत्व को गर्भ में धारण कर बुद्धमाता होने का सौभाग्य प्राप्त करूं। परंतु बोधिसत्व के अंतिम जीवन में उसे जन्म देनेवाली जननी बनने के लिए अनेक कल्पों तक पुण्य-पारमिताओं को पूर्ण करना होता है। अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं। मैं इन सबके लिए प्रस्तुत हूं। सम्यक् सम्बुद्ध भगवान विपश्यी ने उसका ऐसा दृढ़ संकल्प देखा तो मुस्कुराकर उसे आशिर्वाद दिया। तब से इक्यानवे कल्पों तक अनगनित जन्मों में अपनी पारमिताओं को पूरा करने के पुनीत पथ पर चल पड़ी। एक-एक भव, एक-एक भव में पारमिताओं का संग्रह करते हुए, अंततः यह योग्यता प्राप्त की कि जब तुषित लोक में जन्मे हुए, संतुषित श्वेतकेतु नामक देवपुत्र बोधिसत्व ने अपने लिए अंतिम जन्म देने वाली माता का चुनाव किया तो, इस ५५ वर्ष ४ महीने की मज्झिम वय वाली महारानी महामाया को ही इस योग्य पाया।

कोलिय महाराज अंजन की ज्येष्ठ पुत्री महामाया कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोदन से ब्याही गयी। पीहर और ससुराल के सारे राजसी वैभव में जन्मी, पली और इसी माहौल में अपने जीवन के ५६ बसंत बिताए। परन्तु सदैव सहज भाव से अखंड रूप से पांचों शीलों का पालन करती रही। न तो अन्य सामान्य राजपुत्रियों और राजमहिषियों की तरह कामक्रीड़ा में रत रहती थी, न मद्यप थी, न वाचाल थी, और न ही अशांत, उद्विग्न थी। ऐसी साध्वी स्वभाव की माता ही बोधिसत्व के अंतिम जन्म की जननी बनने योग्य थी।

बोधिसत्व को जन्म देने वाली मनोरथपूर्णा माता महामाया पुत्र-जन्म के तुरंत बाद पतिगृह लौट आयी और एक सप्ताह पश्चात् ही उसकी

शरीर-च्युति हो गयी। उसने तुषित लोक में माया नाम के देवपुत्र के रूप में जन्म लिया।

कालांतर में सिद्धार्थ गौतम सम्यक् सम्बुद्ध बने। उन्हें अपने इस अंतिम जन्म की माता का ध्यान आया। उन्होंने देवलोक में जाकर अभिधम्म की देशना दी और अनेक देवों के साथ अपनी जन्मदायिनी माता का उपकार किया। उसे विमुक्ति-पथ पर स्थापित किया। महामाया बोधिसत्व को जन्म देकर सचमुच धन्य ही हुई। और.....

स्वयं बोधिसत्व भी धन्य हुआ : उसकी लंबी भवयात्रा पूर्ण होने का समय आया। बोधिसत्व ने सभी पारमिताएं परिपूर्ण की, परिपुष्ट की और अब स्वयं सम्यक् सम्बुद्ध बन सकने योग्य अंतिम जीवन प्राप्त किया।

बोधिसत्त्व की कितनी लंबी भव यात्रा! चार असंख्येय (एक असंख्येय माने एक के आगे एक सो चालीस बिंदी लगे) और एक लाख कल्प पूर्व यही सत्व (प्राणी) सुमेध नाम से किसी समृद्ध ब्राह्मण-गृहस्थ के घर में जन्मा था। कामभोग के प्रति विरक्ति जागने के कारण वह घर त्याग कर संन्यासी बना और ध्यान भावना में लग गया। समय पाकर आठों ध्यानों में पारंगत हुआ। पर मुक्त अवस्था प्राप्त नही हुई। ऐसी हालत में अपने किसी पूर्व पुण्य-कर्म के कारण सम्यक् सम्बुद्ध भगवान दीपंकर के संपर्क में आया। उसी समय वह इस योग्य था कि उनसे विपश्यना साधना सीखकर नितांत भव-विमुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेता। परंतु उसने देखा कि वे भगवान महाकारुणिक किस प्रकार अनेक प्राणियों के हितसुख में लगे हैं। यह देखकर उसके मन में यह धर्म-संवेग जागा– केवल अपनी ही मुक्ति के लिए परिश्रम करना उचित नही, इस भव-संसार में अनगनित प्राणी दुख-चक्र में पिसे जा रहे हैं। क्यों न मैं भी ऐसी ही सर्वज्ञता प्राप्त करूं, जिससे कि इन सबकी मुक्ति में सहायक बन सकूं। क्यों न मैं इन्ही भगवान दीपंकर की भांति सम्यक् संबुद्ध बनूं। भले इसके लिए मुझे अथक परिश्रम करना पड़े। ऐसी योग्यता प्राप्त

करने में भले कल्पों लग जायँ। भव-भ्रमण के यह सारे कष्ट सहन करने के लिए मैं सहर्ष प्रस्तुत हूं। त्रिकालज्ञ भगवान दीपंकर ने जब तापस सुमेध के मन की ऐसी तीव्र धर्मकामना देखी तो, उसे आशिर्वाद दिया और भविष्य वाणी की—

पस्सथ इमं तापसं, जटिलं उग्ग तापनं।
अपरिमेय्यो इतो कप्पे, बुद्धो लोके भविस्सति॥

— 'देखो, उग्र तपस्या करने वाले इस जटाधारी तापस को देखो! इस कल्प के पश्चात् अपरिमित कल्पों के बीतने पर यह व्यक्ति इस लोक में बुद्ध बनेगा।'

सम्यक् सम्बुद्ध की यह भविष्य-वाणी तापस सुमेध के लिए बोधि-बीज बनी और इस बीज को धारण कर यह सत्व (प्राणी) बोधिसत्व बना। उसी समय चारों ओर से प्रेरणा के यह दिव्य शब्द गूंजे -

दळ्हं पग्गण्ह विरियं, मा निवत्त अभिक्कम।
मयम्पेतं विजानाम, धुवं बुद्धो भविस्ससि॥

— 'दृढ़ पराक्रम में लग जाओ। आगे बढ़ते ही रहो। पीछे कदम न हटाओ! हम जानते हैं कि तुम निश्चय ही बुद्ध बनोगे।'

इसे सुनकर तपस्वी सुमेध के मन में अतुलनीय धर्म-उत्साह जागा और इन मंगल आशीर्वचनों का संबल लिये हुए वह दृढ़ पराक्रम में लग गया।

और कल्प दर कल्प, भव-भ्रमण करता हुआ, हर भव में कोई न कोई पारमी पुष्ट करता हुआ, हर भव में जो अनेकानेक प्राणी संपर्क में आये, उन्हें शुद्ध धर्म की देशना देता हुआ, उनके हृदय में धर्म का बीज बोता हुआ और स्वयं धर्म का आदर्श जीवन जी कर उन सब के लिये प्रेरणा स्रोत बनता हुआ, सारी पारमिताएं परिपूर्ण कर चुकने पर, अब उसने यह अवस्था प्राप्त कर ली जो कि इसी जीवन में उसे सम्यक् सम्बुद्ध बना देगी। जो इतनी बड़ी

मात्रा में इन दस पारमिताओं का संग्राहक धनी है, जो सम्यक् सम्बुद्ध बनने की परिपक्व अवस्था में पहुँच चुका है, सचमुच उस समय उसके समान अन्य कौन होता? किसी के उससे बढ़कर होने की तो बात ही क्या? इसीलिए स्मृति संप्रज्ञान के साथ माता महामाया के गर्भ में प्रवेश करने के समय से, दस महीनों तक स्मृति-संप्रज्ञान में ही रहता हुआ, अब स्मृति संप्रज्ञान के साथ ही धरती पर पांव रखता है तो अपने संग्रहीत अपरिमित धर्म-बल से इन दस सहस्र चक्रवालों को देखता हुआ यह उद्घोषणा करता है—

अग्गोहमस्मि लोकस्स .... लोक में मैं अग्र हूं।
जेट्ठोहमस्मि लोकस्स .... लोक में मैं ज्येष्ठ हूं।
सेट्ठोहमस्मि लोकस्स .... लोक में मैं श्रेष्ठ हूं।
अयमन्तिमा जाति .... यह मेरा अन्तिम जन्म है।
नत्थि दानि पुनब्भवो : अब एक बार भी पुनर्जन्म नही होगा।

जन्मते ही बोधिसत्व की यह मंगल-घोषणा सचमुच कितनी सत्य थी! सचमुच यह उसका अंतिम जन्म ही साबित हुआ! इस प्रकार बोधिसत्व भी धन्य हुआ! और.....

धन्य हो उठे सारे लोक परलोक! क्यों कि पृथ्वी पर एक ऐसे सत्व ने जन्म लिया, जो कि बुद्धत्व प्राप्त कर ऐसा धर्मचक्र प्रवर्तन करेगा, जिससे कि धर्म के नाम पर भिन्न-भिन्न तीर्थो में, संप्रदायों में, मत-मतांतरो में उलझे हुए लोग, भिन्न-भिन्न निकम्मी निरर्थक दार्शनिक मान्यताओं में भरमाए लोग, भिन्न-भिन्न कर्मकांडों और अतिधावन में भटकते हुए लोग, शुद्ध, सार्वजनीन, सांदृष्टिक, आशुफलदायी और वैज्ञानिक धर्म पाएंगें और भवचक्र से विमुक्त होंगें।

चारों ओर प्रसन्नता का माहौल था। उदासी केवल देवपुत्र मृत्युराज मार के मुख पर छायी हुई थी। अब उसके बाड़े में विचरने वाले प्राणियों का

बाड़ा-बंधन टूटेगा, अनेक लोगों पर उसकी सत्ता का प्रभाव कमजोर पड़ेगा। अनेक लोग मृत्यु के चंगुल से मुक्त होंगें।

भले मार दुखी हो, परंतु अनेकों का कल्याण होगा! मंगल होगा! स्वस्तिमुक्ति होगी! और हुआ ही!

इस प्रकार बोधिसत्व को अंतिम जन्म देनेवाली महाशाक्यराज संवत् ६८ की यह वैशाख पूर्णिमा अनेकों के लिये धन्यता का कारण बनी। और स्वयं भी धन्य-धन्य ही हुई।

यह हमारे लिए भी कल्याण का कारण बने। हम भी इससे प्रेरणा पाएं और अपना मंगल साध लें। ●

४ / बुद्ध जयन्ती

वैशाख पूर्णिमा। भगवान गौतम बुद्ध की त्रिविध जयन्ती का पावन दिवस। जन्म जयन्ती, बोधि जयन्ती, परिनिर्वाण जयन्ती। जयन्ती माने विजय। विजय वस्तुतः बोधि की ही है। बोधि जयन्ती में ही जन्म जयन्ती और परिनिर्वाण जयन्ती का मूल समाया हुआ है।

सम्यक् संबोधि जागी तो ही मार पर विजय प्राप्त हुई। पाप पर, अधर्म पर, समस्त बंधनों पर विजय प्राप्त हुई। ऐसी विजय जिसने जन्म-मृत्यु की जयन्तियों को सफल सार्थक बना दिया। सम्यक् संबोधि के कारण ही जन्म अंतिम जन्म बन गया, मृत्यु अंतिम मृत्यु बन गयी। **अयं अन्तिमा जाति नत्थिदानि पुनब्भवोति**। यह अंतिम जन्म है। अब पुनर्जन्म नही होगा। पुनर्जन्म नही होगा तो पुनर्मृत्यु भी नही होगी। जन्म और मृत्यु दोनों पर सहज ही विजय प्राप्त हो गयी।

इस महापुरुष की यह महान विजय अन्य अनेकों की विजय का कारण बन गयी। अनेकों के मंगल-कल्याण और स्वस्ति-मुक्ति का साधन बन गयी। अनेक कष्टों से गुजरते हुए इस महामानव ने भारत की खोई हुई मुक्तिदायिनी धर्मगंगा पुनः खोज निकाली। उससे केवल अपनी ही मुक्ति नही साधी, बल्कि अनेकों के लिए मुक्ति सुलभ कर दी। अत्यंत करुणा-विगलित हृदय से जीवन भर जन-जन को यह विद्या बांटते रहे। जन-जन के लिए अमृत का द्वार खोलते रहे। इस प्रकार लगभग पच्चीस सौ वर्ष पूर्व जो धर्मगंगा फूट पड़ी, वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी कोटि-कोटि लोगों का कल्याण करती हुई, कहीं-न-कही परम परिशुद्ध रूप में प्रवाहमान बनी ही रही। समय पाकर कही विलुप्त भी हुई, कही नासमझ लोगों द्वारा सम्मिश्रण के दोष से दूषित होकर विकृत भी हुई, परंतु एक क्षीण धारा इतनी सदियों तक भी अपने शुद्ध रूप में कायम रही। कायम रही तो ही हमें प्राप्त हुई। हमारे कल्याण-मंगल का, स्वस्ति-मुक्ति का कारण बनी।

विपश्यी साधक इस शुद्ध धर्मगंगा में अवगाहित होकर धन्य हो उठता है तो स्वभावतः उस महापुरुष के प्रति असीम श्रद्धा और कृतज्ञता के भाव से भर उठता है। श्रद्धा और कृतज्ञता धर्म के अविभाज्य अंग हैं। श्रद्धा बोधि का अंग है। श्रद्धा बीज है, जिसकी वजह से ही बोधि जागती है, धर्म फल देता है। कृतज्ञता प्राणदायिनी संजीवनी है, जिसके कारण धर्म बलशाली होता है। श्रद्धा और कृतज्ञता न हो तो धर्म का बिरवा मुरझा जाय। श्रद्धा और कृतज्ञता का पनपना धर्म का ही पनपना है। पर समझदार साधक सजग रहता है, अपना विवेक नही खोता। श्रद्धा को अंधश्रद्धा नही बनने देता। कृतज्ञता को अंधकृतज्ञता नही बनने देता। तो ही धर्म पनपता है। धर्म बलदायी होता है, फलदायी होता है।

अन्यथा जैसे ही श्रद्धा अंधश्रद्धा बन जाती है, कृतज्ञता अंधकृतज्ञता बन जाती है; धर्म क्षीण होने लगता है, संप्रदाय बलवान बनने लगता है। संप्रदाय बलवान बनता है तो भोला मानव धर्म को भी संप्रदाय के रंगीन चश्मे से ही देखता है। धर्म का यथाभूत शुद्ध स्वरूप देख ही नही पाता। संप्रदाय बलवान बन जाता है, तो बिना ही प्रत्यक्षानुभूति के कोई न कोई दार्शनिक मान्यता भूत की तरह सिर पर सवार कर लेता है। धर्म को उस मान्यता के रंगीन चश्मे से ही देखता है। धर्म का यथाभूत शुद्ध स्वरूप देख ही नही पाता। संप्रदाय बलवान हो जाता है तो निर्जीव कर्मकांड प्रधान हो जाते हैं, थोथी रूढ़ियां प्रधान हो जाती हैं। धर्म धारण करना गौण हो ही जाता है।

इसीलिए साधको! आओ, आज के इस पावन दिवस पर एक ओर श्रद्धा और कृतज्ञता को बलवान बनाएं, जिससे कि धर्म हरा भरा बना रहे; दूसरी ओर विवेक जगाए रखें। श्रद्धा और कृतज्ञता को अंधी न बनने दें, जिससे कि धर्म सांप्रदायिकता के दलदल में फँसकर डूब न जाय। श्रद्धा और कृतज्ञता को निर्मल बनाए रखें, जिससे बोधि पुष्ट हो, अज्ञान क्षीण हो; विद्या का प्रकाश प्रज्वलित हो, अविद्या का अंधकार क्षीण हो। इसी में हमारा सच्चा मंगल, सच्चा कल्याण, सच्ची स्वस्ति-मुक्ति समायी हुई है। ●

'मण्डल' द्वारा प्रकाशित

धर्म–अध्यात्म साहित्य

□

- विनय-पत्रिका
- अनासक्ति योग
- गीता-बोध
- भगवद्गीता
- भजगोविन्दम स्त्रोत्र
- उपनिषदों का बोध
- उपनिषद
- वेदान्त
- नीति की बातें
- सच्चे इंसान बनो
- आत्म चिंतन
- अमृत की बूदें
- बुद्ध वाणी
- भगवान हमारा मित्र
- बुद्ध : जीवन और दर्शन
- आत्म-दर्शन
- धारण करें तो धर्म
- बोधि वृक्ष की छाया में
- बुद्ध और बौद्ध साधक
- निर्मल धारा धर्म की
- जागे मंगल प्रेरणा

□□

सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन